मन के वन में

मन के वन में

(मौलिक उपन्यास)

हिमांशु श्रीवास्तव



किताबघर
गाँधीनगर, दिल्ली 110031

१

बरामदे पर जाड़ों की मीठी और प्यारी धूप बिछ चुकी थी। अभी-अभी एक विभाग का प्रोग्राम सेक्रेटरी मेरे पास आया था। वह परदा हटाकर मेरे शानदार कमरे से बाहर जाने लगा, तो मैंने देखा कि धूप खूब फैल आई है। जी ललचा, चलकर धूप में बैठना चाहिए। मैंने घण्टी बजाने वाले स्विच को दबाया। चपरासी उपस्थित हुआ। मैंने बिना उसके चेहरे की ओर देखे कहा, "यह आरामकुर्सी बरामदे में लगा दो।"

रामपूजन औसत सेहत का आदमी था। मगर, उसने क्षण भर में वह भारी-भरकम आरामकुर्सी उठा ली और बरामदे में वहां रख दी, जहां से नीचे उतरने के लिए चौड़ी-चौड़ी सीढ़ियां शुरू होती थी। मैं कुर्सी छोड़ कर बाहर निकला और कुर्सी पर आ बैठा। मेरी उपस्थिति के कारण अब रामपूजन अपने स्टूल पर नहीं बैठ सकता था। बड़े साहब के सामने भला कैसे बैठ सकता था! मैंने भी बड़े साहब की ही आवाज में अधूरा वाक्य कहा, "सिगरेट की टिन और लाइटर···।"

रामपूजन खड़ा था। भागा-भागा मेरे कमरे में गया और सिगरेट की टिन तथा लाइटर के साथ लगभग बारह इंच के व्यास वाली अट्ठारह फीट ऊंची छोटी-सी मेज भी उठा लाया। इस गोल और सुन्दर मेज को उसने मेरी आरामकुर्सी के बायीं ओर रख दिया और फिर कमरे के भीतर गया। इस बार वह चीनी मिट्टी का बना ऐश-ट्रे उठा लाया। इस ऐश-ट्रे की बनावट भी खूब थी—मयूराकार। यहां मुझे आए लगभग आठ महीने हो गए थे और आने के तीसरे ही दिन से मैं इस मृतिकामोर की खुली और खोखली पीठ में सिगरेट की राख झाड़ रहा था। याद आता है, मैंने पुराने

ऐश-ट्रे को नापसन्द किया, तो मातहत का एक छोटा अफसर किसी ऊंची दुकान से मेरे लिए यह नफीस ऐश-ट्रे ले आया। मेरे आगे उसे रखते हुए उसने कहा था, "सर, यदि यह पसन्द न हो, तो दूसरा भी आ सकता है।"

मैंने साहबी अदा से उसकी ओर देखा और कंजूसी-भरी मुस्कराहट के साथ कहा, "नहीं, नहीं, यह ठीक है। चलेगा।"

उस दिन मैंने फिर उस ऐश-ट्रे को गौर से देखा। इसके साथ मुझे वह अफसर भी दिखलायी पड़ा, जो यह ऐश-ट्रे खरीद लाया था। मगर, इस वक्त उसे मेरा देखना ग़लत ही था; क्योंकि वास्तव में तब वह मेरे सामने नहीं आया था। हां, मीटिंग में दो-एक फाइलों के साथ जरूर दिखा था। पर, मीटिंग समाप्त हो चुकी थी। तब तो वह अपने हॉलनुमा कमरे में काम कर रहा होगा या अपनी बगल में बैठे अपनी ही तरह के किसी दूसरे अफसर से मीटिंग में लिए गए निर्णयों के सम्बन्ध में बातें कर रहा होगा। बहुत शीघ्र ही उसकी उपस्थिति का भ्रम मेरे मन से दूर हो गया।

ऊनी पैण्ट, स्वेटर और कोट के बावजूद मैंने सर्दी का अनुभव किया था; क्योंकि इधर तीन रोज से मेरे चेम्बर का रूम-हीटर बिगड़ गया था। एक सिगरेट सुलगा लेने के बाद मैंने पीछे की ओर खड़े रामपूजन की ओर देखा। वह वाणी और प्राणहीन मूरत की तरह खड़ा था। मेरे चेहरे पर नजर पड़ते ही लगा, किसी ने उसमें प्राणप्रतिष्ठा कर दी। वह कुछ हिला, कुछ डुला और कुछ कांपा। मैंने बड़ी धीमी आवाज में पूछा, "सुनो, हीटर कब ठीक होगा, कोई मैकेनिक नहीं आया ?"

"जी···।" कह कर वह मुझे बिना कुछ बतलाए मेरे पास से जाने कहां चल पड़ा। मैं चाहता, तो यही बात अपने निजी सहायक से कह सकता था। वह कुछ दूर भी तो नहीं रहता था। मेरे हॉलनुमा चेम्बर के ठीक पीछे उसका भी एक छोटा-सा कमरा था। वह बीच में लगे दरवाज़े को ठेल कर कार्यवश मेरे पास आता-जाता रहता था। उसकी मेज पर कुछ फाइलें होतीं और एक टाइपराइटर। दूसरा टाइपराइटर भी था, मगर वह हिन्दी का था और उसे उतार कर उसने एक कोने में रख दिया था। उसने मुझे बतलाया था कि हिन्दी वाला टाइपराइटर एकदम बेकार हो गया है। मैंने अनसुनी कर दी थी; क्योंकि मेरे दस्तखत से पत्रा-

चार सीधे सूचना महानिदेशालय से चलते थे और यह काम अंग्रेजी में ही चलता था।

मैंने यह चिन्ता छोड़ दी कि रामपूजन कहां गया। रही बात फोन की, तो टाइपराइटर चलने की आवाज मेरे कानों में पड़ी थी, मैं जान रहा था कि पिछले वाले कमरे में मेरा पी० ए० काम कर रहा है। फोन की घण्टी बजेगी और बजती ही रहेगी, तो वह दरवाजा ठेलकर मेरे चेम्बर में दाखिल होगा और लपक कर रिसीवर उठा लेगा—हैलो···आल इण्डिया रेडियो! आप किन्हें चाहते हैं···?

अगर कोई मुझे चाहेगा, तो—प्लीज होल्ड ऑन···!

कोई चिन्ता की बात नहीं।

कल इस माह का द्वितीय शनिवार आने वाला था। दफ्तर बन्द रहेगा। मैं मेनका से वचनबद्ध हो चुका था कि आ रहे शनिवार की दोपहर को उसे साथ लेकर घूमने-फिरने निकलूंगा और उसका चिड़ियाखाना देखने वाला आग्रह भी पूरा करूंगा। बैठे-बैठे मेरे कानों में उसके ये शब्द गूंजने लगे—देखूंगी, यहां का गैण्डा कैसा है। पता नहीं, मुझे साथ लेकर बाहर निकलने में तुम्हें क्या परेशानी होती है! मैं तो बस यह सोच कर सन्तोष करती हूं कि शादी के बाद मैं कैद हो गई।

इस सन्दर्भ में उससे कहने के लिए मेरे पास भी बहुत-सी बातें थीं, मगर मैंने मुस्कराकर टाल दिया था। पर, अभी जो उसके ये शब्द कानों में हलचल मचाने लगे, तो दिल में एक कड़वाहट पैदा होने लगी। मैंने उस कड़वाहट को दूर करने की कोशिश की और अपने दिल को यह कह कर समझाने लगा कि चलो अब जो है, सो है। ऐसी कड़वाहट औरों के दाम्पत्य जीवन में भी होगी और वे सब भी निभा रहे होंगे। मेनका जैसी है, रहने दो। बस इसी नीति से काम लो कि उसके साथ बहस करना छोड़ दो। अनगिनत बार बहस कर चुका हूं, कहां उसमें कोई परिवर्तन आया? वह तो हमेशा मुझे इस बात का अहसास कराती रही है कि मेरे कारण वह टूटती आ रही है और कराती रहेगी।

यथार्थवादी और अनीश्वरवादी कहते हैं कि भ्रम से दूर रहो, अपने यश-अपयश, सफलता-असफलता का नियामक उस ईश्वर को मत मानो,

जो आदमी को शून्य में भी विराट् के दर्शन कराता है और स्वयं जो न शून्य है और न विराट् ही, जिसका अस्तित्व वस्तुतः न कभी था, न है और न रहेगा। जो दृश्य है, वही हमारा अनुभव-निकष बन सकता है। और कुछ ऐसे ही विचारों के निकट जब अपना मन आ गया, तो मैंने एक बार फिर से तय किया कि कल मेनका को लेकर चिड़ियाखाना देखने ज़रूर जाऊंगा। इसके बाद घूमने-फिरने का एक दीर्घ अन्तराल दिया जा सकता है, अपनी दुनिया में खोया जा सकता है। मेरे मन के आकाश में आकार लेने लगे—कल आने वाला माह का द्वितीय शनिवार और शहर के अन्तिम पश्चिमी भाग का चिड़ियाघर !

मानवीय अपेक्षाओं की अपेक्षा ईश्वरीय अपेक्षाएं ज्यादा उत्पीड़क होती हैं। किसी ईश्वरीय प्रेरणा से मेनका मुझसे उखड़-उखड़ कर बोलना छोड़ देगी, यह अपेक्षा भी एक दुष्अपेक्षा है।

सेट एसाइड यानी यथास्थिति !

मैं ऐसी ही मनःस्थिति के क्षणों को भोग रहा था कि रामपूजन ने मेरे सामने हेड क्लर्क को लाकर खड़ा कर दिया। मैं रूम हीटर वाली बात भूल गया था। अब जो मैंने हेड क्लर्क मेहता की ओर निगाह डाली, तो उसने विनम्रतापूर्ण स्वर में कहना शुरू किया, "सर, यह काम तो अपना इलेक्ट्रिशियन करेगा। मुझे तो यह बात आज ही मालूम हुई है···।"

"क्या करना है इलेक्ट्रिशियन को ?"

रामपूजन बोल पड़ा, "रूम-हीटर···।"

"अच्छा, अच्छा।"—मैंने कहा, "कोई बात नहीं मेहता जी। बस मैंने ऐसे ही कह दिया। वह ठीक हो जाए तो अच्छा रहे।"

"ठीक कैसे नहीं होगा ? होगा और शायद आज ही हो जाएगा। बात यह है कि···।" मेहता कहता रहा, "तब तक ऐसा किया जा सकता है कि ड्यूटी रूम का हीटर यहां मंगवा लिया जाए···।"

मैंने उसे टोका, "ना, यह ठीक नहीं होगा।"

"तो फिर मैं इलेक्ट्रिशियन को···।"

"हां···।"

मेहता वापस चला गया। रामपूजन बरामदे के पीछे वाले गलियारे

के मुहाने पर चल कर खड़ा हो रहा। इस गलियारे को पार कर लेने के बाद स्टुडियो के बीच का गलियारा शुरू होता था। मेरा पद और मेरा शरीर कभी-कभी उस गलियारे मे जाता, बाकी मेरा सारा समय परदे के पीछे अपने इसी चेम्बर मे बीतता था। सिर झुकाये अपने चेम्बर में घुसना और सिर झुकाये चेम्बर मे बाहर निकल जाना।

मैंने अपने हाथ-पाव ढीले किए, सिकोड़े और फैलाए। एक निगाह मैंने मयूराकार ऐश-ट्रे पर डाली, जिसके भीतर से सिगरेट का धुआ पतली-पतली लकीरों के रूप मे धीरे-धीरे ऊपर की ओर निकल कर अदृश्य होता जा रहा था। कभी-कभी स्टुडियो के गलियारे से कलाकारो और केन्द्र के कर्मचारियो के चलने की धमक बहुत धीमे सुनायी दे जाती थी। ऐसी धमक रोज कभी-कभी सुनायी दे जाती थी। यह कोई खास बात नही, जबकि स्टेशन डायरेक्टर का चेम्बर स्टुडियो के इतना करीब हो।

मैंने निश्चित भाव से पहले अपने सामने लॉन पर दृष्टि डाली, फिर लॉन के किनारे-किनारे लगे पुष्प-पौधों की अर्धचन्द्राकार कतारो पर, कुछ पौधों मे फूल लगे थे, कुछ मे लगने वाले थे। कुछ की कोमल डालियों में प्यारी-प्यारी पत्तियों के बीच से कलिया निकल रही थीं और कुछ कलियां शायद रात गिरते-गिरते प्रस्फुटित हो जाने वाली थीं। इन पौधों की फुनगियो का हिलना दिल मे एक खुशनुमा माहौल पैदा करने के लिए काफी था। पौधो की कतारो के उस पार वह साफ-सुथरा रास्ता था, जिसमे होकर लोग रेडियो स्टेशन के बिलकुल भीतर आ जाते थे। यह रास्ता ठीक पूरब से शुरू होता और लगभग दो सौ कदम पश्चिम आकर उत्तर की ओर मुड़ जाता था। फिर इस रास्ते से एक-दो और रास्ते निकलते थे। अहाते मे पश्चिम और दक्षिण की ओर आम-लीचियो के कई वृक्ष थे। हवा बहने पर इनकी डालियों और पत्तियो से बड़ी सुहानी सरसराहट उभरती थी। शिरीष के दो और अशोक का एक पेड़ मुझे यहीं बैठे नजर आ रहे थे। रास्ते के इस अथवा उस किनारे पलाश और नारियल वृक्ष। ये सारे तरुगण भारतीय काव्यपुरुषों के वल्लभतरु रहे हैं न! इन सबों की शोभा का अवलोकन करने मे हृदय जैसे रमने लगा।

और, यही हृदय क्षण भर बाद ही कुछ विषण्ण हो उठा।

उसी रास्ते पर कविप्रिय इन वृक्षों के उस पार से मुझे शास्त्री की आकृति उभरती दिखी। वह एक सामान्य गति से क़दम-दर-क़दम चलता चला आ रहा था। कृशकाय ! पुरानी धोती, पुराना कुरता, पुरानी चप्पल। सांवला-सांवला-सा शास्त्री। आंखों पर ऐनक। चिपके हुए गाल। ललाट के ऊपर का कुछ हिस्सा एकदम चिकना। फिर पीछे की ओर उलझे-सुलझे हुए बड़े-बड़े बाल, गर्दन पर कुछ-कुछ झूलते हुए। कोई पुराना स्वेटर कुरते के भीतर हो, तो हो, कुरते के ऊपर तो कुछ नहीं दिखा। बाएं हाथ में वही चिरपरिचित झोला, जिसकी दो-तीन तहें कर दी गई थीं और फीते कतई नजर नहीं आ रहे थे, मेरे मन को और भी झुंझला गया। यह झोला लेकर रेडियो स्टेशन आने की भला क्या ज़रूरत थी ? मगर, यह आदमी मानने वाला नहीं और मेरी बहन इस आदमी को मनाने वाली नहीं। किसी ऐसी ही आदत के लिए मैंने टोका था, तो बहन बड़े सहज भाव से बोली थी, "कौन टोके ? उन्हें जैसा रुचता है, करते हैं। मैं भी सोचती हूं, इसमें अपना भला क्या अहित हो जाता है ? एक बात और भी तो है।"

मैंने पूछा था, "क्या ?"

तब बहन ने कहा था, "हर कोई अपने सन्तोष का बड़ा ध्यान रखता है, अपने व्यवहार से दूसरों के सन्तोष की रक्षा करने का यत्न शायद ही करता है।"

मैंने फिर एतराज नहीं किया। बहन के सौम्य मुखमण्डल की ओर देखा। मुझे कुछ ऐसा महसूस हुआ कि उसकी सौम्यता की प्रखरता ने अपने एक ही सर्वथा अहिंसक आक्रमण से मुझे पराजित कर दिया। हां, तब मुझे मेनका अवश्य याद आई थी, जो मुझसे सदैव कहती रहती है कि आदमी को क़ायदे से रहना चाहिए। ऐसा क्या वेश बनाए रखना कि नजर पड़ते ही देखने वाले के मन में अनाकर्षण का भाव जगे ?

और मैंने देखा, शास्त्री और नजदीक चला आया। वह जहां तक पहुंच गया था, चाहता तो मुझे वहीं आसानी से देख सकता था और अपनी दायीं ओर मुड़कर लॉन की छोटी-सी दूरी पार करता हुआ सीधा मेरे पास चला आ सकता था। अब क्या बतलाऊं, पूरे विश्वास के साथ कहना मुश्किल है कि उसने मुझे देख लिया होगा, फिर भी नहीं आया होगा।

मगर मैं तो संभल गया। मैंने पीछे की ओर गर्दन फेरी, तो रामपूजन दिखा। वह आध मिनट में मेरे पास चला आया। मैं उठकर खड़ा हो रहा और पलक मारते अपने चेम्बर में समा गया। अपनी रिवाल्विंग कुर्सी पर ठीक से बैठ भी नहीं सका था कि रामपूजन ऐश-ट्रे उठाकर मेरी मेज पर रख गया। सिगरेट की टिन छोड़ आया था, वह उसे भी साथ लेता आया था। दफ्तर में मैं इतना काहिल और दिखाऊ क्यों हो जाता हूं कि सिगरेट की एक टिन तक नहीं उठा सकता? इसके पीछे चाहे जो भी कारण हो, मगर हां, यदि कोई कारण है, तो उसी कारण ने मुझे विवश किया कि मैं बरामदे में उठकर फौरन भीतर चेम्बर में चला जाऊं।

कहीं शास्त्री दायीं ओर मुड़ गया हो और इस विशाल भवन के कोने की आड़ में पड़ जाने के कारण वह निमेष मात्र को नजर न आ रहा हो। वह शायद अगले ही क्षण एकदम सीढ़ियों के नीचे उभरेगा और सीढ़ियों पर चढ़ते हुए *आत्मीय भाव से पूछेगा, "कहो भैया हितेन्द्र, कैसे हो?* रेडियो स्टेशन की नौकरी में हो, यह तो मालूम था, मगर यहीं आ गए हो, यह तो किसी ने नहीं बतलाया।"

इस कल्पना ने वस्तुतः मुझे उद्वेलित कर दिया था। मुझ पर बेमौसम ओले गिरने लगे थे। लेकिन, शास्त्री ने मुझे चाहे भले ही देख और पहचान लिया हो, मेरे चेम्बर में नहीं आया। हालांकि मैंने अपने को इस बात के लिए तैयार कर लिया था कि जब रामपूजन कागज का यह छोटा-सा टुकड़ा लेकर आएगा, जिस पर शास्त्री ने अपना नाम-पता लिखा होगा, तो उसे मैं देखकर फौरन कहूंगा, "कह दो, एक घण्टा बाद।" और फाइलों पर नजर डालने लगूंगा। क्षण भर यह भय भी जाग उठा कि शास्त्री कहीं रामपूजन से मेरे साथ अपना रिश्ता न बतला दे। हे भगवान्! यह तो बड़ी बुरी बात होगी।

शास्त्री और मेरा रिश्तेदार!

किन्तु, ऐसा कुछ हुआ नहीं। घण्टे भर से ज्यादा का वक्त निकल गया। वह शायद किसी प्रोग्राम के लिए उधर दफ्तर में प्रोग्राम अफसरों के बीच भटक रहा होगा। और मैं पुनः एक बार इस आशंका से आतंकित हो उठा कि कहीं वह उनसे ही रिश्ते वाली बात न बतला दे। मे

उसी रास्ते पर कविप्रिय इन वृक्षों के उस पार से मुझे शास्त्री की आकृति उभरती दिखी। वह एक सामान्य गति से क़दम-दर-क़दम चलता चला आ रहा था। कृशकाय ! पुरानी धोती, पुराना कुरता, पुरानी चप्पल। सांवला-सांवला-सा शास्त्री। आंखों पर ऐनक। चिपके हुए गाल। ललाट के ऊपर का कुछ हिस्सा एकदम चिकना। फिर पीछे की ओर उलझे-सुलझे हुए वड़े-वड़े वाल, गर्दन पर कुछ-कुछ झूलते हुए। कोई पुराना स्वेटर कुरते के भीतर हो, तो हो, कुरते के ऊपर तो कुछ नहीं दिखा। वाएं हाथ में वही चिरपरिचित झोला, जिसकी दो-तीन तहें कर दी गई थीं और फीते कतई नजर नहीं आ रहे थे, मेरे मन को और भी झुंझला गया। यह झोला लेकर रेडियो स्टेशन आने की भला क्या जरूरत थी ? मगर, यह आदमी मानने वाला नहीं और मेरी वहन इस आदमी को मनाने वाली नहीं। किसी ऐसी ही आदत के लिए मैंने टोका था, तो वहन वड़े सहज भाव से वोली थी, "कौन टोके ? उन्हें जैसा रुचता है, करते हैं। मैं भी सोचती हूं, इसमें अपना भला क्या अहित हो जाता है ? एक वात और भी तो है।"

मैंने पूछा था, "क्या ?"

तव वहन ने कहा था, "हर कोई अपने सन्तोष का वड़ा ध्यान रखता है, अपने व्यवहार से दूसरों के सन्तोष की रक्षा करने का यत्न शायद ही करता है।"

मैंने फिर एतराज नहीं किया। वहन के सौम्य मुखमण्डल की ओर देखा। मुझे कुछ ऐसा महसूस हुआ कि उसकी सौम्यता की प्रखरता ने अपने एक ही सर्वथा अहिंसक आक्रमण से मुझे पराजित कर दिया। हां, तव मुझे मेनका अवश्य याद आई थी, जो मुझसे सदैव कहती रहती है कि आदमी को क़ायदे से रहना चाहिए। ऐसा क्या वेश वनाए रखना कि नजर पड़ते ही देखने वाले के मन में अनाकर्षण का भाव जगे ?

और मैंने देखा, शास्त्री और नजदीक चला आया। वह जहां तक पहुंच गया था, चाहता तो मुझे वहीं आसानी से देख सकता था और अपनी दायीं ओर मुड़कर लॉन की छोटी-सी दूरी पार करता हुआ सीधा मेरे पास चला आ सकता था। अव क्या वतलाऊं, पूरे विश्वास के साथ कहना मुश्किल है कि उसने मुझे देख लिया होगा, फिर भी नहीं आया होगा।

मगर मैं तो संभल गया। मैंने पीछे की ओर गर्दन फेरी, तो रामपूजन दिखा। वह आध मिनट में मेरे पास चला आया। मैं उठकर खड़ा हो रहा और पलक मारते अपने चेम्बर में समा गया। अपनी रिवॉल्विंग कुर्सी पर ठीक से बैठ भी नहीं सका था कि रामपूजन ऐश-ट्रे उठाकर मेरी मेज पर रख गया। सिगरेट को टिन छोड़ आया था, वह उसे भी साथ लेता आया था। दफ्तर में मैं इतना काहिल और दिखाऊ क्यों हो जाता हूं कि सिगरेट की एक टिन तक नहीं उठा सकता? इसके पीछे चाहे जो भी कारण हो, मगर हां, यदि कोई कारण है, तो उसी कारण ने मुझे विवश किया कि मैं बरामदे में उठकर फौरन भीतर चेम्बर में चला जाऊं।

कहीं शास्त्री दायीं ओर मुड़ गया हो और इस विशाल भवन के कोने की आड़ में पड़ जाने के कारण वह निमिष मात्र को नजर न आ रहा हो। वह शायद अगले ही क्षण एकदम सीढ़ियों के नीचे उभरेगा और सीढ़ियों पर चढ़ते हुए आत्मीय भाव से पूछेगा, "कहो भैया हितेन्द्र, कैसे हो? रेडियो स्टेशन की नौकरी में हो, यह तो मालूम था, मगर यहीं आ गए हो, यह तो किसी ने नहीं बतलाया।"

इस कल्पना ने वस्तुतः मुझे उद्वेलित कर दिया था। मुझ पर बेमौसम ओले गिरने लगे थे। लेकिन, शास्त्री ने मुझे चाहे भले ही देख और पहचान लिया हो, मेरे चेम्बर में नहीं आया। हालांकि मैंने अपने को इस बात के लिए तैयार कर लिया था कि जब रामपूजन कागज का वह छोटा-सा टुकड़ा लेकर आएगा, जिस पर शास्त्री ने अपना नाम-पता लिखा होगा, तो उसे मैं देखकर फौरन कहूंगा, "कह दो, एक घण्टा बाद।" और फाइलों पर नजर डालने लगूंगा। क्षण भर यह भय भी जाग उठा कि शास्त्री कहीं रामपूजन से मेरे साथ अपना रिश्ता न बतला दे। हे भगवान्! यह तो बड़ी बुरी बात होगी।

शास्त्री और मेरा रिश्तेदार!

किन्तु, ऐसा कुछ हुआ नहीं। घण्टे भर से ज्यादा का वक्त निकल गया। वह शायद किसी प्रोग्राम के लिए उधर दफ्तर में प्रोग्राम अफसरों के बीच भटक रहा होगा। और मैं पुनः एक बार इस आशंका से आतंकित हो उठा कि कहीं वह उनसे ही रिश्ते वाली बात न बतला दे। मेरे भीतर

उसी रास्ते पर कविप्रिय इन वृक्षों के उस पार से मुझे शास्त्री की आकृति उभरती दिखी। वह एक सामान्य गति से क़दम-दर-क़दम चलता चला आ रहा था। कृशकाय ! पुरानी धोती, पुराना कुरता, पुरानी चप्पल। सांवला-सांवला-सा शास्त्री। आंखों पर ऐनक। चिपके हुए गाल। ललाट के ऊपर का कुछ हिस्सा एकदम चिकना। फिर पीछे की ओर उलझे-सुलझे हुए बड़े-बड़े बाल, गर्दन पर कुछ-कुछ झूलते हुए। कोई पुराना स्वेटर कुरते के भीतर हो, तो हो, कुरते के ऊपर तो कुछ नहीं दिखा। बाएं हाथ में वही चिरपरिचित झोला, जिसकी दो-तीन तहें कर दी गई थीं और फीते कतई नजर नहीं आ रहे थे, मेरे मन को और भी झुंझला गया। यह झोला लेकर रेडियो स्टेशन आने की भला क्या जरूरत थी ? मगर, यह आदमी मानने वाला नहीं और मेरी बहन इस आदमी को मनाने वाली नहीं। किसी ऐसी ही आदत के लिए मैंने टोका था, तो बहन बड़े सहज भाव से बोली थी, "कौन टोके ? उन्हें जैसा रुचता है, करते हैं। मैं भी सोचती हूं, इसमें अपना भला क्या अहित हो जाता है ? एक बात और भी तो है।"

मैंने पूछा था, "क्या ?"

तब बहन ने कहा था, "हर कोई अपने सन्तोष का बड़ा ध्यान रखता है, अपने व्यवहार से दूसरों के सन्तोष की रक्षा करने का यत्न शायद ही करता है।"

मैंने फिर एतराज नहीं किया। बहन के सौम्य मुखमण्डल की ओर देखा। मुझे कुछ ऐसा महसूस हुआ कि उसकी सौम्यता की प्रखरता ने अपने एक ही सर्वथा अहिंसक आक्रमण से मुझे पराजित कर दिया। हां, तब मुझे मेनका अवश्य याद आई थी, जो मुझसे सदैव कहती रहती है कि आदमी को क़ायदे से रहना चाहिए। ऐसा क्या वेश बनाए रखना कि नजर पड़ते ही देखने वाले के मन में अनाकर्षण का भाव जगे ?

और मैंने देखा, शास्त्री और नजदीक चला आया। वह जहां तक पहुंच गया था, चाहता तो मुझे वहीं आसानी से देख सकता था और अपनी दायीं ओर मुड़कर लॉन की छोटी-सी दूरी पार करता हुआ सीधा मेरे पास चला आ सकता था। अब क्या बतलाऊं, पूरे विश्वास के साथ कहना मुश्किल है कि उसने मुझे देख लिया होगा, फिर भी नहीं आया होगा।

मगर मैं तो संभल गया। मैंने पीछे की ओर गर्दन फेरी, तो रामपूजन दिखा। वह आध मिनट में मेरे पास चला आया। मैं उठकर खड़ा हो रहा और पलक मारते अपने चेम्बर में समा गया। अपनी रिवाल्विंग कुर्सी पर ठीक से बैठ भी नहीं सका था कि रामपूजन ऐशट्रे उठाकर मेरी मेज पर रख गया। सिगरेट की टिन छोड़ आया था, वह उसे भी साथ लेता आया था। दफ्तर में मैं इतना काहिल और दिखाऊ क्यों हो जाता हूं कि सिगरेट की एक टिन तक नहीं उठा सकता? इसके पीछे चाहे जो भी कारण हो, मगर हां, यदि कोई कारण है, तो उसी कारण ने मुझे विवश किया कि मैं बरामदे में उठकर फौरन भीतर चेम्बर में चला जाऊं।

कहीं शास्त्री दायीं ओर मुड़ गया हो और इस विशाल भवन के कोने की आड़ में पड़ जाने के कारण वह निमेष मात्र को नजर न आ रहा हो। वह शायद अगले ही क्षण एकदम सीढ़ियों के नीचे उभरेगा और सीढ़ियों पर चढ़ते हुए आत्मीय भाव से पूछेगा, "कहो भैया हितेन्द्र, कैसे हो? रेडियो स्टेशन की नौकरी में हो, यह तो मालूम था, मगर यहीं आ गए हो, यह तो किसी ने नहीं बतलाया।"

इस कल्पना ने वस्तुतः मुझे उद्वेलित कर दिया था। मुझ पर बेमौसम ओले गिरने लगे थे। लेकिन, शास्त्री ने मुझे चाहे भले ही देख और पहचान लिया हो, मेरे चेम्बर में नहीं आया। हालांकि मैंने अपने को इस बात के लिए तैयार कर लिया था कि जब रामपूजन कागज का वह छोटा-सा टुकड़ा लेकर आएगा, जिस पर शास्त्री ने अपना नाम-पता लिखा होगा, तो उसे मैं देखकर फौरन कहूंगा, "कह दो, एक घण्टा बाद।" और फाइलों पर नजर डालने लगूंगा। क्षण भर यह भय भी जाग उठा कि शास्त्री कहीं रामपूजन से मेरे साथ अपना रिश्ता न बतला दे। हे भगवान्! यह तो बड़ी बुरी बात होगी।

शास्त्री और मेरा रिश्तेदार!

किन्तु, ऐसा कुछ हुआ नहीं। घण्टे भर से ज्यादा का वक्त निकल गया। वह शायद किसी प्रोग्राम के लिए उधर दफ्तर में प्रोग्राम अफसरों के बीच भटक रहा होगा। और मैं पुनः एक बार इस आशंका से आतंकित हो उठा कि कहीं वह उनसे ही रिश्ते वाली बात न बतला दे। मेरे भीतर

उठा हुआ यह आतंक कुछ इस हद तक हरकत करने लगा कि इच्छा हुई, आज ही की डाक में महानिदेशालय से पत्र आ जाए कि मुझे बम्बई, इलाहाबाद, लखनऊ या कहीं और चला जाना है, तब तक इन्तजार नहीं किया जा सकता, जब तक कि कोई दूसरा स्टेशन डायरेक्टर यहां आ न जाए। असिस्टेण्ट स्टेशन डायरेक्टर को चार्ज दे दूं।

मन कसमसा उठा। जिसके डर से भागे, वही मेरे आगे।

सब कुछ अपने वश का नहीं होता। मेरे इच्छामात्र करने से भला ऐसा पत्र कैसे आ जाता? मैं फाइलों को खोल-खोलकर देखने लगा। किसी पर अनुकूल और किसी पर प्रतिकूल आदेश। कई पर कुछ गलत निर्णय लिया हो, तो भी आश्चर्य नहीं। वास्तव में भीतर से तो मैं चंचल हो उठा था। लेकिन इतना जरूर याद है कि कई फाइलों पर मैंने सम्बद्ध अधिकारी को लिखा था—प्लीज डिस्कस!

आध घण्टा और बीत गया। मैं फिर बाहर निकला और बरामदे में खड़ा होकर चुपचाप रास्ते की ओर देखने लगा। आंखें इस आशा से भरी थीं कि शास्त्री बाहर जाता हुआ दिखेगा और दिखते-दिखते उसकी आकृति लघु से लघुतर और फिर लघुतम होती जाएगी, वह धीरे-धीरे वृक्षों की ओट में होते-होते गायब हो जाएगा। तब मुझे शायद ऐसा अनुभव होगा कि वह रेडियो स्टेशन आया ही नहीं था।

वक्त की यह कैसी आवाज थी कि कोई मिलन के लिए विकल होता है और मैं बिछोह के लिए विकल हो रहा था!

लेकिन, शास्त्री नहीं दिखा, तो नहीं दिखा।

मैं सीधे असिस्टेंण्ट स्टेशन डायरेक्टर के पद पर नियुक्त हुआ था। पदस्थापन के दिन से ही मैंने यह तय कर लिया था कि अधीनस्थ अफसरों के कमरों में नहीं जाऊंगा। जरूरत पड़ने पर उन्हें फोन करके अपने कमरे में बुला लिया करूंगा। रेडियो स्टेशनों में यह बड़ी अच्छी सुविधा होती है। अपना स्विच बोर्ड, अपना ऑपरेटर। रिसीवर उठाते ही ऑपरेटर की आवाज आती है—नम्बर प्लीज! और सम्बद्ध विभाग का या अपेक्षित अधिकारी का नाम बतलाते ही वह लाइन दे देता है। वहां घण्टी बजने लगती है। फिर क्यों चक्कर लगाया जाए! अपना पद हल्का होता है!!

बरामदे में प्यारी-प्यारी धूप अभी भी छितरायी हुई थी। वहां खड़ा होते हुए अच्छा लग रहा था। लेकिन मैं फिर अपने चेम्बर में लौट आया। मन में आया, एक-एक अधीनस्थ कर्मचारी से फोन करके पूछूं कि क्या शास्त्री जी वहां बैठे हैं ? नहीं बैठे हैं, तो क्या चले गए और चले गए तो क्या फिर लौटकर आने वाले हैं ? मगर, यह सब करने के लिए भी दिल तैयार न हुआ। क्यों स्वयं ऐसी स्थिति बनायी जाए, जिसके चलते बैल झूमता हुआ आगे बढ़े और मुझे मारने को आमादा हो जाए ?

मेरा पी० ए० पीछे वाले कमरे में शायद अब भी टाइपराइटर के की-बोर्ड पर अपनी उंगलियां फिरा रहा था। उसकी बड़ी धीमी आवाज मेरे कानों में पड़ रही थी। मैंने सोचा—आज अपनी पुरानी नीति में थोड़ा हेर-फेर कर लिया जाए, अधीनस्थ अफसरों के कमरों में चला जाए। शास्त्री होगा, तो अपने-आप दिख जाएगा। नजर पड़ते ही उल्टे पांव कमरे से बाहर निकल आऊंगा। इन अफसरों का मित्र तो मैं नहीं ही ठहरा कि वे आवाज लगाकर पुकारेंगे। शास्त्री के नहीं होने पर स्थिति ज्यादा निरापद होगी और अगर उसने इन अफसरों में से किसी से रिश्ते वाली बात बतलायी होगी, तो वह नाटकीय विनम्रता से कहेगा—शास्त्री जी बस अभी-अभी वापस गए हैं। मुझे नहीं मालूम था सर कि···।

और मैं 'अरे हां, अरे हां' कहकर फौरन इस चर्चा की राह रोक दूंगा।

यह भावना भी उठी कि यहां के तबादले को मैंने व्यर्थ ही आसानी से स्वीकार कर लिया। महानिदेशालय में पैरवी पहुंचाता और फिर वहां कुछ जोड़-घटाव करके वे मेरा तबादला कहीं और कर देते। बड़ा अफसोस हुआ कि मैंने ऐसा क्यों नहीं किया। कुछ ही क्षण बीत सके कि मैं शीघ्रता से उठा और अपने चेम्बर से निकल कर भवन के उस भाग की ओर चल पड़ा, जिधर प्रोग्राम अधिशासियों का ठिकाना था। कई कमरों में उनके नामों और पदों की छोटी-बड़ी तख्तियां टंगी थीं। शुद्ध हिन्दी में इन्हें 'कार्यक्रम अधिशासी' और अंग्रेजी में 'प्रोग्राम एक्जिक्यूटिव' कहा जाता है। इस पद का सृजन अभी हाल ही में हुआ था, वरना पहले ये अफसर 'प्रोग्राम असिस्टेण्ट' अथवा 'प्रोग्राम असिस्टेण्ट' कहलाते थे। प्रोग्राम

असिस्टेण्ट के रूप में ये गजटेड अफसर नहीं थे, अब तो हर प्रोग्राम एक्जिक्यूटिव गजटेड अफसर था और मेरी मातहत दर्जन से अधिक ये गजटेड अफसर थे।

मैं आगे बढ़ता जा रहा था और रास्ते में मिलने वाला हर स्टॉफ सहम कर एक ओर हट जाता था। मेरा पद-गर्व मेरी छाया बन चुका था और अपने मन में तरह-तरह के उपक्रम कर रहे आतंक के बावजूद मैं सोच रहा था—शास्त्री को यह रुतबा भला कहां नसीब होगा। जो मेरे आगे दुम हिलाते हैं, शास्त्री उनके आगे दुम हिलाता होगा। अच्छा किया मैंने कि बहन के पास नहीं गया और आज शास्त्री को आपादमस्तक पहचान कर भी न पहचान सका।

मेरे कत्थई रंग के नए बूटों से मच-मच की आवाज फूट रही थी। मेरी टाई हौले-हौले कांप रही थी। और चूंकि बिना दर्पण के अपना चेहरा देख पाना मुश्किल है, इसलिए विश्वासपूर्वक नहीं कह सकता कि उस समय चेहरे का क्या हाल था। दीप्त मुखड़ा तब और भी दीपित हो उठता है, जब हृदय का आनन्दकोष भरा-पूरा हो। मेरे हृदय के आनन्द-कोष की यही स्थिति थी, कहना ग़लत होगा।

थोड़ी दूर का फ़ासला तय कर मैं कार्यक्रम अधिशासियों के दोतरफे कमरों के बीच की जगह में पहुंच गया। उनमें से जिनकी दृष्टि मुझ पर पड़ी, वे शायद सावधान की मुद्रा में आ गए और उनकी आंखें फैल गईं। मैंने रपता-रपता दोनों ओर के कमरे की मुसाफिरत की। ये सारे अफसर उठ-उठ कर खड़े हो रहे। पता नहीं, वे स्वभाव से कितने शीलवान थे, पर मेरे सामने तो उनकी शीलभंगिमा एकदम उजागर हो रही थी। मैंने सबों के बीच सिर्फ यही कहा, "कोई खास बात नहीं। बस ऐसे ही···बस ऐसे ही।" साथ ही परेशानी और घबराहट में एक बात और भी मुंह से निकल गई, जिसका कोई आधार नहीं था। उनके कमरे के हर कोने में नजर डालते हुए मैंने कहा, "हमारे पास रेकार्डिंग रूम तो बस एक ही है। आप लोगों को कोई रेकार्डिंग करनी हो, तो साढ़े तीन बजे से पहले कर लें। साढ़े तीन बजे के बाद फिर दिक्कत होगी।"

"क्या सर, कोई वी० आई० पी०···?"

"हां, चीफ मिनिस्टर आ रहे हैं। पन्द्रह मिनट की रेकार्डिंग उनकी ही होगी।"—मैंने सरासर असत्य सूचना दी, उन्हें व्यर्थ ही सतर्क किया, "कहीं ऐसा न हो कि उन्हें लेकर जब मैं रेकार्डिंग रूम में आऊं, तो वहां पहले से कोई आर्टिस्ट रेकार्डिंग के लिए बैठा हो या उसकी रेकार्डिंग हो रही हो।"

यही बात मैं उस कमरे मे समाकर भी कह रहा था, जिसमे संस्कृत-कार्यक्रमों का प्रभारी हिंगोरानी बैठता था। शास्त्री मुझे यहां भी नहीं दिखा और न मुझसे किसी ने यही कहा कि वे आए थे और बतला रहे थे कि उनका और आपका रिश्ता साले-बहनोई का है। लेकिन मेरी बात पूरी होते-होते हिंगोरानी ने मुझे टोका, "ओह, क्षमा कीजिए सर! मैं नहीं जानता था और मुझसे एक भूल हो गई!"

"भूल हो गई? क्या भूल हो गई?" मैंने पूछा।

हिंगोरानी ने डरते-डरते कहा, "मैंने एक वार्ताकार को आज सवा तीन बजे रेकार्डिंग के लिए बुलाया है।"

"अरे, तब तो गजब किया।"—कहते हुए मैंने वार्ताकार की हैसियत जाननी चाही, "कौन है वह टॉवर?"

हिंगोरानी ने खड़े-खड़े बतलाया, "ओंकार शास्त्री।"

यह सुनते ही मुझे रोमांच हो आया, फिर भी मैंने अपने को भ्रम के आगे डालते हुए पूछा, "क्या प्रोफेसर हैं?"

"जी नहीं।"

"तो क्या शिक्षा विभाग में···?"

"जी नहीं सर!"

मैंने जैसे कुछ झुंझला कर पूछा, "आखिर क्या है फिर?"

इस झुंझलाहट के साथ मैंने यह जाहिर करना चाहा था कि अगर वह शास्त्री कुछ नहीं है, तो फिर इसे कैसे और क्यों संस्कृत के साहित्यिक कार्यक्रम में वार्ताकार के रूप में आमंत्रित किया गया?

हिंगोरानी को मेरे इस प्रश्न से कुछ वेदना पहुंची। मुझे लगा, संस्कृत-साहित्य में डाक्टरेट कर लेने के कारण वह पूरा नौकरशाह नहीं, बल्कि आधा नौकरशाह ही बन सका था। उसने कहा, 'शास्त्री जी हैं तो कुछ

नहीं, किन्तु संस्कृतज्ञ हैं, वल्कि कहना चाहिए कि अच्छे संस्कृतज्ञ हैं। वे अभी-अभी आए थे। डाक से भेजा गया अनुवन्ध-पत्र उन्हें नहीं मिला था। आजकल डाक विभाग में 'वर्क टु रूल' भी तो चल रहा है। मैंने उनसे कहा कि आप सवा तीन वजे कष्ट करें। आपकी वार्ता की रेकार्डिंग आज ही है।"

"इस पर वे क्या वोले ?"

"वोले—आ जाऊंगा।"

"और कुछ···?" मैंने यह प्रश्न अपनी आशंका को दूर करने के इरादे से हिंगोरानी की ओर सरकाया। मेरा मतलव यह था कि शास्त्री ने रिश्ते-विश्ते की कोई वात तो नहीं कही ?

"और सव ठीक है सर !"

कुल तीन-साढ़े तीन सौ कदमों की यह यात्रा ! ओह, कितने विषादों से वोझिल हो आई थी। फिर कुछ भारी और कुछ हल्के मन से मैं अपने चेम्वर में आ गया।

२

नारी हो अथवा पुरुष, चारित्रिक दृष्टि से, वातावरण की दृष्टि से और अपनी-अपनी जीवन-शैली की दृष्टि से, सवों का अपना-अपना अतीत, अपना-अपना वर्तमान होता है। हम सभी खण्डशः अलग-अलग अपने को मर्मचेता मानते हैं, किन्तु किसी भी मनोभूमि का निर्माण अकेला, ऐकान्तिक रूप से नहीं होता। हम कई स्थितियों, कई व्यक्तियों से जुड़े होते हैं। अतः, इस स्वीकारोक्ति में मुझे कोई हिचक नहीं हो रही है कि मैं भी इस मुंहवोली वहन से वहुत देर तक जुड़ा रहा, जिसका नाम था—सुनन्दा। और इसी सुनन्दा वहन के स्वनामधन्य पति-स्वामी थे, ओंकार शास्त्री।

सुनन्दा की उम्र मुझसे कुछ ज्यादा न थी, महज चार-पांच साल ज्यादा। मुझे स्मरण आता है। तब मैं छठे वर्ग में पढ़ रहा था और सुनन्दा मैट्रिक में। उम्र के साथ-साथ हमारी जाति में भी अन्तर था। वह ब्राह्मण और मैं वैश्य। उसके पिता स्थानीय इण्टर कॉलेज में हिन्दी पढ़ाते थे और मेरे पिता चौक पर कपड़े की दुकान करते थे। मेरे पिता से उसके पिता के साथ खूब जमती थी। हम दोनों का आवास भी आसपास ही था। बीच में एक दूसरे का मकान, बाकी इस ओर उस पार हम दोनों के घर।

बचपन की बहुत सारी बातें किसी को याद रहती हैं, किसी को याद नहीं। मगर कुछ बातें बचपन की भी ऐसी होती हैं, जिन्हें उपचेतन अपने कोष में बड़े ध्यानपूर्वक रख लेता है और अवसर आने पर कोष के उस विभाग को धीरे-धीरे स्पष्ट करता जाता है। स्मृतियों की झाड़-पोंछ और उचित रख-रखाव की शक्ति सम्भवत: मनुष्य में ही होती है।

मैंने उस रोज रेडियो स्टेशन के भीतरी रास्ते से शास्त्री को गुजरते देखा, तो सुनन्दा भी याद आ गई। वक्त ने अनुभव और व्यवहार की बहुत सारी फाइलें खोल-खोलकर मेरे आगे छितरा दीं। मैं उन फाइलों को समेटने की भरसक कोशिश करता और लगता जैसे कुछ अज्ञात हाथ उन्हें बार-बार खोले दे रहे हैं। मैं अपनी रिवाल्विंग कुर्सी पर बैठ गया था और प्रकृतिस्थ होने का प्रयत्न कर रहा था कि मेरा पी० ए० मेज पर महानिदेशालय के लगभग आठ-नौ पत्र रख गया। दाएं ट्रे में प्लास्टिक का चाकू पड़ा था। उसी के सहारे मैं इन लिफाफों को खोला करता था। बहुत बचा कर यह काम करता। पत्र का कोई हिस्सा फट न जाए; कहीं ऐसा न हो कि इस कारण पत्रों के सारे शब्द पढ़े न जाएं।

आजीविकार्जन की यह कैसी विडम्बना होती है कि जो नीचे वालों के लिए सिंह दिखता, वही ऊपर वालों के सामने एक अस्वस्थ गीदड़ बन जाता है। लिफाफों में बन्द महानिदेशालय के लगभग सारे पत्र स्टेशन डायरेक्टर को चुनौती दे रहे होते हैं। बड़ा साहब एकदम से छोटा साहब बन जाता है। मैंने अपने पी० ए० की ओर देखते हुए कहा, "ठीक है।" और फिर अपने अतीत की फाइलों में उलझ गया। लेकिन, इस प्रकार उलझने के लिए भी निश्चिन्तता अपेक्षित होती है। मैंने घण्टी बजायी, तो रामपूजन मेरे सामने

हाजिर हुआ। मैंने उसे आदेश दिया, "कोई मिलने आए, तो कह देना, अभी नहीं मिलेंगे।"

सुनकर रामपूजन वापस जाने लगा, तो मैंने उसे रोकते हुए कहा, "सुनो, अपने स्टेशन का भी कोई स्टॉफ नहीं।"

"जी सर!"

वह लौटने लगा, तो मैंने एक बार फिर रोकते हुए कहा, "भाग कर क्वार्टर में चले जाओ। मेम साहब से कहना, आज साहब लंच लेने नहीं आएंगे, काम ज्यादा है और जरूरी है। जो हो, नौकर से भेज देंगी। और कह कर जल्द वापस आ जाओ।"

रामपूजन आदेश का पालन करने चला गया।

सुनन्दा! औसत सेहत की सुनन्दा!! सुन्दर और प्यारी सुनन्दा!!!

सुबह के साढ़े आठ बज रहे होंगे। मैं मुश्किल से ग्यारह साल का रहा होऊंगा। छोटी मां के निर्देश पर मेरे पिताजी अभी-अभी मेरी हल्की-फुल्की मरम्मत कर अपनी दुकान खोलने निकल गए थे। मैं अपने दरवाजे पर निस्सहाय खड़ा था और मेरी आंखों से आंसुओं की छोटी-छोटी बूंदें टपक कर मेरे गालों पर फैल जा रही थीं। कोई मेरे हाल पर तरस खाने वाला नहीं था। प्रश्न यह था कि आखिर कोई कितनी बार तरस खाए? फिर छोटी मां का स्वभाव भी कुछ ऐसा था कि अड़ोस-पड़ोस वाले मुझे खुली सहानुभूति देने में भय खाते थे। यदि उन्हें कोई टोक देता, तो वे मेरे विरुद्ध और अपने पक्ष में सांसें लेना रोककर धुआंधार बोलने और फिर आंसू बहाना शुरू कर देती थीं। ईश्वर के नाम कुछ इस प्रकार दुहाई देतीं कि लगता, अभी बिल्कुल हाल में ही ईश्वर उनके हाथ बिका है और अब वह किसी अन्य का भक्तिपात्र नहीं रह गया है। वह किसी और की विनती नहीं सुन सकता। उसकी दृष्टि में छोटी मां के सिवा शेष लोग नराधम हो गए हैं। वे ऐसे अवसरों पर बार-बार अपनी विशाल छाती पर मुक्के मारतीं और सब कुछ ईश्वर पर छोड़ने लगती थीं। पता नहीं, तब शायद उन्हें ऐसा ही बोध होता हो कि ईश्वर उनकी फाइल के अलावा किसी और की फाइल देख ही नहीं सकता। फल यह होता कि अड़ोस-पड़ोस वाले ऐसा मानने लगते थे कि अगर वे मेरे और उनके मामले में

हाथ डालेंगे, तो ईश्वर के कोप के पात्र बनेंगे और वे शान्त पड जाते। महिलाएं इस स्थिति से अपने को भरसक बचाने का प्रयत्न करती। भला किसे अपने को विधवा और निपूतिन देखना अच्छा लगता।

मेरी मां को भवमुक्त हुए पांच-छह साल गुजर चुके थे। अब तो यह छोटी मां ही इस घर में चिराग जलाती थी। ये, पिताजी जब घर में होते, तो मेरी मरम्मत करने का भार उन पर सौंपती और उनके चले जाने पर यह भार अपने दुर्बल कन्धों पर ले लेती थी। दस-ग्यारह साल का बच्चा मानव-स्वभाव की वैश्लेषिक प्रतिभा से भला कितना सम्पन्न हो सकता था ? मगर, इतना अवश्य अनुभव होता था कि इस पूरे मुहल्ले में यदि मुझे सबसे ज्यादा प्यार मिला है, तो सुनन्दा जीजी का और मैं पिट जाने के बाद भी इस प्रतीक्षा में था कि इस समय अगर सुनन्दा जीजी से भेंट हो जाती, तो वे मेरे आंसुओं को जरूर पोंछती, प्यार से थपथपाती और खींच कर अपने घर ले जाती। उनकी स्नेहछाया में आते ही मैं सम्भवतः अपनी सारी पीडाओं से बेखबर हो जाता। तभी बीच वाले मकान के भीतर से वह निकल आई। वे अपने घर की ओर मुडने वाली थीं, किन्तु उनका सिर मेरे घर की ओर मुडा और वे वहीं रुक कर क्षण-भर मुझे देखती रहीं।

"अरे हितेन्द्र !"

मैंने उनकी ओर इस प्रकार देखा, जैसे कहना चाहता होऊं—तुम अब तक कहां थीं ? मैं यहां पिट गया और तुम्हें कोई खबर ही नहीं। भई वाह ! तुम भी कमाल हो। जा, मैं तुमसे नहीं बोलता।

"ऐसे क्यों खडा है रे !"

सुनन्दा जीजी मेरी ओर बढीं। मैं निष्प्राण पाषाण-मूर्ति की भांति चुपचाप खडा रहा। किन्तु, इस बार उनकी ओर कुछ ज्यादा अपनापन से देखता रहा। वे बढ़ती-बढ़ती बिल्कुल मेरे पास चली आई। उन्होंने आते-आते मेरे चेहरे का मुआयना किया और पूछा, "क्या पीटे गए ?"

"हां, पीटा गया।"

"किसलिए ?" इस प्रश्न के साथ ही इस सोलहवर्षीया जीजी ने अपना बायां हाथ पहले मेरी गर्दन पर रखा, फिर उसी हाथ से मेरे सिर

को सहलाया।

मैं तब भला गर्वोक्ति, व्यंग्योक्ति अथवा अन्योक्ति को क्या समझता। मैंने अपने शरीर को कुछ कड़ा करते हुए कहा, "मुझसे क्या पूछती हो, जानना है तो छोटी मां से पूछो।"

जीजी ने मेरी पीठ को सहलाया। अब मेरी आंखों का गीलापन कम होने लगा था। जीजी ने अपने दुपट्टे के छोर से मेरे आंसू पोंछते हुए कहा, "मैं चाची से कुछ नहीं पूछती। तू चल मेरे साथ।"

"मैं नहीं जाता।" मैं अकड़ा।

"क्यों नहीं चलेगा?"

"मेरी खुशी।"

"नहीं, हर जगह तेरी ही खुशी नहीं चलेगी।"

"तो क्या कर लोगी? पीटोगी, चलो, शुरू कर दो।"

"शैतान! मैं और तेरे-जैसे भइया को पीटूंगी? तेरे-जैसा प्यारा-दुलारा भइया मुझे मिलेगा कहां!"—जीजी ने मेरा उत्साह बढ़ाया और आगे कहा, "चल, चल, नहीं तो चाची भीतर से आ निकलेंगी।"

इस बार मैंने अपना शरीर ढीला कर दिया।

मैंने एक बार घूर कर उस दरवाजे की ओर देखा, जिसे पार करके आंगन में आया-जाया जाता था। भीतर से दो-एक बर्तनों के बजने की आवाज सुनायी पड़ी। शायद महरिन बर्तन मांज रही थी।

"चल, चल।"

और मैं जीजी के साथ हो लिया। बीच वाले मकान के पास रुक कर जीजी ने मुझसे कहा, "मेरे साथ मेरे घर के भीतर मत चलना। बाहर वाले दूसरे कमरे में चले जाना। मैं भीतर जाकर तुरन्त लौटूंगी।"

मैंने सिर उठाकर जीजी की ओर देखा। मेरी इस क्रिया का मात्र एक ही अर्थ था—अच्छा! तुम लौटकर आना। मैं उसी कमरे में तुम्हारा इन्तजार करूंगा।

जीजी के मकान के मुख्य द्वार के सामने छोटा-सा अहाता था। उस अहाते में पहुंचते ही मैं उस दूसरे वाले कमरे की ओर बढ़ा, जिसमें रुक कर जीजी ने इन्तजार करने को कहा था। जीजी स्वाभाविक गति से अपने

घर के भीतर चली गईं। इस कमरे में आकर मैंने देखा, रोज की तरह आधे कमरे में पुआल बिछी थी। बीच में थोड़ी जगह छूट गई थी और परली तरफ चारपाई थी। मैं चलकर चरपाई के एक कोने पर बैठ रहा। लम्बा-सा एकान्त कमरा। दरवाजे खुले हुए थे और बाहर से हल्की हवा के झोके भीतर घुसपैठ कर रहे थे। यों तो जीजी के घर के किसी भी कमरे में मैं आ-जा लेता था, मेरे लिए कोई मनाही नहीं थी, मगर यह कमरा मेरे लिए एक खासियत रखता था। इसे कैसे भूल जाऊं कि उसी कमरे में जीजी और मैं—दोनों मिलकर आपस में तरह-तरह की मंत्रणा किया करते थे। वे अपने को लेकर, मगर मुझे लेकर ऐसी-ऐसी कल्पनाएं किया करती थीं कि मैं तात्कालिक दुःखों और अपमानजनक जीवन को तब तक के लिए भूल जाया करता था, जब तक मेरी अगली पिटायी नहीं होती थी।

कुछ ही मिनटों में जीजी लौटीं, तो उनके बाएं हाथ में अखबार के टुकड़े में लिपटी तीन-चार गुझिया थीं। उन्होंने चारपाई पर उन्हें फैलाते हुए कहा, ' देखो, चार गुझिया हैं। तीन तुम्हारे लिए और एक मेरे लिए।"

"क्यों जीजी, हम दो-दो क्यों न खाएं ?"

जीजी बोलीं, "दो तो तुम्हारे हैं ही, एक बड़ी बहन की ओर से छोटे भाई को भेंट !"

मैं गुझिया खाने लगा। जीजी की आदत बहुत धीरे-धीरे खाने की थी। उन्होंने अपनी गुझिया का थोड़ा-सा भाग काट कर अपने मुंह में डाल लिया और चरपाई पर बैठ गईं। अब मैं भी एक तरह से फांदकर उनकी बगल में बैठा रहा। जीजी ने मुझसे कहा, "कोई पूछे कि तुमने कितनी गुझियां खाईं, तो कह देना एक। समझे ?"

' हां, समझा। एक कह दूंगा।"

अब जीजी ने पूछा, "आज तुम्हारी पिटायी किसने की ? चाचा ने या चाची ने ?"

मैंने सच्ची बात बतलायी, "पिताजी ने।"

"किस बात पर ?"

मैं बोला, "मैंने पन्ना को नहीं पकड़ा, इसीलिए।"

पन्ना मेरा डेढ़ साल का सौतेला भाई था। पता नहीं

को सहलाया।

मैं तब भला गर्वोक्ति, व्यंग्योक्ति अथवा अन्योक्ति को क्या समझता। मैंने अपने शरीर को कुछ कड़ा करते हुए कहा, "मुझसे क्या पूछती हो, जानना है तो छोटी मां से पूछो।"

जीजी ने मेरी पीठ को सहलाया। अब मेरी आंखों का गीलापन कम होने लगा था। जीजी ने अपने दुपट्टे के छोर से मेरे आंसू पोंछते हुए कहा, "मैं चाची से कुछ नहीं पूछती। तू चल मेरे साथ।"

"मैं नहीं जाता।" मैं अकड़ा।

"क्यों नहीं चलेगा ?"

"मेरी खुशी।"

"नहीं, हर जगह तेरी ही खुशी नहीं चलेगी।"

"तो क्या कर लोगी ? पीटोगी, चलो, शुरू कर दो।"

"शैतान ! मैं और तेरे-जैसे भइया को पीटूंगी ? तेरे-जैसा प्यारा-दुलारा भइया मुझे मिलेगा कहां !"—जीजी ने मेरा उत्साह बढ़ाया और आगे कहा, "चल, चल, नहीं तो चाची भीतर से आ निकलेंगी।"

इस बार मैंने अपना शरीर ढीला कर दिया।

मैंने एक बार घूर कर उस दरवाजे की ओर देखा, जिसे पार करके आंगन में आया-जाया जाता था। भीतर से दो-एक बर्तनों के बजने की आवाज़ सुनायी पड़ी। शायद महरिन बर्तन मांज रही थी।

"चल, चल।"

और मैं जीजी के साथ हो लिया। बीच वाले मकान के पास रुक कर जीजी ने मुझसे कहा, "मेरे साथ मेरे घर के भीतर मत चलना। बाहर वाले दूसरे कमरे में चले जाना। मैं भीतर जाकर तुरन्त लौटूंगी।"

मैंने सिर उठाकर जीजी की ओर देखा। मेरी इस क्रिया का मात्र एक ही अर्थ था—अच्छा ! तुम लौटकर आना। मैं उसी कमरे में तुम्हारा इन्तजार करूंगा।

जीजी के मकान के मुख्य द्वार के सामने छोटा-सा अहाता था। उस अहाते में पहुंचते ही मैं उस दूसरे वाले कमरे की ओर बढ़ा, जिसमें रुक कर जीजी ने इन्तजार करने को कहा था। जीजी स्वाभाविक गति से अपने

घर के भीतर चली गईं। इस कमरे मे आकर मैंने देखा, रोज की तरह आधे कमरे मे पुआल बिछी थी। बीच में थोड़ी जगह छूट गई थी और परली तरफ चारपाई थी। मैं चलकर चरपाई के एक कोने पर बैठ रहा। लम्बा-सा एकान्त कमरा। दरवाज़े खुले हुए थे और बाहर से हल्की हवा के झोंके भीतर घुसपैठ कर रहे थे। यो तो जीजी के घर के किसी भी कमरे मे मैं आ-जा लेता था, मेरे लिए कोई मनाही नही थी, मगर यह कमरा मेरे लिए एक खासियत रखता था। इसे कैसे भूल जाऊं कि उसी कमरे में जीजी और मैं—दोनों मिलकर आपस मे तरह-तरह की मंत्रणा किया करते थे। वे अपने को लेकर, मगर मुझे लेकर ऐसी-ऐसी कल्पनाएं किया करती थी कि मैं तात्कालिक दुःखों और अपमानजनक जीवन को तब तक के लिए भूल जाया करता था, जब तक मेरी अगली पिटायी नही होती थी।

कुछ ही मिनटों में जीजी लौटी, तो उनके बाएं हाथ मे अखबार के टुकड़े मे लिपटी तीन-चार गुझिया थी। उन्होंने चारपाई पर उन्हें फैलाते हुए कहा, ' देखो, चार गुझियां हैं। तीन तुम्हारे लिए और एक मेरे लिए।"

"क्यों जीजी, हम दो-दो क्यो न खाएं ?"

जीजी बोली, "दो तो तुम्हारे हैं ही, एक बड़ी बहन की ओर से छोटे भाई को भेंट !"

मैं गुझिया खाने लगा। जीजी की आदत बहुत धीरे-धीरे खाने की थी। उन्होंने अपनी गुझिया का थोड़ा-सा भाग काट कर अपने मुह में डाल लिया और चरपाई पर बैठ गईं। अब मैं भी एक तरह से फांदकर उनकी बगल मे बैठा रहा। जीजी ने मुझसे कहा, "कोई पूछे कि तुमने कितनी गुझियां खाईं, तो कह देना एक। समझे ?"

' हां, समझा। एक कह दूंगा।"

अब जीजी ने पूछा, "आज तुम्हारी पिटायी किसने की ? चाचा ने या चाची ने ?"

मैंने सच्ची बात बतलायी, "पिताजी ने।"

"किस बात पर ?"

मैं बोला, "मैंने पन्ना को नहीं पकड़ा, इसीलिए।"

पन्ना मेरा डेढ साल का सौतेला अनुज था। पता नह

में कोई ज़िद पाले बैठी थीं या क्या, उसकी कई प्रकार की देखरेख उन्होंने मुझ पर सौंप डाली थीं। मैं अपनी लियाकत भर उसे चूमता-खेलाता और पुचकारता था। उसे गोद में लेकर उसका दिल बहलाने के लिए पास की गली में भी निकल आता, मगर इतने से छोटी मां का जी नहीं भरता था। वे कुछ ऐसा चाहती थीं कि मैं हमेशा उसकी ही सेवा में लगा रहूं। खास कर तब वे मुझ पर और कड़ाई करतीं, जब मैं गृहकार्य पूरा करने के लिए किताब-कापी फैला कर बैठ जाता था। वे मेरे नाम कई कटूक्तियां निकालतीं और पिताजी का ध्यान खींच कर कहतीं, "भला यह लड़का पढ़ने वाला है ? यह क्या पढ़ेगा। देखने में तो एकदम सलोना है, मगर भीतर से पूरा चाण्डाल है। तुम तो दुकान पर थे, यह कल पन्ना को बाहर ले जाकर मिट्टी खिला रहा था। मैं कहती हूं, इसे मिट्टी-पत्थर-कीट-पतंग जो भी खाना हो खाए, मैं नहीं रोकने जाती, लेकिन मेरे बच्चे को तो बख्श दे।"

"क्यों, तुम इसे क्यों नहीं रोक सकतीं ?" पिताजी पूछते।

छोटी मां का सीधा-सा जवाब होता, "कैसे रोकूंगी भाई। यहां तो सौतेली मां होने का तमगा आंचल में ऐसा टंका हुआ है कि चाहे लाख भला कर दो, लोगों को बुरा ही नज़र आएगा। कहावत है, बाघ आदमखोर भले न हो, मगर देखने वालों को उसके होंठ हमेशा खून से गीले ही नजर आते हैं।"

"बहरहाल मैं तो तुम्हें कुछ नहीं कहता।"

"तुम्हारे न कहने से क्या होता है। तुम मुझे कुछ टोकोगे, तो समाज कहेगा कि यह सब दिखावा है कि हम समझें कि पहली वाली के बच्चे का बड़ा ध्यान रखते हैं। नहीं टोकोगे, तो लोग खुलेआम कहेंगे—नए आंचल की हवा में कुछ और ही गर्मी होती है। इस दूसरी ने दुल्हे को एकदम कब्जे में कर लिया है। हितेन्द्र बेचारा तो अपने घर में ही शरणार्थी बन गया है। समझे ? क्या समझे ?"

पिताजी वास्तव में क्या समझते और क्या नहीं समझते थे, इसे वही जानें, मगर तब उनकी भंगिमा ऐसी अवश्य हो जाती, जिसका अर्थ होता था कि छोटी मां ने जितना कुछ समझाना चाहा था, वे उससे कहीं अधिक

समझ गए। इसके बाद वे किसी बहाने के घात में लगे होते और मेरी ओर से कोई छोटी-सी भूल होते ही मुझे जी भरकर पीट डालते थे। हां, जब वे पीटकर एक प्रकार से मुझे थका डालते, तब छोटी मां दौड़ कर आती और उनके हाथ पकड़ कर कहती, "छोड़ो, यह क्या करते हो? मारोगे-पीटोगे तुम और मुहल्ला भर मेरे नाम पर थूकेगा। मारना ही है, तो बाहर ले जाकर मारो, ताकि लोगों की नजर पड़े।"

एक ही प्रकार की घटना का, जिसकी पुनरावृत्ति बार-बार होती हो, खुलासा करना भी पुनरुक्तिदोष माना जाना चाहिए। इसलिए मैं इस पुनरुक्तिदोष से बचना चाहता हूं।

पिताजी साढ़े आठ अथवा नौ बजते-बजते दुकान जरूर चले जाया करते थे। रात में शायद नौ बजे से पहले नहीं लौटते थे।

एक दिन छोटी मां ने पिताजी को सुझाया, "यह तुम्हारा लाडला सौ जनम में भी कारपोरेशन के स्कूल का आखिरी दरजा नहीं पास करेगा। उपली में घी सुखाने में क्या लाभ? ऐसा करो कि इसे अपने साथ दुकान में बिठाओ। अपना काम सीख जाएगा, तो तुम्हारा सहारा बनेगा। आदमी फल के पौधे इसीलिए तो रोपता है कि फल खाने को मिलें।"

और पिताजी ने भी बड़ी आसानी से कह दिया था, "हां, ठीक कहती हो। मैं भी यही सोच रहा हूं।" और दुकान चले गए थे।

आज मेरी बात सुन कर जीजी बोलीं, "पन्ना आखिर है तो तुम्हारा भाई ही। उसे पकड़ा करो, मगर ऐसा न हो कि तुम्हें पढ़ने-लिखने का मौका ही न मिले। एक बात जानते हो? जो बच्चे बचपन में दुःख भोगते हैं, बड़े होकर सुख उठाते हैं।"

"तो बड़ा होकर मैं भी सुख उठाऊंगा?" मैंने पूछा।

जीजी ने मेरे इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा, "जरूर उठाओगे। सब्र से काम लो। कोई परेशानी हो, तो मुझसे कहो।"

अपनी उम्र, अपनी आवश्यकताओं और अपने घरेलू वातावरण को देखते हुए मुझे स्मरण नहीं आता कि मैंने अपनी कौन-सी परेशानी सुनन्दा जीजी से नहीं बतलायी और उन्होंने मेरे किस दुःख को हंसकर टाल दिया। जब भी मिलते, उनके प्यारे-प्यारे, मत्स्याकार नेत्रों से मुझे यही

में कोई ज़िद पाले बैठी थीं या क्या, उसकी कई प्रकार की देखरेख उन्होंने मुझ पर सौंप डाली थीं। मैं अपनी लियाक त भर उसे चूमता-खेलाता और पुचकारता था। उसे गोद में लेकर उसका दिल बहलाने के लिए पास की गली में भी निकल आता, मगर इतने से छोटी मां का जी नहीं भरता था। वे कुछ ऐसा चाहती थीं कि मैं हमेशा उसकी ही सेवा में लगा रहूं। ख़ास कर तब वे मुझ पर और कड़ाई करतीं, जब मैं गृहकार्य पूरा करने के लिए किताब-कापी फैला कर बैठ जाता था। वे मेरे नाम कई कटूक्तियां निकालतीं और पिताजी का ध्यान खींच कर कहतीं, "भला यह लड़का पढ़ने वाला है ? यह क्या पढ़ेगा। देखने में तो एकदम सलोना है, मगर भीतर से पूरा चाण्डाल है। तुम तो दुकान पर थे, यह कल पन्ना को बाहर ले जाकर मिट्टी खिला रहा था। मैं कहती हूं, इसे मिट्टी-पत्थर-कीट-पतंग जो भी खाना हो खाए, मैं नहीं रोकने जाती, लेकिन मेरे बच्चे को तो बख्श दे।"

"क्यों, तुम इसे क्यों नहीं रोक सकतीं ?" पिताजी पूछते।

छोटी मां का सीधा-सा जवाब होता, "कैसे रोकूंगी भाई। यहां तो सौतेली मां होने का तमगा आंचल में ऐसा टंका हुआ है कि चाहे लाख भला कर दो, लोगों को बुरा ही नजर आएगा। कहावत है, बाघ आदम-खोर भले न हो, मगर देखने वालों को उसके होंठ हमेशा खून से गीले ही नजर आते हैं।"

"बहरहाल मैं तो तुम्हें कुछ नहीं कहता।"

"तुम्हारे न कहने से क्या होत[illegible] मु[illegible]
कहेगा कि यह सब दिखावा है [illegible]
बड़ा ध्यान रखते हैं। नहीं टे[illegible]
की हवा में कुछ और ही ग[illegible]
कब्जे में कर लिया है। [illegible]
गया है। समझे ? क्या [illegible]

पिताजी वास्तव [illegible]
जानें, मगर तब उनके[illegible]
था कि छोटी मां ने [illegible]

समझ गए। इसके बाद वे किसी बहाने के घात में लगे होते और मेरी ओर से कोई छोटी-सी भूल होते ही मुझे जी भरकर पीट डालते थे। हां, जब वे पीटकर एक प्रकार से मुझे थका डालते, तब छोटी मां दौड़ कर आतीं और उनके हाथ पकड़ कर कहतीं, "छोड़ो, यह क्या करते हो? मारोगे-पीटोगे तुम और मुहल्ला भर मेरे नाम पर थूकेगा। मारना ही है, तो बाहर ले जाकर मारो, ताकि लोगों की नजर पड़े।"

एक ही प्रकार की घटना का, जिसकी पुनरावृत्ति बार-बार होती हो, खुलासा करना भी पुनरुक्तिदोष माना जाना चाहिए। इसलिए मैं इस पुनरुक्तिदोष से बचना चाहता हूं।

पिताजी साढ़े आठ अथवा नौ बजते-बजते दुकान जरूर चले जाया करते थे। रात में शायद नौ बजे से पहले नहीं लौटते थे।

एक दिन छोटी मां ने पिताजी को सुझाया, "यह तुम्हारा लाड़ला सौ जनम में भी कारपोरेशन के स्कूल का आखिरी दरजा नहीं पास करेगा। उपली में घी सुखाने से क्या लाभ? ऐसा करो कि इसे अपने साथ दुकान में बिठाओ। अपना काम सीख जाएगा, तो तुम्हारा सहारा बनेगा। आदमी फल के पौधे इसीलिए तो रोपता है कि फल खाने को मिलें।"

और पिताजी ने भी बड़ी आसानी से कह दिया था, "हां, ठीक कहती हो। मैं भी यही सोच रहा हूं।" और दुकान चले गए थे।

आज मेरी बात सुन कर जीजी बोलीं, "पन्ना आखिर है तो तुम्हारा भाई ही। उसे पकड़ा करो, मगर ऐसा न हो कि तुम्हें पढ़ने-लिखने का मौका ही न मिले। एक बात जानते हो? जो बच्चे बचपन में दुःख भोगते हैं, बड़े होकर सुख उठाते हैं।"

"तो बड़ा होकर मैं भी सुख उठाऊंगा?" मैंने पूछा।

जीजी ने मेरे इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा, "जरूर उठाओगे। सिर्फ सब्र से काम लो। कोई परेशानी हो, तो मुझसे कहो।"

अपनी उम्र, अपनी आवश्यकताओं और अपने घरेलू वाता
देखते हुए मुझे स्मरण नहीं आता कि मैंने अपनी कौन-सी परेशा
जीजी से नहीं बतलायी और उन्होंने मेरे किस दुःख को हंसकर ८
हम जब भी मिलते, उनके प्यारे-प्यारे, मत्स्याकार नेत्रों से मुझे

मुखर होता नजर आता कि वे मुझसे कह रहे हैं—"हितेन्द्र, संकोच न करो। मैं हमेशा तुम्हारे दुःख में साझीदार बनने को तैयार हूं।"

हमारी आपस में कुछ इस प्रकार बातें होतीं, गोया हम किसी भारी षड्यन्त्र में जुटे हुए हैं। चाहते हैं कि इस रहस्य को हम दोनों के सिवा कोई और न जाने। अवसर पाकर एक शाम मैंने उनके ही छोटे-से अहाते में फालसे की पतली-सी डाली झुकाते हुए उन्हें बतलाया, "पिताजी मुझे अपने साथ दुकान में बिठाना चाहते हैं। छोटी मां कहती हैं कि मुझे पढ़ाना और उपली में घी सुखाना बराबर है।"

"अरे, नहीं।" जीजी ने आश्चर्यपूर्वक कहा। शायद उन्हें विश्वास नहीं हुआ। फिर मैंने उन्हें विस्तार से बतलाया।

सुनकर उनका दीप्त मुखमण्डल दीप्तिमुक्त होने लगा। बोलीं, "मगर तुम्हें पढ़ना है और तुम पढ़ोगे।"

"वह कैसे ?"

"देखो, मैं बतलाऊंगी।"

सुनते ही मेरा मन प्रसन्न हो आया। मुझे लगा, जीजी के पास कोई उपाय जरूर है। तभी उन्होंने कहा, "तुम रात-दिन मेहनत करके फर्स्ट डिवीजन में पास करके दिखला दो।"

"इससे क्या होगा जीजी ?"

"तब लोग तुम्हारे पिताजी से कहेंगे कि लड़का होनहार है। इसे दुकान पर न बिठाकर आगे पढ़ाओ। भई, घर में किसी का पढ़ा-लिखा होना भी जरूरी है।"

"अच्छा, तो ये बात है ? तब तो मैं इस बार जरूर फर्स्ट आकर दिखला दूंगा।"

"बस तो दिखला दो।"

इस प्रकार सुनन्दा जीजी ने मेरे टूटते हुए भविष्य को बचा लिया था। मैंने अप्रेल में आठवीं की परीक्षा दी और सचमुच फर्स्ट आ गया। छोटी मां तो नहीं, मगर पिताजी उस रोज जरूर प्रसन्न नजर आए, जिस रोज मेरा परीक्षा-फल निकला। छोटी मां की ओर से मेरे प्रति प्रशंसा का एक भाव भी नहीं प्रदर्शित किया गया।

दूसरे दिन शायद अपने जेबखर्च के पैसों से जीजी ने पड़ोस की दुकान से अहलेसुबह लड्डू मंगवाए और अपने ही घर में भगवान की पूजा की। मुझे इशारे से बुलाकर अपने घर ले गईं और मेरे हाथों में चार लड्डू देते हुए कहा, "भगवान् का प्रसाद है, खाओ। तुम फर्स्ट आए हो न, मैंने भगवान् से मन्नत मानी थी।"

उधर से सुनन्दा जीजी की मां बोली, "हितेन्द्र, जब सुनन्दा का ब्याह हो जाएगा, तो इसे बुलाने तुम्हें ही जाना होगा।"

मैंने लड्डू खाते हुए कहा, "मैं एकदम जाऊंगा। खूब बाजे बजवा कर जीजी को लिवा लाऊंगा।"

जीजी ने शरमा कर अपना चेहरा मेरी ओर से उधर फेर लिया। तब चाची बोली, "शरमाती क्यों हो, यह तो बच्चा है। और हां, बात भी मैं सच कह रही हूं। तुम्हारे दोनों सगे भाई तो एकदम निकम्मे हैं। शादी-ब्याह उनके क्या हुए, अपनी बीवी के हाथ बिक गए। देखना, यही हितेन्द्र तुम्हारी खोज-खबर लिया करेगा।"

सुनन्दा जीजी ने तब भी अपनी ओर से कोई प्रतिक्रिया नहीं जाहिर की। मैं आगे चल कर क्या कर सकता था और क्या नहीं, यह सब तो शायद भवितव्य के हाथों की ही बात रही, परन्तु इतना तो मैं देखता ही था कि सुनन्दा जीजी के दोनों बड़े भाई साल-छह महीने में कभी-कभी दो-चार दिनों के लिए अपनी-अपनी पत्नी के साथ दिख जाते थे। चाचा बड़े खुश होते। वे मेरे घर के दरवाजे पर खड़े होकर पिताजी को बुलाते और इनमें से जो आया होता, उसका नाम लेकर उसके आगमन की सूचना देते और साथ ही कहते, "वे शायद चौथे दिन चले जाएंगे। उनके साथ ले जाने के लिए थोड़ा देशी घी का प्रबन्ध करा दो। रुपए कहो, तो अभी दे दूं।"

"रुपए आप पीछे देते रहेंगे। घी का इन्तजाम हो जाएगा।"

चाचाजी आश्वस्त होकर या तो अपने घर लौट जाते या फिर आगे बढ़ जाते थे। थोड़ी देर बाद जीजी मेरे घर आतीं और छोटी मां को बतलातीं कि उनके कौन भैया आए हैं। यह सूचना देते समय वे ताजे खिले गुलाब से भी ज्यादा तरोताजा नजर आती थीं। फिर लौटती बार वे

मुझे अपने साथ लिए जातीं और अपने भाई, अपनी भाभी से मिलवाती थीं। मैं भी प्रफुल्लित हो उठता था।

मैं नित्यप्रति जीजी की आशुकृपा से सिक्त होता चला जा रहा था। वे अपने हिस्से की मिठाइयां और फल ही मुझे नहीं खिलातीं, बल्कि उन्हें जो पैसे सीमित जेबखर्च के लिए मिलते, उनमें भी वे मुझे अपना साझीदार बनाने में नहीं चूकती थीं। और मैं ? मैं उनसे कुछ इस क़दर हिल गया था कि अपनी आर्थिक मांगें उनके सामने रखने में तनिक भी संकोच नहीं करता था। तब मुझे इतना ज्ञान नहीं था कि मेरा दिल मुझसे कहता—हितेन्द्र, तू सुनन्दा जीजी की ममता का ग़लत लाभ उठा रहा है। सामान्य स्थिति के ब्राह्मण-परिवार की इस कुमारी कन्या के पास भला अपना कोष कहां से होगा ?

जुलाई से सारे स्कूल-कॉलेज खुलने वाले थे। प्रातःकाल मे समय थोड़ा और ढल गया था। छोटी मां का आदेश हुआ था कि मैं आंगन के कोने में एकत्र कूड़े को उठा कर फेंक आऊं। मैं लोहे की एक बड़ी-सी कड़ाही में कूड़ा बटोर रहा था कि जीजी आ पहुंचीं। छोटी मां रसोई में कचौड़ियां छान रही थीं और पिताजी पूजागृह में पूजा कर रहे थे। मैंने एक नजर जीजी की ओर डाली और बहुत ही संकुचित ढंग से मुस्करा पड़ा।

"अच्छा हितू, कूड़ा साफ हो रहा है। बहुत अच्छी बात है। ठहर, मैं एक-दो घर तुम्हारे लिए और बातें कर देती हूं। महीने की बंधी आमदनी हो जाएगी। ठेले वाले रोज निकलते हैं। गरम-गरम बताशे खाया करना।" जीजी बोलीं।

उनकी आवाज सुनते ही रसोई के भीतर से ही छोटी मां आवाज में कहा, "अच्छा, सुनन्दा ! आओ बिटिया, कचौड़ियां जाना।"

रसोईघर के रूप में मेरे यहां अलग से कोई कमरा नहीं था। में दो ओर से लगभग चार फीट ऊंची दीवार खींच कर रसोई दिया गया था। स्थान काफी था, चूंकि बरामदा चौड़ा था। भोजन बनाने के लिए पर्याप्त सामान रखने की व्यवस्था थी।

सामने वाले बरामदे में चारपाई रखी हुई थी। जीजी उस चारपाई के पास ही जाकर खड़ी हो गईं। मैं एक कड़ाही कूड़ा भरकर बाहर फेंक आया। छोटी मां का ध्यान बंट गया था। उन्होंने जीजी से पूछा, "आज तुम्हारे बड़े भाई आने वाले हैं न ?"

जीजी बोलीं, "हां, पिताजी यह तो रहे थे।"

मैं फिर कड़ाही में कूड़ा बटोरने लगा था।

यहां मेरी स्थिति विपरीत थी और मुझे इस बात का बोध हो गया था कि ऐसे समय में लपक कर जीजी की क्षीण कटि में हाथ डालकर बातें करने लगना अनुचित है। गले में हाथ डालना भी ठीक नहीं। मैं तब कुछ ऐसा ही अनुभव कर रहा था कि इस स्थिति पर मेरा कोई वश नहीं। जीजी चारपाई के पास से छोटी मां की ओर बढ़ीं। उन्होंने पूछा, "चाचाजी, चाचाजी कहां हैं ?"

छोटी मां ने बतलाया, "वे पूजा कर रहे हैं। बस अभी आ जायेंगे।" और रसोईघर से बाहर निकल आईं। अपने आप कहने लगीं, 'बिटिया, अब तो जमाना ऐसा आ रहा है कि हम अपने सारे काम आप करेंगे। महरिन कुछ और काम क्या करेगी, जो करने के लिए तय है, वही नहीं करती।"

"हां, यह तो है।"

छोटी मां बोलीं, "अब बतलाओ न ! मैं लाचारीवश ही तो हिंदू से यह कूड़ा उठवा रही हूं। वह तो छोटे-छोटे बर्तन मांज-धोकर निकल गई, अब समझो, तीन-चार बजे आवेगी। जैसे ही आई थी, मैंने कह दिया था कि कूड़ा बाहर फेंक आना, मगर वह तो अनसुनी करके चली गई।"

मैं दोनों की बातें सुन रहा था। छोटी मां बिलकुल झूठ बोल गई थीं। उन्होंने महरिन से ऐसा कुछ भी नहीं कहा था।

इसी बीच पिताजी पूजागृह से बाहर निकल आए। जीजी ने हाथ जोड़कर उनका अभिवादन किया। पिताजी ने आशीर्वचन कहे और साथ ही यह प्रश्न किया, "अरी बिटिया, यह हाथ जोड़ कर नमस्ते करना तूने किससे सीख लिया ?"

जीजी ने बड़े सहज भाव से बतलाया, "एक सहेली के घर कल गई

थी। वह बिहारी है न ! उसने जब अपने छोटे भाई-बहनों से मेरा परिचय कराया, तो उन्होंने बारी-बारी से मेरे पांव छुए, जो नमस्कार का ही रूप था। चाचाजी, मुझे तो यह सब बड़ा ही अच्छा लगा।"

पिताजी खाली बदन थे। सिर्फ धोती बांध रखी थी। उनके चौड़े और प्रशस्त ललाट पर तीन चन्दन-रेखाएं खिंची हुई थीं। उन्होंने छोटी मां की ओर देखते हुए कहा, "सुनती हो ? हम ऐसा करें कि जिसमें बिटिया का विवाह कहीं बिहार में ही तय हो जाए। खूब भात खाने को मिलेगा। उस दिन भाभी जी बतला तो रही थीं कि सुनन्दा बासी भात तक नहीं छोड़ती, रात में दाल-भात मिलाकर बघार लगा देती और मजे-मजे खा लेती है।"

छोटी मां मुस्करा पड़ीं। लगा, वे कुछ भावुक हो आईं। बोलीं, "अब तुम लोग बाप-चाचा हो, बिहार में डालो या मध्य प्रदेश में। बेटी तो मूक धन है। जिधर डाल दोगे, डल जाएगी।"

जीजी ने फौरन प्रसंग बदल दिया। बोलीं, "चाचाजी, अब तो स्कूल-कॉलेज खुलेंगे ही। शायद आठ जुलाई से ही।"

"देखो, तब तक तो खुल जाने चाहिए।"

"अब तो कारपोरेशन वाले स्कूल से इस हितेन्द्र को छुट्टी मिल गई। बेचारा फर्स्ट डिवीजन भी ले आया है। इस बार इसे आर्यसमाज इण्टर कॉलेज में डालिए, तो अच्छा रहेगा। वहां पढ़ायी अच्छी होती है।" जीजी बोलीं। पिताजी अभी कुछ कहना ही चाहते थे कि छोटी मां ने प्रसंग बदल देना चाहा। वे पुनः पहले प्रसंग को पकड़कर बोलीं, "सुनन्दा की मां कल आई थीं। शादी की बात तो उनके मन में भी है। मगर, सवाल यह है कि जन्मकुण्डली मिल जाए। सुनन्दा को क्या मालूम, कई जगहों से जन्मकुण्डलियां आईं, लेकिन उनमें से एक भी न मिली।"

"अच्छा, देखा जाएगा। अभी हमारी सुनन्दा कौन बूढ़ी हुई जा रही है।" पिताजी ने कहा।

इस बार जीजी ने अपना प्रसंग पकड़ा। पिताजी चारपाई की ओर बढ़ते आ रहे थे। जीजी ने पूछा, "तो चाचाजी, आपका इरादा हितू को किस कॉलेज में भेजने का है ?"

"देखो...।" पिताजी ने शायद छोटी मां को प्रसन्न करने के इरादे

से अपनी अरुचि प्रदर्शित की।

"फिर भी। कुछ तो आपने सोचा होगा।"

अब पिताजी को बोलना पड़ा। उन्होंने कहा, "मेरा इरादा कुछ और है। मैं चाहता हूं कि हितू अब दुकान में बैठा करे।"

जीजी ने फौरन विरोध किया, "नहीं चाचाजी, लड़का पढ़ने वाला है। इसे पढ़ाइए। किसने किसकी भाग्यरेखा पढ़ी है? क्या पता, हितू पढ़-लिख कर अफसर ही बन जाए।"

छोटी मां को जीजी का कथन सर्वथा अन्यथा लगा था। वे बोल पड़ी थीं, "एक बार फर्स्ट आ जाने से क्या होता है बिटिया!"

"क्यों, मैं तो एक बार भी फर्स्ट नहीं आई चाची! मेरे भाई ने एक बार फर्स्ट आकर दिखला तो दिया। होगा कोई दस बार फर्स्ट लाने वाला। हमारा मतलब तो बस हितू से है।"

मेरी कड़ाही भर चुकी थी। मगर मैं अपने को घर से बाहर निकालने में टाल रहा था। कड़ाही में पड़े कूड़े को बार-बार सभालता रहा। मैं यह दिखलाना चाहता था कि अगर कूड़े को ठीक प्रकार संभालकर बाहर नहीं निकलूंगा, तो कूड़ा रास्ते में गिर पड़ेगा। बरामदे और दहलीज को गन्दा करेगा।

तब लगा पिताजी छोटी मां के मन की बात कह कर भी अपनी स्थिति सुदृढ़ नहीं कर सके, वरना छोटी मां को क्यों बोलना पड़ता। उन्होंने सुनन्दा जीजी की बात काटते हुए कहा, "अरी बिटिया, सभी कुत्ते काशी ही चले जाएंगे, तो हाडी में कौन मुह डालेगा? नकल टीप सी होगी इसने। इसे समझती क्या हो, अपनी लाइन का तीसमार खां है।"

लगा, तब पिताजी कुछ उत्साहित हुए। उन्होंने मां का समर्थन करते हुए कहा, "अरे, इसमें क्या है? अफसर भी नौकरी करके पैसे कमाता है और व्यापारी व्यापार करके। उद्देश्य तो दोनों का रोटी-दाल की समस्या हल करना होता है। तो फर्क इस बात का पड़ता है कि एक पढ़-लिख कर नौकर बनता है, दूसरा नहीं पढ़-लिख कर भी मालिक रहता है। नौकरी में तो बंधे पैसे मिलते हैं, व्यापार में दूसरी बात होती है। हितू अभी से दुकान में बैठने लगे तो बीस साल का होते-होते…।"

जीजी ने हस्तक्षेप कर दिया, "यह आप ठीक कहते हैं चाचा जी ! मगर इस तरह के व्यापारियों को शिक्षित लोगों के बीच गूंगा बन कर बैठना पड़ता है। उसके पास उठने-बैठने, आने-जाने वाले शिक्षितों की संख्या नहीं के बराबर होती है।"

छोटी मां कुछ बोलने को हुईं, मगर शायद कुछ सोच कर चुप रह गई। जीजी की बातें सुन कर मेरे पिताजी जैसे बुरे फंसे। चुपचाप बढ़कर चारपाई पर आ बैठे और मैं भी कूड़े से भरी लोहे की कड़ाही लेकर बाहर निकला।

३

पिताजी और छोटी मां ने मिलकर मेरी आगे की पढ़ाई के खिलाफ जैसे एक संयुक्त मोर्चा बना लिया और खंजननयनों को पराजित करने वाले नयनों की स्वामिनी सुनन्दा जीजी ने चुपके-चुपके टोले-मुहल्ले भर में उनके विरुद्ध शाब्दिक आक्रमण की शंखध्वनि कर दी। पहले वे घर से कुछ दूर किसी के यहां जातीं, तो महरिन को साथ कर लेतीं, अब वे मुझे साथ लेने लगीं। मेरा खेलने-घूमने का दायरा सीमित था, उसके समय में भी छोटी मां ने बेहद कटौती कर दी थी। इसलिए बिलकुल पास के लोगों को छोड़ कर शेष में से कइयों ने मेरी पहचान खो दी थी। उनमें से मुझे देख कर कई जीजी से पूछ बैठते, "यह रामदीन जायसवाल का लड़का है न ?" और जीजी फौरन इन शब्दों में जवाब देतीं, "हां, उनका ही लड़का है। मगर समझो, पिछले जन्म में यह मेरा सहोदर भाई था। जरा सोचो तो सही ! इतना प्यारा-दुलारा लड़का है। रामदीन चाचा इसे आगे पढ़ाने को तैयार नहीं हैं। पिछली बार इसने इम्तहान दिया और फर्स्ट आया।"

और इस प्रकार मेरे विषय में एक-दो मिनट बातें हो जातीं।

"मां तो दूसरी सौतेली है न ?"

"हां, मगर इससे किसी को क्या लेना देना :"—प्रश्नकर्ता को उत्तर देते हुए जीजी कहती, "रामदीन चाचा ने दूसरा विवाह कर लिया, तो कोई स्वर्ग की जमीन पर नहीं थूक दिया। बहुत सारे लोग दूसरी शादी करते हैं। कुछ ऐसा तो नहीं हुआ कि पहली वाली चाची के रहते उन्होंने दूसरी शादी कर ली। मेरा मतलब सिर्फ इस बात से है कि इसकी आगे की पढ़ाई न रोकी जाए।"

"क्या रामदीन अब इसे नहीं पढ़ाना चाहते ?"

"शायद नहीं। उनकी इच्छा है कि अब यह कपड़े की दुकान में बैठे।"

"वहां इसका क्या काम ?"

"काम तो निकल ही आएगा। गज से कपड़े नापेगा। रद्दी कपड़े को अच्छा कपड़ा बतलाएगा। ज्यादा कपड़े खरीदने वालों के लिए दौड़ कर बाहर से पान ले आएगा। हो सकता है, उनके लिए चाय वाले को आवाज भी लगाये।" जीजी का उत्तर होता। ऐसे शब्द कहते समय लगता, जीजी एक प्रकार से वणिक-जाल का उपहास ही करती। लेकिन, तब मैं इतनी समझ नहीं रखता था कि उनके ऐसे कथनों का विश्लेषण कर सकू। जब और बड़ा हुआ, तो समझ में आने लगा कि वक्ता की मनोभूमि के परिवेश में शब्द भी अर्थलीला करते हैं।

जुलाई का प्रारम्भ हुआ और आषाढ़ के भी कुछ दिन निकल गए। जीजी का यह अभियान जारी था कि हितेन्द्र की पढ़ाई बन्द न करायी जाए। कालिदास के अनेकश मेघदूत विविध वर्ण धारण कर निस्सीम गगनमंच पर उच्च स्वर में काव्यघोष करने लगे। सन्ध्या गहरी धूमिल चादर ओढ़ती जा रही थी और मैं जीजी के मकान के सामने जो तालाब था, उसके पार वाले आम के बगीचे में अपने पिछवाड़े के दो-तीन समवयस्क मित्रों के साथ इस आशा में उपस्थित था कि अभी-अभी जोरों की आंधी आएगी और दो-चार पके हुए आम जरूर टपक पड़ेंगे। मेरे एक मित्र ने तो यहां तक दावा किया था कि आम इतनी ज्यादा संख्या में गिरेंगे कि हम उन्हें दामनों में नहीं बटोर सकेंगे, टोकरी लाने की नौबत आ जाएगी।

मैं एक ही साथ एक आजाद इंसान और कैद में पड़े आदमी का जीवन जिता रहा था। जब तक घर में रहता, छोटी मां मेरे लिए कठोर-क्रूर जेलर बनी रहतीं। मुझे डांटते-डपटते रहना और इस बात का अहसास कराते रहना कि मैं इस पृथ्वी के लिए एक भार के सिवा कुछ नहीं, जैसे उनका परम कर्तव्य था। घर के वातावरण को लांघ कर बाहर निकल जाने पर मैं अपने को स्वतंत्र अनुभव करता था। घर में पांव डालते ही मैं एक अजीब हीनता से भर जाता था। छोटी मां मेरी खोज-खबर तभी लेतीं, जब उन्हें मुझसे काम लेने होते थे। मैं उनसे हमेशा गला छुड़ाने की कोशिश में लगा रहता।

आंधी सनसना आ गई। वृक्ष यों हिलने लगे, जैसे जड़समेत उखड़ जाएंगे। उनकी डालियों में भयावह चरमराहट होने लगी। सूखे पत्तों के साथ मोटी धूल का गुब्बार छाने लगा। लगा, सभी दिशाओं में हाहाकार मच गया। अब हमें आमों के गिरने की आवाज तक नहीं सुनायी देने वाली थी, जमीन पर उन्हें ढूंढ़ लेना तो और भी मुश्किल काम था। धूलों के धुएं में लग रहा था कि तालाब छुप गया है। बगीचे के पूरब सिन्धी परिवार का विशाल मकान साफ नजर नहीं आ रहा था। हम में से किसी ने कहा—"चलो, भागो।" और हम अपने-अपने घर की ओर भागे। हम छितर-बितर गए। धूलों की बौछार आंखों पर निरन्तर पड़ती जा रही थी। मैं हथेलियों की ओट बनाता और आंखें बचाता हुआ भागता चला जा रहा था।

मैदान लांघकर सुनन्दा जीजी के अहाते में पहुंचा। मैं चाहता, तो उनके ही घर जाकर छिप जाता। लेकिन, मैं तो एक तरह से बदहवासी में भागता हुआ जेलखाने यानी अपने घर पहुंच गया। भीतर से प्रवेश द्वार बन्द था। बत्तियां अभी-अभी जली थीं। मगर, अब तो वे सब-की-सब बुझ चुकी थीं। लगा, यह विपत्ति आंधी ने ढायी है।

मैंने साहस करके दस्तक दी और वह भी जोर-जोर से।

किसी ने दरवाजा नहीं खोला।

मेरा दस्तक देना जारी रहा। इधर आंधी एकाएक एकदम धीमी पड़ने लगी। बादलों का समूह इकट्ठा होने लगा था। मैंने सिर उठाकर

आकाश की ओर देखा। घने और काले बादल। मैं फिर दस्तक देने को मुड़ा। इस बार सोच लिया था, किसी ने आवाज न सुनी, तो खूब पीटूंगा दरवाजे को। अक्ल में यह बात नहीं आ रही थी कि भागता हुआ सुनन्दा जीजी के घर चला जाऊं।

और इस बार भी छोटी मां ने दस्तक का कोई खयाल नहीं किया। मैं यथाशक्ति दरवाज़े से भिड़ पड़ा। उस पर खूब धक्के देने लगा। तब शायद दो-तीन मिनट बाद दरवाजा खुला और खोलने वाले थे, मेरे पिताजी। मैं अंधेरे में उनकी मुखाकृति तो नहीं देख सका, मगर मेरा अनुमान है कि तब वह बड़ी भयावनी हो उठी होगी। दरवाजा खोलकर क्षण भर वे अवकाश की स्थिति में पड़े रहे और बाद में उन्होंने फौरन मेरा दायां हाथ पकड़कर मुझे जोरों से अपनी ओर घसीटा। घसीट कर एक जोर का धक्का दिया। मेरा झबरीले बालों वाला सिर दीवार से जा टकराया। अंधेरा था, मैं क्या देख पाता। पर, तब गुस्से से उनके नथुने जरूर फड़फड़ा रहे होंगे। दीवार से सिर में लगी चोट से मैं संभल भी नहीं पाया था कि उन्होंने मेरी गर्दन पर दो-तीन धौल जमाये और अतिशय घृणा के स्वर में कहा, "भाग जा, निकल जा यहां से। अब जो घर में पैर रखा तो ऐसी मार पड़ेगी कि जिसका जवाब नहीं।"

इतने में भारी-भारी बूंदें आसमान से गिरने लगीं। आंधी का वेग जैसे एकदम शान्त पड़ गया और धीरे-धीरे वर्षा की गति तीव्र हो उठी। पिताजी दरवाजा खोलकर निकले थे, अब दरवाजा बन्द करके भीतर चले गए। मैं चुपचाप भीगता खड़ा रहा। सिर की चोट मुझे अभी भी आहत किए दे रही थी। मैंने झबरीले बालों के बीच में उंगलियां फेरी, तो अनुभव किया कि दो-तीन गुल्ले उठ आए हैं। साथ ही मेरी उंगलियों में कुछ चिप-चिपाहट-जैसा लगा। मैंने एकान्त में 'ओह' किया और हाथ सिर से नीचे उतार लिया। वर्षा की गति विचित्र थी। कभी धीमी, तो कभी तेज। मैं दृढ़ हो गया कि अब दस्तक नहीं दूंगा। धक्के लगाने की तो अब मैं कल्पना तक नहीं कर सकता था। पानी के झोंके कभी दायीं ओर से आते, तो कभी बायीं ओर से। पता नहीं, उनका यह दिशा-निर्देश कौन कर रहा था—शायद हवा ही हो।

जहां तक मेरी दृष्टि जा पा रही थी, मैं देख रहा था कि मकानों की सारी खिड़कियां और दरवाजे बन्द हैं। भीतर कोई दीपक जलाये हुए हों, तो यह दूसरी बात है। बिजली बत्ती तो शायद कहीं नहीं जल रही थी। लोग अपने-अपने घरों में दुबक गए थे। कोई दो अनजान सामने से छाता लगाए दिखे और वे फिर दायीं ओर मुड़ गए। पिताजी ने मुझे धकेल कर बाहर के बरामदे से नीचे उतार दिया था। मेरी तब की जड़ता के क्या कहने! मेरी बुद्धि में यह सहज बात भी नहीं आ रही थी कि मैं बरामदे में चला जाऊं। क्या यह मेरा मौन और निश्चेष्ट आक्रोश नहीं था? पानी में भीग रहा हूं और यह पार नहीं लगता कि बरामदे पर चढ़ जाऊं। मेरा शर्ट पैण्ट की अपेक्षा ज्यादा गीला हो चुका था। वर्षा की फुहारों ने मुझे नहला दिया था। ये फुहारें यदाकदा मेरे चेहरे पर अपने को सीधे छींटने लगती थीं। मैं अड़ा हुआ था—न दस्तक दूंगा और न इस स्थान से हटूंगा। तो क्या मैं अपनी ही जिद से अपने को तोड़ रहा था? उस वक्त अंधेरा सिर्फ मेरी आंखों के सामने ही नहीं, दिल के सामने भी घना हो आया था। जिद और तनहाई के बीच का बेसहारापन भी गजब का होता है। काश, मैं उस समय अपने चेहरे को देख पाता। कैसी विपण्णता फैल रही होगी उस पर?

मैं मूर्तिवत् खड़ा था कि लगा, वर्षा का वेग काफी कम हो गया। पूर्ण वर्षा ने बूंदाबांदी का रूप धारण कर लिया। धार ने अपने को बूंदों में बदल लिया था। मैंने सिर उठाकर आसमान की ओर देखा। ठहरे हुए मेघखण्ड चलायमान हो उठे थे। वे घहरा रहे थे, पर खण्डों में बिखरते-छिटकते-खिसकते नजर आने लगे थे। मैंने सिर झुका लिया। मेरे हृदय में सम्भवतः क्षण-भर के लिए यह भाव उमड़ा कि इस समय यदि पिताजी द्वार खोलेंगे और भीतर चलने के लिए कहेंगे, तो मैं बिल्कुल अपनी यह जगह नहीं छोड़ूंगा। हाथ पकड़ेंगे, तो हाथों को कड़ा कर लूंगा। अगर घसीटेंगे, तो जमीन पर लोट जाऊंगा। कोलतार से पुते-रंगे इस लकड़ी के पतले खम्भे को जकड़ कस कर पकड़ लूंगा। और जो उस वक्त कहीं छोटी मां आकर खड़ी हो जाएंगी, तो चाहे बाद में जितनी मेरी पिटायी हो, कड़क कर इतना जरूर बोलूंगा—हट जाओ मेरे सामने से। तुम ही मुझे

पिटवाती हो। मेरी मां थी, तो पिताजी मुझ पर फूल तक नही फेंकते थे।

तभी मेरा ध्यान एकदम बंट गया। मुझे सुनन्दा जीजी की प्यारी आवाज़ सुनायी पड़ी, "अरे, हितेन्द्र, यहां क्या कर रहे हो भइया ?"

मैंने जीजी को अपने सामने और बिल्कुल करीब से देखा, मगर उत्तर मे एक शब्द न कहा। मैंने आंखें उठाकर गहन उपेक्षाभाव से उनकी ओर देखा। सम्भवतः तब मैं उन्हें यह जतलाना चाहता था कि मुझे उनकी कोई आवश्यकता नही। मैं जिस स्थिति में हूं, वह मेरे लिए ठीक है। मैं जो कुछ भोग रहा हूं, वही मेरे लिए योग्य है, वही मेरा निमित्त है। किन्तु, जीजी भला कहां मानने वाली थीं। वे तो दो-तीन कदम लपकी और बिल्कुल मुझसे सट कर खड़ी हो रहीं। मैं मौन साधे रहा।

"बोलते क्यों नहीं ?"

मैंने उत्तर मे सिर्फ अपना चेहरा उनकी ओर किया।

'भई, क्या हो गया है तुम्हे ?"

मैंने जैसे अपने पूरे अभिमान को संग्रह कर कहा, "कुछ नही।"

"यहां क्यो खड़े हो ? अपनी दशा नही देखते ?"

"ठीक है।"

"ठीक है ? शैतान कही के ! ठीक कैसे है ? कोई ऐसी-वैसी बात तो नही हुई ?"

"तुम्हें क्या मतलब ?"

जीजी ने झुक कर कहा, "अच्छा जनाब, तो आप गुस्से मे है !"

"नही, गुस्से मे नही हूं।"

जीजी की बात तब मेरी समझ मे नहीं आई। वे बोली, "चलो, चलो। मुझे यह सब मत सुनाओ। बाहर से क्या सब कुछ दिख जाता है ?"

तभी बिजली की दो-तीन आड़ी-तिरछी छडिया चमक उठीं। उनकी रोशनी मे हमने एक-दूसरे को देखा। नवनीतवर्णी सुनन्दा जीजी जैसे भीतर से उदास हो आई थीं। उन्होंने एक बार अपना मुखड़ा मेरे घर के प्रवेशद्वार की ओर किया, फिर हटा लिया। मैं पूरब की ओर मुह किए खडा था, वे दायी ओर मेरी बगल में थी। उन्होंने पहले मेरी पीठ और गर्दन सहलायी,

फिर दायीं बांह पकड़कर पूछा, "तुम्हारे पिताजी घर में नहीं हैं ?"

इस क्षण और इस तरह जीजी ने मेरी पीठ और गर्दन सहलायी थी। बाहर उनकी सुन्दर-सुन्दर कलाइयों की चूड़ियां खनकी थीं, भीतर मेरा हृदय झंकृत हो उठा था। मैंने अकड़ जाने का फैसला लिया, मगर अब भला मुझसे अकड़ा जाता ? मैंने कहा, "हैं।"

"क्या तुम्हारी पिटायी हुई है ?"

"हां।"

"किसने पीटा ?"

"पिताजी ने।" मैं अब उत्तर देने लगा।

"वे भीतर हैं ?"

"हैं, मुझे यहां धकेल कर भीतर चले गए।"

"क्या दरवाजा बन्द है ?"

"खुद देख लो।" कहकर मैंने दरवाज़े की ओर बेमन से देखा।

जीजी ने कहा, "मुझे उधर कुछ नहीं देखना।" उन्होंने मेरा हाथ मेरे प्रति अपनी स्वाभाविक ममता के साथ पकड़ लिया—दाहिना हाथ। मैंने अपना वह हाथ कड़ा कर लिया। उन्होंने पूछा, "हाथ क्यों कड़ा करने लगे ? क्या मेरे घर नहीं चलना ?"

मैंने बेरुखायी से कहा, "मैं नहीं जाता।"

"क्यों, आखिर मुझसे क्यों नाराज हो गए ?"

अचानक मेरे मुंह से निकल पड़ा, "तुम बहुत गन्दी लड़की हो।"

"गन्दी लड़की हूं ? मैं कैसे गन्दी लड़की हूं ?"

मैंने दो-तीन बार लगातार कहा, "हो, हो, हो।"

'मगर तुम मेरे घर चलो।"

मैं जैसे उनके प्रति विशेष रूप से भरा हुआ था। मैंने कुछ तेज होकर कहा, "मैं नहीं जाता। तुम कहां थीं अब तक ? मैं यहां पिट रहा था और···।"

जीजी ने इस बार मेरे माथे को सहलाया फिर कहा, "मैं यहां थी कहां ? मैं होती, तो क्या तुम्हें पिटते देखती रहती ?"

"तो फिर कहां थीं ?"

जीजी ने पूरी जिम्मेवारी के साथ कैफियत दी। बतलाया, "मैं थोड़ी देर के लिए कपूराइन भाभी के घर चली गई थी। सोचा था, जल्दी ही लौट आऊंगी। इसी बीच जोरों की आंधी आई, फिर वर्षा होने लगी। और देखो, जैसे ही वर्षा रुकी, मैं निकल आई।"

"क्या करने गई थी कपूर साहब के यहां ?" मैंने जैसे कड़क कर पूछा।

परन्तु, जीजी ने कतई बुरा नहीं माना। बोल पड़ी, "उनकी लड़की मेरी सहेली है, जानते हो हो। वह कल ससुराल चली जाएगी। कल सवेरे ही उसकी विदाई है। उसी से मिलने गई थी।"

मैं जैसे सन्तुष्ट हुआ। अब मैंने अपने को तन और मन दोनों से जीजी के सामने ढीला कर दिया। कहा, "चलो, अपने घर ले चलो। अब मैं इस घर में नहीं आऊंगा।"

"वह बाद की बात है। देखी जाएगी।"

"नहीं, नहीं'''।" मैं जैसे फिर अकड़ा।

जीजी फिर मेरी अकड़ के आगे पुनः नत हो उठीं। उनके मुंह से निकला, "अच्छा भाई, मत आना। चलो, जल्दी चलो। देर होने से हो सकता है कि चाचाजी चले आवें।"

इतना सुनते ही मैं जैसे जीजी के साथ उनके घर की ओर भागने लगा। आया, तो देखा, बिजली सब जगह की तरह यहां भी गुम थी। चाची लालटेन जलाये रसोईघर में कुछ कर रही थीं। चाचाजी दूसरे कमरे में थे और कुछ पढ़ रहे थे। जीजी ने चाची के पास जाकर कहा, "सुनती हो मां, हिनू की आज फिर पिटाई हुई है।"

चाची ने कहा, "यह कोई नहीं जानता कि भविष्य में क्या होने वाला है। मगर कोई इस बारे में नहीं सोचता। मैं रामदीन सेठ को जानती हूं। भगवान् न ऐसा करे, अगर जो इस दूसरी वाली को कुछ हो जाए, तो वह फिर तीसरा ब्याह रचा लेगा। फिर तीसरी के चक्कर में दूसरी के बच्चे की दुर्दशा करेगा।" फिर पूछा, "क्या तुम खुद देख आई हो ?"

जीजी ने बतलाया, "देखा तो नहीं, लेकिन हिनू को साथ लेती आई हूं।"

"हितू को साथ लेती आई हो ?"

"हां, साथ लेती आई हूं।"

"कहां है वह ?"

"यह क्या खड़ा है।" कहते हुए जीजी ने मेरी ओर संकेत किया।

मैं वरामदे में लजाया-शरमाया खड़ा था। रसोईघर वाली लालटेन की रोशनी यहां नहीं के वरावर थी। तभी उधर से उठकर चाचाजी आ गए। वे अपने सामने रखी छोटी वाली लालटेन उठाते आए थे। उसी लालटेन की रोशनी में कुछ देखकर जीजी चीख-सी पड़ीं, "अरे देखिए पिताजी, इसके सिर पर। वायीं ओर देखिए। वाल खून से सने हैं।"

मैं इस वात को भला कैसे भूल सकता हूं कि जीजी ने उसी समय किसी पड़ोसी के यहां से पेनिनसिलिन की ट्यूब मांग कर मेरे सिर के जख्म पर दवा लगायी, मेरे गीले कपड़े वदलवाए, अपने ही थाल में अपने साथ खाना खिलाया और अपने साथ ही सुलाया भी। मैं वड़ी रात तक उनसे वातें करता रहा। फिर हम सो गए। अपने घर से मुझे कोई वुलाने-खोजने नहीं आया।

४

आज भी खूव वर्षा हुई थी। पेड़-पौधों ने जी भर कर स्नान किया था। वे वड़े प्रसन्न थे, उनकी मुदित भंगिमा की पहचान कोई प्रकृति-प्रेमी वड़ी आसानी से कर सकता था।

मेरी पिटायी कल ही शाम को हुई थी और पिछली पूरी रात मैंने जीजी की खाट पर वितायी थी। ग्लानि और चोट की कसमसाहट के अतिरिक्त जीजी के प्यार ने मुझे गहरी निद्रा में सुला दिया था। सवेरे-सवेरे आंखें खुलीं, तो लगा, मेरे सिर और चेहरे को किसी ने पतले कपड़े से ढंक दिया है। हाथ से उस कपड़े को हटाने लगा, तो पता चला, यह

जीजी का आंचल था। वे भी शायद जग पड़ीं। फिर से आंचल मेरे चेहरे पर फैलाने लगीं। बोलीं, "सो जाओ। अभी सुबह होने में देर है।"

सवेरे आठ बजते-बजते मैंने जीजी का घर छोड़ा और अपने घर पहुंचा। जीजी ही मुझे अपने साथ लिवा ले आईं। कह नहीं सकता, जीजी में कौन-सी शक्ति थी कि उनकी उपस्थिति में छोटी मां और पिताजी मुझ पर अपना क्रोध प्रकट नहीं करते थे। जीजी के साथ जैसे ही मैं अपने आंगन में दाखिल हुआ कि छोटी मां दिखीं। मैं भाप गया कि पिताजी पूजा कर चुके हैं और जलपान के बाद अब दुकान जाने की तैयारी में हैं। क्योंकि पश्चिम वाले बरामदे में खड़े वे पीताभ सिल्क का कुरता, जिसमें सोने के छोटे-छोटे बटन लगे हुए थे, बदन में डाल रहे थे। छोटी मां मांग-बिन्दी करके रोज की तरह दिन-भर के गोरख-धन्धे में लगने के लिए तैयार हो चुकी थीं। मेरा छोटा-सा सौतेला भाई खाट पर उकड़ू होकर बैठा हुआ था। उसके पास प्लास्टिक के कई खिलौने रखे हुए थे। इनमें से ही वह मोर को पकड़ कर उसके मुंह को हिला-डुला रहा था।

पता नहीं, रात में छोटी मां और पिताजी ने क्या-क्या बातें की थीं कि हम पर नजर पड़ते ही छोटी मां जीजी को सम्बोधित कर बोलीं, "ले आईं तुम अपने भाई को? प्यार करती हो, तो जरा समझाया भी करो कि शाम होते ही घर लौट आना चाहिए।"

पिताजी बटन लगाते हुए बोले, "हितू को इसकी अकल नहीं है, ऐसी बात नहीं। यह मुझे यों ही चिढ़ा दिया करता है, मजे लेता है। कल इसने न चिढ़ाया होता, तो भला क्यों उबल पड़ता।"

जीजी मुझे लेकर दक्षिण वाले बरामदे को पार करने लगीं। उधर से वे मेरे साथ पश्चिम वाले बरामदे में आने वाली थीं। मैं छोटी मां अथवा पिताजी से लगातार आंखें चुरा रहा था। मेरे सिर के एक खास हिस्से में झबरीले बालों के नीचे पेनिसिलिन का मरहम अब भी लगा हुआ था। जीजी के भीतर उस व्यक्ति के प्रति, जिसने मुझे मानसिक और शारीरिक रूप से आहत किया था, सम्भवतः कुछ घृणा के भाव भरे हुए थे। और, वह व्यक्ति था—मेरा पिता। सांवला, मोटा, नाटा, जिसकी तोंद का घेरा पूरे शरीर के अनुपात में ज्यादा था। मैं इस पिता से, जो

अब मेरे लिए मात्र एक 'भयावह जीव' मात्र रह गया था, घृणा करने लगा था। मेरी समझ में नहीं आता था कि दूसरी बीवी लाकर यह 'जीव' इतना बदल कैसे गया था! मेरी सगी मां के जीवनकाल में वह जो रामदीन जायसवाल था, मुझे शक होता, वह कहीं चुपके से भाग तो नहीं गया? लेकिन सूरत-शकल सब तो उसी-जैसी थी। मैं ऊहापोह में पड़ जाया करता था।

जीजी ने पिताजी की ओर बढ़ते हुए कहा, "लड़का है, गलतियां इससे नहीं हो सकतीं, यह भला कौन कहेगा? किन्तु, चाचाजी, आपको इसे इतनी निर्दयता से नहीं पीटना चाहिए था। इसके सिर में दो-तीन गुल्ले तो उभर ही आए, मगर खून भी निकल आया।"

"अरे!"

जीजी मुझे पकड़ कर पिताजी के पास ले आई। छोटी मां उत्तर वाले बरामदे में थीं। वे जैसे तटस्थ बनी रहीं। उन्हें कोई काम सूझ गया और वे उस कमरे में घुस गईं, जिसमें राशन-पानी रखा जाता था। इधर जीजी ने मुझे और भी पिताजी के क़रीब ले जाकर मेरे सिर में लगी उस चोट-स्थल को दिखलाते हुए, जहां पेनिनसिलिन का मरहम लगा हुआ था, कहा, "चाचाजी, आप अचरज कर रहे हैं और यह लड़का रात भर धीमे-धीमे कराहता रहा है। यह देखिए। रात तो इसके यहां के ये बाल खून से सने थे।"

जीजी की आवाज वैसे बड़ी पतली और प्यारी थी, किन्तु इस समय वह कुछ बदल गई थी। उसमें कुछ तेजाबी, कुछ रूक्षता—दोनों थीं। पिताजी शायद इस बात को सुन कर लज्जाबोध के काफी निकट आ गए। अपना बचाव करते हुए बोले, "अरी बिटिया, मुझे क्या इसे मारने का शौक चढ़ा है? यह एक प्रकार से विवश ही तो कर देता है। मारने को तो मैंने ज्यादा नहीं मारा। दीवार से जरूर टकरा गया था। मेरा खयाल है, उसी टकराहट के कारण इसके गुल्ले उग आए।"

जीजी की उपस्थिति से मुझे ऐसा ही सहारा मिला, जैसे दुश्मन की गोलियों की मार से पीछे हटती हुई सेना को पीछे से सुसज्जित बख्तरबन्द गाड़ियों का सहारा मिल जाए। टैंक से जब गोलाबारी होती है, तो

दुश्मन की सेना में भगदड़ मच जाती है। प्लाटून-का-प्लाटून छितरने लगता है। पिताजी की शक्ल मात्र से भय खाने वाला मैं एक क़दम आगे बढ़कर बोल पड़ा, "दीवार से मैं अपने-आप थोड़े ही टकरा गया था! आपने धक्का न दिया होता, तो दीवार से मेरा सर भला कैसे टकराता?"

जीजी ने मुझसे कहा, "नहीं हितू, ऐसे नहीं बोलते। आज तुम्हारे ये पिताजी हैं, तभी तो गलत कामों के लिए तुम्हें डांटते-फटकारते हैं। यह इनका हक है और यह हक तुम नहीं छीन सकते। ऐसा सलूक करो कि कोई तुम्हारे ऊपर उंगली न उठाए।"

पिताजी ने अपने कुरते के बटन लगा लिए थे। तभी भण्डारघर से निकल कर छोटी मां पिताजी के बिलकुल करीब आ गईं। उन्होंने जीजी की ओर घूर कर घृणायुक्त दृष्टि डाली और प्रत्यक्षतः कहा, "जमाना तो ऐसा है कि यह लाख बुरे सलूक करेगा, लोग इसे सराहेंगे। हम इसके लिए जान भी दे देंगे, तो लोगों की समझ में आएगा कि हमने हमेशा इसका अहित ही सोचा है। मैं सौतेली ठहरी न!"

पिताजी चल कर बाएं कोने वाली उस कोठरी में घुसे, जिसमें वे दो तिजोरियां रखा करते थे। जीजी बोली, "चाची, मैं चाहे कुछ भी हूं, पराये घर की लड़की हूं। मैं इस सगे-सौतेले की चर्चा में क्यों पड़ूं? मैं तो इसके हाल पर तरस खा रही हूं। यह आने को तैयार नहीं था, मैं लिवा कर चली आई।"

तभी पिताजी तिजोरियों वाले कमरे से बाहर निकले। उनके बाएं हाथ में लाल कपड़े की जिल्द वाला एक लुचपुचा रजिस्टर था। उसका हर पन्ना हल्के पीले रंग का था। मैं इस रजिस्टर को पहचानता था। पिताजी यदाकदा चारपाई पर बैठ कर उसे खोलते और पुराने मुनीमों के अन्दाज में उस पर लाभ-हानि, जमा-खर्च लिखा करते थे। इस बार हमारे पास आते-आते ही उन्होंने घोषणा करते हुए जीजी से कहा, "सुनन्दा बिटिया, अब तुम पर एक और भार आ पड़ा। आर्यसमाज इण्टर कॉलेज में इसे दाखिला दिलवाए देता हूं। तुम इसे समझाती रहना कि जी लगा कर पढ़े। बगीचे में और तालाब के किनारे समय न बरबाद करे।"

इतना सुनते ही जीजी जैसे आनन्द-पुलकित हो उठीं। यह पुलक उनके सुन्दर मुखड़े पर तब देखते ही बनी। बोलीं, "मैं तो यही चाहती थी चाचाजी! आपने बहुत अच्छा किया।"

छोटी मां ने अवसर से लाभान्वित होना नहीं छोड़ा। कहा, "मैं तो जान ही गई थी कि यह तुम्हारे घर चला गया होगा। 'ये' भी नाराज थे। मैंने खोजपूछ नहीं करवायी। मगर, इनसे कहती रही—अब हितू को पढ़ने में लगा दो। फर्स्ट नहीं आएगा, सेकेण्ड तो आएगा।"

और, वास्तव में मेरा दाखिला आर्यसमाज इण्टर कॉलेज में हो गया। मैंने भी मन में ही यह संकल्प कर लिया कि फर्स्ट के बदले सेकण्ड नहीं आऊंगा।

धीरे-धीरे या शीघ्रता से, दावे के साथ नहीं कह सकता, लेकिन मैंने अपने संकल्प को पूरा किया। मुहल्ले वालों तक को विश्वास हो गया कि हितेन्द्र का परीक्षा में प्रथम आना निर्विवाद है। जीजी से हर परीक्षा-फल निकलने के बाद शीघ्र ही कुछ-न-कुछ इनाम मिलता। ऐसे अवसर आते, तो वे मेरे सिर पर हाथ फेरतीं और मेरी दायीं हथेली चूम लिया करती थीं। इस प्रकार वे मेरे नैतिक बल में अपना नैतिक बल भी मिलाती रहीं। कह नहीं सकता, इस अवधि में मुझे उनका कितना स्नेह मिला। मैं उनसे जुगनू मांगता और वे मेरी हथेलियों पर पूरा चांद रख देतीं। अब इस साल एकाएक सुनने को मिला कि उनकी पढ़ाई छुड़वा दी गई है और उनके ब्याह के लिए वर की तलाश की जा रही है। मैं जैसे अनपेक्षित कठिनाई में आ फंसा।

५

प्रवेशद्वार का जो बरामदा था, उसमें पश्चिम की ओर एक छोटी-सी कोठरी थी। अब मेरे रहने-सोने और पढ़ने के लिए वह कोठरी पिताजी

ने मुझे दे दी थी। मैं उसी में एक चारपाई पर लेटता और पढ़ा करता था। मैंने जीजी की सीख हमेशा याद रखी। घर के कामों में किसी प्रकार का हीला-हवाला नहीं करता था। छोटी मां अभी भी मेरे प्रति मुक्त हृदय से सदाशय नहीं हो पायी थी। उनका सगा पुत्र और मेरा सौतेला भाई अब पांचवें वर्ष से आगे निकल चुका था। मेरे अन्य कामों में अब एक काम यह भी शामिल हो गया था कि मैं रोज सवेरे उसे पढ़ाया करूं और मैं उसे पढ़ाने लगा था। एक बार सुनन्दा जीजी के सामने ही मैंने उसे डांटा, हालांकि मैंने केवल क्षण भर के लिए उसे भय दिखलाना था, डांटना नहीं के बराबर, किन्तु जीजी ने मुझे टोका, "न डांटो इसे। बच्चे का हृदय बड़ा ही कोमल होता है।"

"बड़ा शैतान है।"

बात है। तुम चाहो तो सुनन्दा के यहां खाना खा लेना। न वहां खा सको, तो हलवायी के यहां चले जाना।" और उन्होंने मेरे आगे पन्द्रह रुपए बढ़ा दिए। छोटी मां मुंह फेर कर बोलीं, "फिजूल इधर-उधर नहीं जाना है। घर का ध्यान रखना है।"

"हां, वह ध्यान तो मैं रखूंगा ही।" मैंने छोटी मां को सुना कर कहा।

मैंने भीतर घर का मुआयना तब किया, जब वे तीनों स्टेशन चले गए। छोटी मां ने लगभग सभी कमरों में भारी-भारी ताले डाल दिए थे। मैं निश्चिन्त हुआ कि कोई चोर आ भी जाए, तो आसानी से किसी कमरे में प्रवेश नहीं कर सकता। मुझे सिर्फ आहट का ध्यान रखना होगा। मैंने चोर के आने पर उससे निपटने की बहुत सारी कल्पनाएं कर लीं।

मैं लगभग सवा चार बजे अपनी बाहर वाली कोठरी में अकेला था। सोच रहा था कि सुनन्दा जीजी के घर जाऊं। मन नहीं लग रहा था। एक समस्या यह भी थी कि शाम का खाना कहां खाया जाए।

सुनन्दा जीजी के पिताजी पण्डित कमलाकान्त दीक्षित उसी कालेज में थे, जिसमें मैं पढ़ने लगा था। उन्हें अवसर मिलता, तो वहां मुझसे मेरी कुशलता पूछ लिया करते। थोड़ी ही देर बातें करते, मगर मेरा हृदय आनन्द से भर जाता था। आज उन्होंने मुझे स्टॉफ-रूम में टिफिन के समय बुलाया था। पूछा था, "वे लोग तो चले गए, तुम्हारे भोजन का क्या प्रबन्ध कर गए?"

मैंने कहा, "रुपए दे गए हैं। हलवाई के यहां पूड़ियां खा लूंगा।"

"आएंगे कब तक?"

"पिताजी तो दो-तीन रोज में ही लौट आएंगे। छोटी मां रह जाएंगी।"

"ठीक है। तुम हलवाई के यहां मत जाना। तुम तो मेरे ही बच्चे की तरह हुए। सुनो, शाम में अपनी बहन से मिल लेना।"

मैंने विनयभाव से कहा, "जी।"

चाचाजी उर्फ सुनन्दा के पिताजी गम्भीर प्रकृति के थे। मैं उनकी भी दया और कृपा का पात्र था, पर वे स्वभावतः मितभाषी थे। अपने उदात्त व्यक्तित्व को आचरण में उतारते, भाषा में नहीं ढालते थे। सुनन्दा

जीजी उनके ही वर्ण की थी—एकदम गोरी-चिट्टी। उनके ही जैसे भाव-भरित नेत्र। चाचाजी का क़द लम्बा था। वे छोटे-छोटे बाल रखते और लिखते-पढ़ते समय ऐनक लगाते थे। बिना पूजा-पाठ किए अन्न-जल नहीं ग्रहण करते थे। कुलीनों में कुलीन थे। पढ़ाई-लिखाई में कोई भी छात्र उन्हें ठग नहीं सकता था। वे छात्रों को न मुंह लगाते थे और न अनावश्यक उन्हें अपना कोपभाजन बनाते थे। कभी-कभी वर्ग में बोल देते, "अगर तुम में से कोई भाषा-साहित्य में फेल करेगा, तो समझो, मुझे कालेज से निकाल दिया जाएगा। तुम लोग मेरी नौकरी बरकरार देखना चाहते हो, तो ध्यान से पढ़ो। कुछ दिक्कत महसूस हो, तो मेरे घर आ जाया करो।"

और, वास्तव में छात्र अपनी कठिनाइयां दूर कराने उनके घर भी पहुंचा करते थे। चाचाजी किसी घरेलू कार्यवश कहीं जाने की तैयारी में होते, तो ऐसे छात्रों को देखकर रुक जाते और उन्हें समझाने-पढ़ाने लगते थे। चाचीजी घरेलू काम का स्मरण दिलातीं, तो कह देते, "अभी ठहरो भाई! ये बच्चे जो आ गए हैं।"

शरीरपीड़ामुक्ति की अपेक्षा आतंकमुक्ति अधिक आनन्ददायिनी होती है और मैं इस समय आतंकमुक्त था। वैसे भी बाहर वाली कोठरी में किए जाते वक्त मैंने अपने को उपेक्षित अनुभव अवश्य किया था, किन्तु मैं एक आनन्दानुभूति से भी सिक्त हो गया था कि इस कोठरी में रहने के कारण छोटी मां के सामने हमेशा रहने की परेशानी दूर हो गई। उनकी टीका-टिप्पणियों को सुन-सुन कर इच्छा होती थी कि पहले तो स्टेशन भाग जाऊं, फिर कोई ट्रेन पकड़ कर किसी भी ओर निकल जाऊं। ननिहाल पक्ष से यही हाल था कि बेटी मरी और नाता टूटा। मां के श्राद्धकर्म में शामिल होने के बाद मामा जी गायब हुए, सो फिर नजर नहीं आए।

मैं चारपाई पर बस यों ही लेट गया और सोचने लगा कि एक दिन ननिहाल चलना चाहिए। मगर इतने साल गुजर जाने के कारण मुझे यह भी याद नहीं रहा कि काशी के आखिर किस मुहल्ले में मेरे ननिहाल वाले रहते हैं। मां के साथ छुटपन में कई बार गया था, सो वहां के मकान की हुलिया मेरे दिमाग में जरूर थी। मुझे दस मिनटों के भीतर मामा पर भी

गुस्सा आया कि वे फिर आए क्यों नहीं ?

दायीं ओर की खिड़की खुली हुई थी। उससे सनसनाती हुई हवा कोठरी में प्रवेश कर रही थी। तभी मेरे कानों में चूड़ियों की हल्की-सी खनक पड़ी। पांवों की आवाज का पता नहीं चला। दरवाजा खुला हुआ था। मुड़ कर देखता हूं, तो जीजी चौखट को लांघती नजर आती हैं।

आते-आते उन्होंने पूछा, "क्या हो रहा है हितू, किसी ध्यान-तप में तो नहीं लगे हो ?"

मैं तनावों के बीच से होकर गुजर रहा था। जीजी के आते ही मेरे सारे तनाव शायद खिड़की की राह बाहर निकल भागे। मैंने उठते हुए कहा, "अभी थोड़ी देर पहले आया हूं। ऐसे ही लेट रहा।"

"यहां अकेले क्या करना, चले आते मेरे घर।"

"बस आने ही वाला था।"

"झूठे ! गपोड़ी !!"

मैं मुस्करा पड़ा। जीजी ने फौरन पूछा, "कोई गिलास या कटोरा है ?"

"क्यों, क्या करोगी ?"

जीजी बोलीं, "जरा उधर खिड़की से देखो।"

"आखिर है क्या ?"

"देखो तो सही। ठीक ठाकुर साहब के दरवाजे के सामने देखना।"

मैं झट दायीं ओर मुड़ा और खिड़की से देखने लगा। जीजी ने पूछा, "देखो, है न कुछ ?"

अब वे चारपाई के किनारे घुटने रोप चुकी थीं और मेरे साथ ठाकुर साहब के दरवाजे के सामने निगाह डालने लगी थीं। मैंने कहा, "कुछ तो नहीं है। ठेले वाला है, बस।"

"हमें तो गरज ठेले वाले से ही है।"

"मतलब ?"

जीजी अपने पूरे अधरों से मुस्करा पड़ीं। बोलीं, "जानकर भी अन-जान बनते हो हितू ? तुम्हें नहीं मालूम कि बताशे और छोले-बटोरे पर नजर पड़ते ही सुनन्दा की जीभ से लार टपकने लगती है ?"

"मालूम है और मेरे पास पैसे भी हैं। पिताजी दे गए हैं।"

"अच्छा, अच्छा। अपने पैसों की शान मत दिखलाओ। बड़े आए पैसे वाले। चलो, उठो। घर खोलो।"

मैंने घर का दरवाजा खोला। जीजी मेरे साथ भीतर आईं। रसोईघर के कोने में थोड़े बर्तन रखे हुए थे। एक कटोरा तामचीन का था और एक चीनी मिट्टी का। तामचीन की एक बड़ी-सी प्लेट भी थी। जीजी ने उन्हें उठा लिया। नल पर पहुंचीं। उन्हें धो-पोंछ डाला और मुझसे कहा, "इन्हें पकड़ो।"

मैंने बर्तन पकड़ लिए। फिर उन्होंने कमर से एक छोटा-सा रूमाल निकाला। रूमाल के खूंट में पैसे ही बंधे थे। उन्होंने एक दो रुपए का नोट निकाला और मेरी ओर बढ़ा कर कहा, "जाओ, अपनी समझ से ले आओ। एक कटोरे में बताशे खाने के लिए खट्टा पानी ले लेना। कहना, पानी हिला कर दे।"

मैं ठेले वाले की ओर चल पड़ा। जीजी के कारण वह ठेले वाला मुझे खूब पहचान गया था। इसके पहले हमने उसे कितनी बार रोका-टोका था और कितनी बार उससे गरम-गरम चटपटी चीजें लेकर खायी थी, बतलाना मुश्किल है।

हमने नाश्ता कर लिया। जीजी छोटे-छोटे जूठे बर्तन लेकर नल के नीचे गई। गिलास भूल गईं, जिसमें बताशे खाने वाला खटाई-धनिया-जीरा मिला पानी था। पानी था क्या, बच गया था। मैं उसे लेकर उनके पास पहुंचा। जीजी ने पूछा, "क्या है?" फिर गिलास देखकर बोलीं, "अच्छा, गिलास छोड़ आई थी न!"

"इसमें अभी खटाई वाला पानी है।"

"है?"

"हां, है।"

"पी जाओ। बड़ा मजा आएगा।"

"मैं नहीं पीता। बड़ा खट्टा है।"

"अच्छा, ठहरो। मैं उसे पी जाऊंगी।"

कटोरे-प्लेट मांज-धोकर जीजी उठीं, मेरे पास आईं और बोलीं,

"लाओ, मैं पी लूं।"

मैंने गिलास उन्हें पकड़ाया, तो कह पड़ीं, "देखो भाई, कहीं ललचा रहे हो, तो बोलो। आधे-आध पर मामला तय हो जाए।"

जीजी के इन शब्दों ने जाने क्यों मुझे ललचा ही दिया। मैंने कहा, "ज्यादा नहीं, बस एक घूंट पी लूंगा।"

"जितना पी सको, पी लो।"

"लाओ कटोरा, निकाल लूं।"

"ओह, तुम पीयो तो सही।"

"और तुम कैसे पीयोगी ?"

"मैं पी लूंगी न !"

मैं, लगा, प्रेमसागर के तट पर खड़ा था और जीजी उसकी गहरायी में मुक्तभाव से तैर रही थीं। मैंने थोड़ा-सा पानी पी लिया, तो उन्होंने पूछा, "चाहो तो सारा पी जाओ। बोलो, पी रहे हो ?"

मैंने विवशतासूचक सिर हिलाया।

तभी जीजी ने एकाएक मेरे हाथ से गिलास थाम लिया और पलक मारते बचा-खुचा खट्टा पानी गटक कर जीभ चटखारने लगीं। मैं पाप भय से क्षण भर में ग्रस्त हो उठा। ब्राह्मण-कन्या ने मेरा जूठा पानी पी लिया था।

"जीजी, तुमने यह क्या किया ?"

"क्या किया ? पानी पी गई। इसमें जीरा और धनिया है।"

"वह तो है।"

"पेट में फायदा करेगा।"

मेरा चेहरा उतर आया होगा। मेरे मुंह से निकला, "मगर वह जूठा जो था।"

"तो क्या हुआ ?"

"हुआ कैसे नहीं ? तुमने मुझे पाप के कुएं में झोंक दिया।"

"कैसे रे ?"

"तुम ब्राह्मण हो और मैं बनिया।"

"धत् तेरे की, यह भय समा गया तुम्हारे मन में ?"

"और नही तो क्या !"

"छोड़ो, इन चक्करों में न पड़ो।" जीजी ने ... से कुछ ऐसा ही लगा कि वे जातिगत भेदभाव में ...

तो क्या मैं सुनन्दा जीजी को एक प्रगतिशील नारी ... लिए इस प्रश्न का स्वीकारात्मक अथवा नकारात्मक उत्तर देना ... नहीं है। क्या कहा जाए इस मन को। यह तो वैसे एक ही होता है, जि... हम में से प्रत्येक 'मेरा मन' कह कर उपयोग में लाता है। किन्तु, यही एक मन कही तो जड़ बन बैठता है, तो कही चेतन। कहीं यह हमारी हर कल्पना, हर इरादे का गुलाम होता है, तो कही बेहद जिद्दी बच्चा बन बैठता है। कही यह परम्पराओं को आत्मसात् कर लेता है, तो कही उनसे विद्रोह कर बैठता है और कही अपने और परम्पराओं के बीच एक काल्पनिक दीवार खड़ी करके मध्यमार्गीय बन जाता है।

मैंने फिर घर के प्रवेश-द्वार में ताला लगा दिया और हम दोनों बाहर वाली कोठरी में आ गए। कोने में एक लकड़ी की एक पुरानी फोल्डिंग कुर्सी पड़ी हुई थी। जीजी ने उसे खींचकर फैला लिया। दीवार की ओर उसे सेट करके बैठ रही। एकाएक मुझसे बोलीं, "मेरे घर चलना हो, तो चलो। और हां, खाना मेरे ही घर···।"

मैंने बतलाया, "चाचा जी ने आज ऐसा ही कहा था।"

"कब, कहा ?"

"कॉलिज में।"

"अच्छा ही किया। हितेन्द्र, तुम शायद नहीं समझते, माताजी और पिताजी दोनो तुम्हें बहुत चाहते हैं।" कहकर जीजी ने मेरी आंखों में झांका। हम आमने-सामने बैठे थे। वे कुर्सी पर थीं और मैं चारपाई पर। हमारे बीच दो फीट से ज्यादा का फासला नहीं रहा होगा।

मैं बोला, "हां, जरूर चाहते हैं, बहुत चाहते हैं।"

"तुम्हें इस बात का विश्वास तो है ?"

"है क्यों नहीं ? मगर जीजी, एक बात बतलाऊं ?"

"बतलाओ।" जीजी ने अनुमति प्रदान की।

अपनी बात कहने से पूर्व मैं पीछे की ओर मुड़ा। ...

"ला—ने बड़े गौर से वाहर की ओर देखा। ठेले पर छोले-वटोरे वेचने वा शायद चला जा चुका था। रास्ते से इक्के-दुक्के लोग चले जा रहे थे। कुछ चिड़ियां आकाश में तैर रही थीं। मैंने ऐसा क्यों किया, यह मेरी समझ में नहीं आ रहा है। लेकिन क्षण-भर वाद में पुनः जीजी की ओर मुखातिव हो आया। वे जो धोती इस समय पहने हुई थीं, उसमें वड़ी प्यारी, आकर्षक लग रही थीं। धोती की जमीन सफेद थी और उस पर नीले और गुलावी रंग में गुलाव की खिली-अधखिली कलियों को छिटकते हुए दिखलाया गया था।

मैं उनकी ओर मुखातिव होकर मौन हो गया, तो जीजी ने मुझे जैसे छेड़ने की कोशिश की, "तुम कुछ वतलाने वाले थे न?"

"हां···।"

"तो फिर वतलाते क्यों नहीं?" पूछते हुए जीजी ने अपनी वाली कुर्सी मेरे और क़रीव खींच ली। लगा, जैसे हम कोई गुप्त मन्त्रणा करने जा रहे हैं। जीजी का मुखड़ा शान्त-गम्भीर हो आया था।

अव मुझे अपनी भावनाएं दवाने का अवकाश नहीं रह गया था। मैंने थोड़ा-सा जीजी की ओर झुककर एक ही वार में कह दिया, "जीजी, मुझे जितना प्यार तुम करती हो, उतना कोई और नहीं करता। सुना है कि तुम्हारा व्याह तय हो रहा है। समझ में नहीं आता, फिर मेरा क्या होगा?"

जीजी का मन शायद मेरे मर्म में प्रवेश कर गया। क्या वतलाऊं, ठीक से वतला पाना मुश्किल है कि एक लम्वी आह लेकर तव उन्होंने मेरी ओर कितनी ममता से देखा था। मेरा सवाल मेरा नहीं, लगा मेरा सवाल उनका ही सवाल था। उनके दोनों हाथ खुले हुए थे। इतनी वात जरूर याद आती है कि उनके दोनों हाथों में शायद एक सिरहन-सी हुई थी। उन्होंने अपने हाथ यों ही घुमा-फिरा कर सिकोड़े थे। वे निमेष भर को कुछ सोचती रहीं, फिर वोलीं, "अभी से इस वात को लेकर ज्यादा परेशान क्यों होते हो? क्या जरूरी है कि शादी जल्द हो ही जाए? अपनी कन्या जव थोड़ी वड़ी हो जाती है, तो मां-वाप उसके लिए घर-वर की तलाश करने ही लगते हैं। यह तलाश साल-दर-साल चलती है। देखो···।"

मैं हताश-सा हो गया। मैंने पूछा, "देखो? मतलव?"

जीजी ने इस बार जैसे मेरे साहस को बढ़ाने का निर्णय ले लिया। कहा, "हितू, तुम अभी बच्चे हो, इतनी सारी बातें नहीं समझ पाओगे। शादी-ब्याह का मामला है। कभी घर मिलता है अच्छा, तो मन के लायक वर नहीं मिलता। वर अच्छा मिल जाता है, तो उसके परिवार में कोई खोट, कोई कमी निकल आती है। और मान लो, जो दोनों ठीक हों, तो भी बात टूटने की आशंका रहती है।"

मैंने बुजुर्गाना अन्दाज में पूछा, "वह आखिर कौन-सी आशंका होती है जीजी?"

जीजी ने फौरन समाधान किया, "जन्मकुण्डली के न मिलने की आशंका। सब कुछ ठीक-ठाक हो और जन्मकुण्डली मेल न खाए, तो फिर समझो, ब्याह किसी हालत में नहीं हो सकता।"

और तब मैंने पूछा था, "जीजी, यह जन्मकुण्डली क्या होती है?"

जीजी ने मेरे इस प्रश्न के उत्तर में अपनी सीमित जानकारी के आधार पर मुझे समझाया तो जरूर था, मगर मेरे पल्ले बहुत कम बातें पड़ी थीं और मन-ही-मन मैंने इसे कोई महत्त्व नहीं दिया था। ऐसा शायद इसलिए भी हुआ हो कि मैं जन्मकुण्डली के फलाफल को, योग को समझ ही न सका। वास्तव में तब मेरी स्थिति उस छात्र के समान हो गई थी, जो गणित के प्रश्न हल करने में बुरी तरह असमर्थ हो और ऐसा महसूस करे कि इतने विस्तार से गणित का अध्ययन करना ही व्यर्थ है। उसकी दृष्टि में गणित का बस इतना ही महत्त्व हो कि आदमी को रोज-रोज के काम भर के गणित की जानकारी होनी चाहिए। काम चलने से मतलब कि पचास तरह के फार्मूलों में दिमाग खपाने से मतलब? 'दिया हुआ है कि' आखिर यह क्यों दिया हुआ है और फिर इसे लेकर क्यों अच्छी-खासी पेन्सिल की घिसायी की जाए?

मैं यह मानने को तैयार नहीं था कि पृथ्वी से असीम ऊंचाई पर लटके हुए ये ग्रह—मंगल, शनि, शुक्र, बृहस्पति और बुध—आदि कैसे आदमी के वर्तमान और भविष्य का नियमन करते हैं। मैंने अब तक किसी की भी जन्मकुण्डली के दर्शन नहीं किए थे। मैंने जीजी से पूछा, "जीजी, अगर जन्मकुण्डली का मिलान ठीक नहीं बैठा, तो क्या तुम विवाह नहीं—"

करोगी ?"

जीजी बोलीं, "मुझे 'हां' अथवा 'ना' करने की आवश्यकता नहीं करनी पड़ेगी और न कोई मुझसे पूछेगा। पिताजी स्वयं 'ना' कर देंगे।"

"और तुम क्यों नहीं करोगी ?"

"इन सब मामलों में लड़कियां कुछ नहीं बोलतीं।"

मेरे प्रश्न का उत्तर देकर जीजी ने अपने दोनों पांव नीचे से समेट कर ऊपर कर लिए और दोनों घुटनों पर अपनी ठुड्ढी रखकर जाने क्या सोचने लगीं। उनके सिर से आंचल खिसक गया, तो उन्होंने उसे फिर से संभाल लिया। मैंने पूछा, "क्या तुम्हारा विवाह बहुत दूर होगा जीजी ?"

"मुझे कुछ भी पता नहीं।"

"पता करो भाई !" मैंने अत्यन्त सहजता के साथ कहा।

"अपने आप पता हो जाएगा।"

"मुसीबत है।"

"क्या मुसीबत है ?" जीजी ने पूछा।

इस समय मेरे मन में जो भाव उठा था, उसे मैंने व्यक्त करते हुए कहा, "मुझे डर लगता है कि तुम्हारा ब्याह कहीं बिहार में न हो जाए।"

"इसमें डरने की कौन-सी बात है भला ?" पूछते हुए जीजी ने अपना सिर उठा लिया और अपने पांव नीचे उतार दिए।

मैंने कहा, "बिहार बहुत दूर है। पास रहतीं, तो मैं तुम्हारे पास जल्दी-जल्दी जाया करता।"

मेरे ये शब्द जीजी को शायद भीतर से चंचल कर बैठे। बोलीं, "हां हितेन्द्र, यह तुमने ठीक कहा। मेरा दिल भी लगा रहेगा।"

मैंने कहा, "पता लगाती रहो। इतने प्यार से मुझे यहां कौन छोले खिलाएगा, मैं किससे अपने दुखड़े सुनाऊंगा ?"

"जब-जब छुट्टी मिले, तुम आ जाया करना। पूरी छुट्टी हमारे साथ बिता कर वापस आना। अभी तो मेरे पास कम पैसे रहते हैं···।"

"और तब क्या होगा ?"

"तब तुम्हारे जीजी जी भी तो होंगे। वे जान जाएंगे कि मैं तुम्हें बहुत

प्यार करती हूं, तो वे भी तुम्हें बहुत चाहने लगेंगे। फिर तो वे भी तुम्हें छोले-बटौरे, मिठाइयां खिलाएंगे। सिनेमा दिखलाएंगे और लौटने लगोगे तो तुम्हारे लिए कभी पैण्ट, कभी शर्ट, कभी और कुछ बनवा देंगे।" जीजी ने कहा।

मेरे मुंह से निकला, "और खास कर तब तो मैं चुपके से भाग कर ही आ जाऊंगा, जब छोटी मां मेरे नाम पर आफत मचाएंगी।"

"ठीक है। आ जाना। वैसे अपना दुःख-सुख पिताजी को भी बतलाते रहना। मैं पिताजी और माताजी से तुम्हारे लिए कह जाऊंगी।"

"हां, यह तुमने अक्ल की बात कही।" मैं बोला।

जीजी शायद अभी भीतर से मेरे प्रति बेचैनी अनुभव कर रही थी। वे एकाएक कुर्सी से उठ पड़ीं और मेरे सिर को सहलाती हुई बोलीं, "देखो, भाग्य में जो होने को लिखा होगा, वही होगा। और तुम क्या सदा ऐसे ही अनाथ-जैसा बने रहोगे ? नहीं, पढ़-लिखकर नाम करोगे। चलो, यहां क्या अकेले बैठे रहोगे ! मेरे घर चलो।"

मैं जीजी के साथ उस कोठरी से बाहर निकल आया। शाम उतरती आ रही थी।

६

जीजी ने जैसे स्वयं मेरे उस अपराध को विस्मृत कर दिया। विस्मृत न किया होता, तो क्या हंसी-हंसी में भी याद न दिलाती। मान लो, औरों के सामने संकोच करतीं, एकान्त में तो निरापद भाव से कह ही सकती थीं। मैं तो अब तक ऐसा ही अनुभव कर रहा हूं कि वह अपर[illegible] ेतन में है और वही अपराध सम्भवतः उनके अचेतन में मो[illegible] सका।

जीजी की पढ़ाई छुड़वा दी गई थी और मेरी पढ़ाई [illegible]

से उनके ब्याह की चर्चा ने जोर पकड़ा, मैंने स्वयं एक दायित्व और वह भी चुपके-चुपके, संभालना शुरू कर दिया था। दायित्व भी अपने ही ढंग का था। मैं इस बात का पता लगाने की फिराक में लगा रहता कि जीजी का ब्याह कहां तय हो रहा है, यहां से वह स्थान कितनी दूर है। वहां तक का सफर आसान है या मुश्किल ?

स्वनामधन्य मेरे गुरुदेव और चाचा जी श्री कमलाकान्त दीक्षित कभी मुरादाबाद से किसी वर की जन्मकुण्डली मंगवाते, तो कभी मुजफ्फर-नगर से। कभी प्रतापगढ़ से, तो कभी हापुड़ से। कभी पास के नगर राय-बरेली से, तो कभी सीतापुर से। बीच-बीच में सण्डीला, गोंडा और फैजाबाद की भी चर्चा निकल आती थी।

सब कुछ चल रहा था यानी जन्मकुंडलियां आ-जा रही थीं और पुरोहित महोदय उन्हें अस्वीकृत किए दे रहे थे। अब मैं अधिकतर जीजी के घर-बरोठे-अहाते में नजर आता और चींटी जैसे चीनी की गन्ध लेती फिरती है, वैसे ही जीजी की शादी की चर्चा की गन्ध लेता फिरता। गन्ध मिल जाती, तो चर्चास्थल पर उपस्थित हो जाता। चुपचाप सब कुछ सुनता रहता, टलता नहीं था और जितनी सूचनाएं बटोर पाता, जीजी के आगे उड़ेल देता। मुझे बड़ा आश्चर्य होता था कि वे इन सूचनाओं के प्रति अपनी ओर से कोई मन्तव्य नहीं जाहिर करती थीं। मैं परेशान हो उठता था—

—एक लड़का यह है। मुरादाबाद में टाइपिस्ट है। इसके बाप पोस्ट-मास्टर थे। अपना घर है। भाइयों में सबसे बड़ा है। दो छोटे भाई हैं। अपना मकान है।

—एक लड़का यह है। हापुड़ के पास एक देहात में घर है। मगर देहात कहने को है। अच्छा-खासा बाजार है। गांव के ही मिडल स्कूल में मास्टर है। खेती-बारी से साल भर का अनाज हो जाता है। उम्र भी कुछ ज्यादा नहीं है।

—यह लड़का सीतापुर चीनी मिल में टाइमकीपर है। उमर कुछ ज्यादा जरूर है। मगर देखने में पच्चीस से ज्यादा का नहीं लगता। सेहत अच्छी है। बाप नहीं हैं। यह खुद परिवार का कर्ता-धर्ता है। दूसरे नम्बर

पर है। बड़ा भाई कुछ पागल-जैसा है। मगर किसी से कुछ मतलब नहीं रखता। एक चारपाई पर पड़ा रहता है।

—और यह लड़का रायबरेली का है। गांधीनगर में कपड़े की दुकान है। दुकान खूब चलती है। शायद मैट्रिक तक पढ़ा हुआ है।

—यह लड़का फैजाबाद का रहने वाला है। लखनऊ-उन्नाव रोड पर उसकी बस चलती है। सुन्दर है। पढ़ाई-लिखाई के बारे में नहीं मालूम। मगर, परिवार अच्छा खाता-पीता सुखी है।

धत्त तेरे की! किसी की जन्मकुण्डली जीजी की जन्मकुण्डली के अनुकूल न बैठी। चाचाजी जन्मकुण्डली अनुकूल हुए बगैर जीजी को ब्याहने के लिए तैयार नहीं थे। जीजी इन सब बातों की ओर से लापरवाह जान पड़ती थी और चाचाजी इस समस्या को लेकर परेशान थे। उनका इरादा जीजी को जितनी जल्द हो सके, ब्याह देने का था।

दीक्षित जी के दोनों बेटे बारी-बारी से पधारते। होली और दीवाली पर तो एक-दो दिन के आगे-पीछे जरूर जुटते थे। वे आते, तो यह चर्चा और भी जोर पकड़ती। वे कई सुयोग्य वरों के अते-पते बतलाते, मगर वापस जाकर किसी की जन्मकुण्डली न भिजवाते। सब मामला शान्त हो जाता। दीपक जैसे एकाएक जोरों से भभकता और बुझ जाता था।

एक शाम मैं जीजी के साथ फालसे की झुरमुट के पास खड़ा था। शाम का थका हुआ सूरज जैसे किसी लाठी के सहारे अस्ताचल की ओर बढ़ता चला जा रहा था। झिलमिली हवा चल रही थी और तालाब का जल सतह पर मन्द-मन्द काँप रहा था। पूरब की ओर चार-पांच बतखें कभी पास-पास और कभी अलग-अलग होकर तैर रही थीं। आकाश हल्का नीला था। तालाब के उस पार चौड़ी सड़क से गुजरती हुई सवारियाँ भी आसानी से दिख जाती थीं। बाईं ओर वाला बगीचा बड़ा ही प्यारा लग रहा था। आज भी मैंने दो-एक सूचनाएं जीजी को दीं। सुनकर जीजी ने कहा, "ठीक है, यह सब तो होता ही रहता है। अभी देर है।"

मैंने सुझाया, "जीजी, यह फैजाबाद वाला ब्याह ठीक रहेगा।"

जीजी मुस्करा पड़ीं। बोलीं, "चुपचाप फालसे खाओ। तुम्हें भी मेरे ब्याह की चिन्ता सताने लगी है? क्या तुम्हारा भी जी मुझसे भर गया

है ?"

मैंने कहा, "हर्गिज नहीं। जीजी, मेरा वश चले, तो मैं तुम्हारा ब्याह ही न होने दूं।"

"अरे! यह कैसे हो सकता है ?"

"कैसे नहीं हो सकता ? तुम ब्याह करो ही नहीं।"

"नहीं, यह असम्भव है। हर लड़की का ब्याह होता है, हर लड़के का ब्याह होता है। समाज का यह नियम है।"

मेरे मुंह से एकदम निकल पड़ा, "ठीक है। फिर भी तुम चाहो तो ब्याह भी कर लो और यहीं बनी रहो।"

"तुम्हारा दिमाग तो नहीं फिर गया ? ब्याह करके मैं यहीं कैसे बनी रह सकती हूं ?"

जीजी के इस प्रश्न के उत्तर के बहाने मुझसे अपराध हो ही गया। मैंने तड़ाक से कहा, "जब तुम्हें ब्याह करना ही है, तो मुझसे कर लो।"

किन्तु, मेरे इतने महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव को जीजी ने मुस्करा कर टाल ही तो दिया। कहा, "अब तुम मानो या न मानो हितेन्द्र, मैं तो जान गई कि तुम्हारा दिमाग फिर गया है। पगले, भाई-बहन में कहीं ब्याह होता है ?"

"नहीं होता ? अरे !"

"हां, इतनी बात तो जान ही लो कि भाई-बहन में ब्याह नहीं होता।"

"आपस में बहुत प्रेम हो, तब भी नहीं ?"

"नहीं। तब भी नहीं होता।"

"लो, मैं तो समझता था कि होता होगा।"

"ना।"

मैं हताश हो गया। मेरे खयाल से मेरा सुझाव ऐसा था कि उससे ब्याह सम्बन्धी सारी परेशानियां दूर हो सकती थीं, जीजी मेरे पास बनी रह सकती थीं और सहारे की यह कोमल-ममतामयी डाली सदा-सदा मेरे सिर पर डोलती रह सकती थी। मैंने फिर साहस के साथ पूछा, "जन्म-कुण्डली मिल जाए, तब भी नहीं ?"

"सौ बार मिलने पर भी नहीं।" कहते हुए उन्होंने मेरे दाएं हाथ

पर फालसे रखते हुए कहा, "लो, ये फालसे खाओ। ये पके हैं, इसलिए खूब मीठे होंगे।"

मैंने फालसे ले लिए।

अपनी आज की अवस्था और उम्र के चौखटे पर खड़ा होकर सोचता हूं तो दिल कहता है कि जीजी को मेरा प्रस्ताव विचित्र लगा होगा। वे दुखी हुई होंगी और नाराज भी। मगर, यह अब तक नहीं समझ सका कि उन्होंने मेरे प्रस्ताव को इतने सहज भाव से कैसे लिया? उनकी आकृति पर कोई अन्तर मुझे क्यों न दिखा? मेरा प्रस्ताव क्या वास्तव में उन्हें ऐसा ही लगा कि दायीं ओर से कोई नटखट हवा आई और उन्हें छूती हुई बायीं ओर को निकल गई? और फिर क्या जीजी ने मेरे चेहरे पर उभरते हुए मेरी निराशा के भावों को स्पष्ट देख लिया?

मैं बड़े बेमन से फालसे खाने लगा, हालांकि वे बड़े मीठे थे, स्वादु थे। वे एकदम मुझसे सटकर खड़ी हो गईं। उन्होंने अपने दाहिने हाथ से मेरे ललाट और बालों को सहलाते हुए कहा, "हितू, यह बात किसी और से मत बतलाना। लोग तुम्हारी हंसी उड़ाएंगे।"

मैंने तोता-भाव से कह दिया, "अच्छा, किसी से नहीं बतलाऊंगा।"

थोड़ी देर बाद हम बिछुड़े। अलग होकर अपने-अपने घर चले गए। पर, मेरे भीतर उदासी का जो धुआं उभरा था, वह तिरोहित नहीं हुआ।

७

अब मैं मैट्रिक का अप्रेषित छात्र था। सुनन्दा जीजी बार-बार अपनी यह इच्छा मुझसे दुहराती थी कि मैं मैट्रिक वाले बोर्ड की परीक्षा भी प्रथम श्रेणी से पास करूं। मैं मिहनती तो था ही, अब और ज्यादा मिहनत करने लगा। छोटी मां इस बीच एक और सन्तान की मां बनी। यह दूसरी

सन्तान कन्या थी। उसकी शकल पिताजी से काफी मिलती-जुलती थी। वह मुझे देखकर मुस्कराती और दोनों हाथ ऊपर उठा देती थी। इसका अर्थ यह होता था कि मैं उसे गोद में ले लूं। वैसे मैं उसे चाहता भी था, पर छोटी मां को प्रसन्न किए रहने के इरादे से भी मैं उसे तब भी गोद में लेकर आसपास टहलाने निकल जाया करता था। पर, छोटी मां बहुत अंशों में वही बनी रही—यानी सौतेली मां। उनका यह दावा बराबर व्यक्त होता रहता कि वे उन सौतेलियों में नहीं हैं, जो सौतेली सन्तान की उपेक्षा करती हैं। मुझे उनके कथनों का कुछ प्रतिवाद करना होता, तो बस एकान्त में जीजी से किया करता और जीजी मुझे नसीहत देतीं, "जाने दो। तुम अपनी मंजिल को देखो। अगर नहीं देखोगे, तो ये सारी बातें तुम्हारी राह में पत्थर बन कर खड़ी हो जाएंगी। समझ लो कि यही स्थिति तुम्हारे साथ है और इसी में रहते हुए तुम्हें आगे बढ़ना है।" एक शाम की बात है। मैं जीजी के साथ उनके अहाते में था। अहाते का विस्तार उत्तर से पश्चिम की ओर था। उत्तर की ओर तो मकान का रुख था, पश्चिम की ओर मकान की दीवार थी। दीवार के बाद फैला हुआ थोड़ा-सा मैदान और मैदान के बाद लगभग चार फुट ऊंची पतली-सी अहाते की दीवार। इसी ओर एक कुआं था। कुएं के चबूतरे से सटे तुलसी चबूतरा भी था। उसमें सदैव तुलसी का एक पौधा नजर आता था। आसपास कई क्यारियां थीं, जिनमें कुछ शाक-सब्जियां लगी थीं।

जीजी कोमल और ताजा लुबिया बड़े शौक से चबाया करती थीं। कहा करतीं—कच्ची लुबिया खाते वक्त मैं बकरी बन जाती हूं। और मैं उनकी यह बात सुन कर खूब हंसता था। मेरे मुंह से निकल पड़ता—लो, अब मैं तुम्हें जीजी नहीं मानता। भला बकरी मेरी जीजी हो सकती है?

जीजी का यह वाक्य भला कितना अर्थगर्भित होता था। ऐसे अवसर पर वह कहतीं—मानोगे कैसे नहीं? जो रिश्ता बन गया, वह समझो, जन्म-जमान्तर के लिए बन गया। मैं चुहिया भी बन जाऊं, तो मुझे तुम्हें अपनी बहन मानना होगा।

ओह, जो रिश्ता बन गया, वह समझो, जन्म-जन्मान्तर के लिए बन गया। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी इसी स्थापना ने उनकी

जड़ खोद डाली। लेकिन, इतनी आसानी से ऐसा कह कर भाग जाना भी उचित नहीं। मेरे लिए इस स्थापना से उत्पन्न स्थितियां अभी भी विवादास्पद न होतीं, तो इतना कुछ कहने-विचारने के लिए मेरे पास अवकाश ही कहां होता ? हम मर्त्यलोक में मर्त्यलोकवासियों की भांति गतिमान रहते हुए स्वर्गलोक के पारिजात कुंजों का शोभाआनन्द नहीं भोग सकते न !

लुबिया की लताएं पास ही फैली हुई वायु के मन्द-मन्द झोंके से लहलहा रही थीं। जीजी झुक-झुक कर हरी-पतली-कोमल उसकी फली तोड़ती और मुझसे कहती, "लाल-गुलाबी फूल वाली मटर की कोमल-कोमल पत्तियां भी मुझे बड़ी अच्छी लगती हैं।"

मैंने कहा, "भाई, जब तुम बकरी ही ठहरी, तो फिर क्या कहने !"

उन्होंने तीन-चार फलियां मेरी ओर बढ़ायीं और कहा, "लो खाकर देखो, अच्छी लगेंगी।"

मैंने कहा, "नहीं, मैं बकरा नहीं बनता। एक पपीता उधर पक रहा है। पक जाए तो मुझे देना।"

"अब तुम खुद तोड़ लेना। देखते रहोगे।"

"मैं देखता ही रह जाऊंगा और कोई तोड़कर चल देगा।"

जीजी खड़ी हो गईं और बोलीं, "अब मुझसे तो रखवाली नहीं हो पाएगी। कल से मुझे बाहर टहलने-फिरने के लिए मना कर दिया गया है।"

"मना कर दिया गया है, क्यों ?"

उत्तर में जीजी ने मेरी ओर काव्यपुरुषप्रिय नेत्रों से देखते हुए कहा, "कल तुम थे नहीं। पता लगाने में रह गए।"

"क्यों, क्या हुआ जीजी ?"

"कहना तो नहीं चाहती थी, तुम्हें दुःख होगा। मगर यह बात भी भला छिपाए छिपने की है ?"

मैं बड़ी बेचैनी महसूस करने लगा। जीजी वास्तविकता की ओट दिए जा रही थीं। मैंने कुछ गुस्से में कहा, "सही बात क्यों नहीं बतलातीं ?"

इस बार जीजी ने फिर मेरे सिर पर हाथ फेरा। उनकी पतली-पतली, गोरी-गोरी और गोल उंगलियों ने मेरे ललाट और मेरी भौंहों को भी स्पर्श किया। उन्होंने कहा, "बिहार से एक जन्मकुण्डली आई थी।"

"हां, आई होगी।"

"वह जन्मकुण्डली मेरी जन्मकुण्डली से मेल खा गई।"—जीजी ने आगे बतलाया, "कल तो नहीं, मगर परसों पिताजी जाएंगे। कुछ जरूरी बातें भी तय करेंगे और सब कुछ ठीक रहा, तो वररक्षा भी कर आएंगे।"

"यानी ?"

"समझो, ब्याह तय हो गया।"

जीजी के मुंह से यह सुन कर मुझे लगा, मैं किसी ऊंची पहाड़ी से सटकर खड़ा हूं और देखते-देखते चट्टान का एक भारी टुकड़ा पहाड़ी से फट कर मेरे वक्षस्थल पर आ गिरा। मैं सन्न रह गया। मैंने एक प्रकार से बदहवासी में पूछा,"इसका मतलब यह कि तुम्हारा विवाह हो जाएगा ?"

"हां, हो जाएगा।"

"और तुम बिहार चली भी जाओगी ?"

"हां, जाना तो होगा ही।"

मुझे आज पहली बार जीजी पर इतना गुस्सा आया कि मैं सोच बैठा—यह लड़की भरोसे की लड़की नहीं है। देखो तो सही, कितनी आसानी से कह रही है—'हां, जाना तो होगा ही।' जैसे इसी समय की प्रतीक्षा कर रही थी। कृतज्ञता के व्यवहार उसने मुझ पर लादे थे और मैं ऐसा बन गया कि उस लड़की को अकृतज्ञ समझने लगा। मैं तो उससे कुछ और ही अपेक्षा करता था। मेरे मन में उस ममतामयी के प्रति कुछ अनादर के भाव भी जग आए। मैं एक वाणीविहीन आक्रोश से उद्वेलित हो उठा। मेरे मस्तिष्क में इसी परिप्रेक्ष्य में सुनन्दाविरोधी तरंगें उठने लगीं—इतनी आसानी से ऐसी दुःखदायी सूचना जीजी ने भला कैसे दे दी है ? साहस तो देखो। नहीं, नहीं, यह साहस नहीं दुस्साहस है। अतीत की समस्त ममता के पीछे इतना बड़ा छल था, मैं भला कहां जान सका और यह किस तरह निभाती रहीं ? मुझे सूचित ही करना था, तो दूसरी तरह से सूचित करतीं। कहतीं—हितेन्द्र, यह बहुत बड़ी विवशता है।

तुम्हें छोड़ कर कहीं और रह पाना मेरे लिए असम्भव है। तुम देख लेना, मैं इस स्थिति को सह नहीं पाऊंगी। मैं रो-रो-धो कर जमीन-आसमान एक कर दूंगी। ससुराल वाले नहीं भेजेंगे, तो मैं भाग कर चली आऊंगी। मेरा हृदय तो बस तुम्हारे लिए हाय-हाय करता रहेगा। मैं वहां आफत मचा दूंगी। तुम देख लेना, दो-चार रोज बाद ही मैं यहां नजर आऊंगी। मगर ऐसा कुछ तो नहीं कहा जीजी ने।

मैंने जीजी पर घृणा भरी वेधक दृष्टि डाली। जी में आया, उनके चेहरे पर जोरों से थूक दू और उनके नाम मुह में छोटी-मोटी दो-चार गालियां भी निकालू। मेरे अंग-प्रत्यंग में आक्रोश-भरी कसमसाहट होने लगी। उसी दम मैंने पूछा, "अच्छा, तो बिहार में। मगर कहां ?"

जीजी ने पुनः अपरिवर्तित मुद्रा में कहा, "शायद पटना।"

"शायद ?"

"हां, शायद। मैंने ठीक से सुना नहीं।"

"सुना कैसे नहीं होगा ?"

"हां हितू, मैंने सचमुच ठीक से नहीं सुना। पिताजी मां से बोल रहे थे और बीच-बीच में 'पटना' शब्द आ जाया करता था।"

"कितनी दूर है यहां से पटना ?"

"मुझे नहीं मालूम।"

"यहां से कितना रेलभाड़ा है ?"

"यह भी नहीं मालूम।"

—जीजी, तुम बहुत ही निर्दय और चालाक हो। मालूम कैसे नहीं, तुम्हें सब मालूम है। मगर छोड़ो, मेरा क्या! रेलभाड़ा कम हो या ज्यादा, मैं तो तुम्हारे यहां पहुंचने से रहा। तुमसे जितना ही बचकर रहा जाए, उतना ही अच्छा—मैंने तत्काल ही यह सब सोच लिया।

सुनन्दा जीजी ने जैसे जले पर नमक छिड़कते हुए कहा, "भाइयों को तो अपने ही बीवी-बच्चों से फुर्सत नहीं। पिताजी पुराने विचारों के ठहरे। बेटी के द्वार आने से परहेज करेंगे। तुम आते-जाते रहना। तुम्हारे आते-जाते रहने से कड़ी जुड़ी रहेगी। सारे हाल मालूम होते रहेंगे।"

मैंने अत्यन्त उपेक्षा भाव से कहा, "देखा जाएगा।"

"देखा नहीं जाएगा। तुम्हें आना होगा। मायके से भाई आया है, मेरा यह अरमान तुम्हें ही पूरा करना होगा।"—जीजी ने आगे कहा, "कल से मैं बाहर बहुत कम निकला करूंगी। तुम मौका निकाल कर खुद आंगन में चले आया करना।"

"क्या कोई काम है मुझसे ?" इस प्रश्न के साथ मैंने पुनः उपेक्षा का प्रदर्शन किया, सो जीजी ने कहा, "बहन को भाई से यह भी कहना पड़ेगा हितू ? इतनी जल्द मुझसे विमुख होने लगे ? नहीं, ऐसा नहीं होना चाहिए।"

हम शायद अपने-अपने मानसिक परिवेश में अभी कुछ और बातें करते, किन्तु उसी समय चाचाजी कहीं से बाहर से चले आए और हमें अपनी बातें बन्द करनी पड़ीं। जीजी दीक्षित जी के साथ अपने घर में चली गईं।

८

यह प्रश्न मेरे लिए, जिसके मूल और शाखा को मैंने ही जन्म दिया था, क्या मेरे लिए कम महत्त्वपूर्ण था कि जब जीजी ब्याह करने को तैयार हैं और अन्य लड़कियों की भांति उनका भी ब्याह हो रहा है, तो इस प्रकार वे अपने में परिवर्तन क्यों ले आई हैं, सहज से कठिन और फिर कठिन से सहज बन जाने का उपक्रम क्यों करने लगी हैं ?

अब तो लगभग सात-आठ दिनों बाद बारात आने वाली थी, सोचने-विचारने के लिए भला शेष क्या रह गया था ? फिर जीजी अब किस चक्कर में आ गई थीं कि खोयी-खोयी रहने लगी थीं ? अब मुझे उनका बहुत कम बोलना, कम हंसना नहीं भाता था। लेकिन, सवाल यह है कि मुझे उनका आखिर कौन-सा रूप उन दिनों भाने लगा था। शायद कोई नहीं। उनके साहचर्य को लेकर मेरा किशोरहृदय शून्य में तैरने लगा था।

मैं तब कितना अविवेकी हो गया था कि मेरे कान अश्रव्य समाचार सुनने को उत्सुक रहते थे। काश, कोई आकर बतलाता—सुनन्दा का ब्याह अब इस वर से नहीं होगा। हाय, राम-राम करके जन्मकुण्डली भी मिली, तो नाव किनारे पर आकर डूबी।

चलो, इस खींचतान से छुट्टी मिली। जीजी अभी यह मुहल्ला, यह शहर छोड़ने वाली नहीं। मेरे सिर पर फिर उनके हाथ फिरेंगे।

जीजी के पास अब उनकी सहेलियां ज्यादा आने-जाने लगी थीं। वे अक्सर उनसे घिरी हुई नजर आतीं। मैं भी उनके आंगन में बराबर उपस्थित हुआ करता, पर वे मेरी ओर पहले की तरह मुखातिब नहीं हो पाती थीं। मैं परेशान हो उठता कि वे इस कदर क्यों दबी-दबी और सिकुड़ी-सिकुड़ी दिखने लगी हैं?

शादी-ब्याह का घर। दूर और पास से कई रिश्तेदार आ गए थे। इनमें आदमी, औरतें और बच्चे सब थे। तीन-चार तो मेरी ही उम्र के थे। जीजी के दोनों भाई आ गए थे, भाभियां आ गई थीं। मुझे लगता था कि इस भीड़भाड़ और चहल-पहल में मेरी कोई पहचान ही नहीं रह गई है। मैं मेहमानों के बच्चों से घुलमिल जाना चाहता था। पर, वे भी मुझे महत्त्व नहीं देते थे। मैं जाकर खड़ा होता, इधर-उधर देखता और अपने को अपमानित महसूस करता हुआ लौट आता था। कोई औरत अपने बच्चे को डांटती होती, कोई आदमी अपनी बीवी से नहाने के लिए तौलिया-साबुन मांगता होता, कोई औरत मांग-बिन्दी करती हुई नजर आती। प्रायः हर सन्ध्या लड़कियां और औरतें आंगन में लम्बी-चौड़ी दरी बिछा कर गीत गाने बैठतीं। ढोलक की गमक चतुर्दिक फैलने लगती। चाचाजी उर्फ कमलाकान्त दीक्षित मेरी बगल से गुजर जाते, [illegible] और निगाह डालते और आगे बढ़ जाते थे। एक बार ऐसे ही [illegible] मैंने सुना कि पटना से जेवर नहीं आएंगे, जेवर यहीं बनेंगे। [illegible] की अनुपस्थिति में ही जीजी से प्रश्न किया "तो तुम [illegible] को तैयार हो गईं कि तुम्हें जेवर मिलेंगे और जेवरों के [illegible] मुहल्ला, यह शहर छोड़ने का इरादा बना लिया?"

पर, जीजी पास हों, तब तो [illegible]

बात यह है। मैं छोटी मां द्वारा लगातार अपमानित हो रहा था और मुझे यही महसूस होता कि चूंकि वे जान गई हैं कि सुनन्दा अब यहां से चली जाने वाली है, इसलिए हितेन्द्र को बुरा-भला सुनाने में कोई खतरा नहीं है।

मैंने कई बार जीजी की अनुपस्थिति और अपने मानसिक उद्वेलन के न्यायकक्ष में जीजी को अपराधिनी करार दिया। ब्याह करना मंजूर करके जीजी ने मुझे जैसे एक प्राणलेवा भंवर में लाकर छोड़ दिया। सारी खुराफ़ातों की जड़ मैंने उन्हें ही समझा, हालांकि कहीं कोई खुराफ़ात नहीं थी। छि: कैसी हैं जीजी कि जेवरों पर अपने को स्वयं निर्वासिता बनाने को तुल गईं। दाम्पत्य जीवन के बहुत सारे आयाम हैं, मैं तब इस बात को समझने की मानसिक परिपक्वता से बहुत दूर था। जीजी के दोनों बड़े भाई मुझसे यदाकदा प्यार से बोल दिया करते, तो मुझे लगता, वे मुझ पर अयाचित कृपा-वर्षा कर रहे हैं। मैं तो बस एक की ही कृपा से सदैव सम्पृक्त रहना चाहता था और वह कृपा थी—सुनन्दा जीजी की कृपा !

और, सुनन्दा जीजी विछोह के पथ पर निरन्तर अपने चरण गतिमान करती जा रही थीं। मैं उन पर एकान्त में बौखला उठता था। पर, अब जो उनके सामने पड़ता, तो इच्छा होती कि वे मुझे भरेपूरे स्नेह से देखें, मुझे पुकारें और मैं उनकी ओर से बेरुख होकर तेज स्वर में कह दूं—ना, मैं नहीं आता। जाओ, तुम्हें जहां जाना है। जल्दी चली जाओ।

फिर तो एक शाम वह ओंकार शास्त्री मेरी आंखों के सामने उभर ही आया। पं० कमलाकान्त दीक्षित के अहाते में खूब चहल-पहल थी। रोशनी के क्या कहने ! बाहर वाले जिस कमरे में मैं और जीजी मन्त्रणा किया करते थे, उसी के अन्दर भाड़े पर लाउडस्पीकर बजाने वाला आ गया था और बहुत सारे रेकार्ड संभाल रहा था। थोड़ी ही देर में छतों पर तीन ओर लगे लाउडस्पीकरों से फिल्मों के गीत जोर-जोर से बजने लगे। मुहल्ले के बहुत सारे लड़के रंगबिरंगी आकर्षक पोशाकों में एकत्र हो गए थे। कोई उछल कर इधर आता, तो कोई उधर जाता। उनके वस्त्रों के साथ उनके चेहरे भी चमक रहे थे। एक तीन-चार साल की लड़की का शायद मुण्डन हुआ था। उसके सिर पर बड़ा ही सुन्दर रूमाल बंधा हुआ

था। वह अपने पिता की गोद में थी और बार-बार पिता से ही पूछ रही थी—पापा, दुल्हा कहां है ?

मैं इस शोभा और प्रसन्नता भरी हलचल में भी भीतर से जैसे रीतता जा रहा था। आज मुझे इस अहाते और आंगन में घूमने की छूट तो मिली ही हुई थी, छोटी मां ने कह दिया था, "देखना कोई विधि-व्यवहार होने लगे, तो मुझे आकर बतलाना।"

मैंने अनचाहे कह दिया था, "अच्छा, बतलाऊंगा।"

ऐसे अवसर आने पर जीजी की भाभियां मुझे इधर-उधर डोलते देखकर कहतीं, "ए हितेन्द्र, जाओ, अपनी मां को खबर करो। जल्दी आ जाएं।"

मैं खबर करने जाता तो छोटी मां फौरन साड़ी बदल लेती, बाल संवार लेती और मुझसे कहती, "तुम घर बचाना। कहीं जाना मत।"

मेरा दिल बार-बार कहता कि जीजी के होने वाले पतिदेव को देखने मत जाना। तुम्हारे दिल पर पत्थर फेंकने वालों में एक वह भी तो है। जन्मकुण्डली मिल गई थी तो क्या बिगड़ गया था ? वही शादी करने से इन्कार कर देता।

इस तरह जहां द्वारचार के समय जीजी के दरवाजे पर अच्छी-खासी भीड़ थी, एकाएक रोशनी में पुरुषों-नारियों के चेहरे चमक रहे थे, लाउडस्पीकर और जोर से बज रहा था, मैं छुप कर एक गली में खड़ा हो गया था। इस गली से भी लोग बड़ी तेजी से कमलाकान्त दीक्षित के दरवाजे की ओर भागे जा रहे थे। मुझे लगता, ये सारे-के-सारे लोग पागल हो गए हैं। बेवजह, बेमतलब भागते चले जा रहे हैं।

'फिर भी जी न माना, तो मैं भी चल पड़ा। द्वारचार की रस्में अदा की जा रही थीं। भीड़ लगी थी। मैंने एकाएक भीड़ को चीर कर अपने को और समवयस्क लड़कों से आगे पाया। सुमुखियां मंगलगान गा रही थीं।

९

तमाशा दिखलाने वाले ने जैसे अपने सारे सामान बटोर लिए थे। पूरी महफिल खिसक चुकी थी और मैदान सूना हो गया था। मेहमान चले जा चुके थे। जीजी के दोनों भाई भी चले गए थे। सिर्फ भाभियां अपने-अपने बच्चों के साथ रह गई थीं और मैंने सुना कि दस-बीस दिनों बाद ये भी चली जाएंगी। आंगन में मण्डप ज्यों-का-त्यों खड़ा था। उसके खम्भों में लपेटे गए आम्रपत्र सूख गए थे और हवा चलने पर हिल जाया करते थे। मण्डप से गायब हो गए थे, तो रंग-बिरंगे बैलून।

दीक्षित जी फिर पहले की भांति आर्यसमाज इण्टर कॉलेज में छात्रों को हिन्दी पढ़ाने लगे थे। न जाने क्या हुआ कि जीजी के पटना की रेलगाड़ी पर सवार होते ही, उनके प्रति मेरे हृदय में उफनता हुआ सारा आक्रोश दूर हो गया और जब इंजन डब्बों को घसीटने लगा, तो मेरे जी में आया कि दसियों बार जोर-जोर से चीखूं-पुकारूं—जीजी, तुम मुझे छोड़ कर इतनी दूर क्यों चली जा रही हो ?

'समय वास्तव में किसी की गतिविधियों की चिन्ता नहीं करता। इसे ठहरा पाना कठिन ही नहीं, असम्भव भी है'। जीजी को जीप से स्टेशन तक लाया गया था। जीप को फूल-मालाओं से खूब सजाया गया था। जीजी की विदा के वक्त मैं भी उनके पास उदास मन से खड़ा था। वे रो-रो कर आत्मीय जनों से मिल रही थीं। किसी के हाथ पकड़तीं, तो किसी का कंधा। किसी औरत के गले में बांहें डाल देतीं, तो कोई औरत स्वयं उन्हें थाम लेती। सभी अश्रुपूर्ण नेत्रों से जीजी को पतिगृह भेज रहे थे। पड़ोसिनों से जीजी की माताजी तक अश्रुविह्वल थीं। जीजी लगातार रोती-बिलखती जा रही थीं। वे कभी दाएं झुकतीं, तो कभी बाएं। पीली धोती पहने दीक्षित जी खड़े थे और उनके नेत्रों से भी आंसू झरते चले आ रहे थे।

जीजी को रह-रह कर रोने का ज्वार आता। वे दीक्षित जी से कुछ इस प्रकार लिपट गईं कि लगा, अब पिता के कलेजे से अलग नहीं होंगी।

दीक्षित जी फफक पड़े और बार-बार एक ही बात कहने लगे, "रोओ न ज्यादा बिटिया ! बस तुम्हें अगले ही दो-चार दिनों में बुला लूंगा।" इस करुण दृश्य के बीच मुझे कई बार जीजी के कोमल-कोमल, सुन्दर-सुन्दर हाथ दिखे। घूंघट उन्होंने बड़ा ही लम्बा काढ़ रखा था, इसलिए उनका ताजे खिले कमल-जैसा मुखड़ा बड़ी मुश्किल से दिखलायी पड़ जाता था। दूसरों के, खास कर मेरे आंसू पोंछने वाले ये शक्तिशाली हाथ आज स्वयं अपने आंसू नहीं पोंछ पा रहे थे।

मैं परेशान था, विक्षिप्त था, मेरे हृदय को जैसे यह करुण दृश्य मरोड़े डाल रहा था। मैं अपने आपसे पूछने लगा था—मैं तो यहीं पास में ही खड़ा हूं। घूंघट के कारण जीजी शायद मुझे नहीं देख पा रही हैं क्या ? लोग सहारा दे-देकर जीजी को कदम-दर-कदम सामने खड़ी जीप की ओर लिए जा रहे थे और लगभग जीप से सट कर ही खड़ा था—यही ओंकार शास्त्री। सिर पर आगे के बाल जरा-जरा सफेद दीख रहे थे।

मैं इसी मन.स्थिति में खड़ा था कि मेरे लिए एक घटना घटित हुई। इस बार जीजी मेरे अगल-बगल खड़े लोगों की भीड़ को चीर कर बड़ी तेजी से मेरे पास चली आई। उन्होंने एक तरह से मुझे अपने स्नेह-अंक में भर लिया। मेरे दाएं गाल पर अपनी दाहिनी हथेली रख दी और छिटकते हुए स्वर में कहा, "खूब पढ़ना, फिर फर्स्ट आना।"

उनके बहते हुए अविरल आंसू मेरे गले के पास और शर्ट पर गिरे। मेरे तो सारे रोंगटे एकाएक खड़े हो उठे। पर, वाह रे मैं कि मेरी आंखों से आंसू का एक कतरा तक न टपका।

किसी ने तभी आवाज लगायी, "जल्दी करो। ज्यादा समय नहीं है।"

जीजी एक तरह से रोती-कलपती-बिलखती जीप पर लोगों ने जहां बिठा दिया, वहां बैठ गईं। न जानें तब मुझे बुजुर्गों-जैसी अकल कहां से आ गई कि मैंने मन-ही-मन यह निर्णय दिया कि यह ओंकार शास्त्री जीजी के लायक नहीं है। जीजी के सामने तो यह एक वनमानुस के अलावा कुछ और नहीं है। मुझे स्टेशन जाने के लिए किसी ने एक बार भी नहीं कहा। मगर, मैं एक तरह से जबरदस्ती उस हज्जाम के साथ साइकिल की पिछली सीट पर जा बैठा, जो पीले कपड़े में कुछ लिए हुए स्टेशन जा रहा था।

१०

कभी-कभी लोकचिन्ता न तो सार्थक होती है और न उसका कोई औचित्य ही होता है। जीजी जब बीस-पच्चीस रोज बाद ससुराल से वापस आईं, तो उनकी भाभियों ने पड़ोस की महिलाओं से कानाफूसी करके यह दुःखद समाचार प्रसारित किया कि बीबीजी (सुनन्दा) ब्याह तो दी गईं, पर सुखी नहीं हैं। इसकी पुष्टि में उन्होंने कम-से-कम आधा दर्जन कारण उस समाचार में चिपका दिए। उदाहरणार्थ—बीबी जो जेवर यहां से पहन कर गई थीं, वही पहन कर लौटीं, बल्कि उनमें से एक का पता नहीं है। साड़ियां जो यहां से दी गईं, उनमें कोई इजाफा नहीं हुआ है। ओंकार शास्त्री को चाहिए था कि सुनन्दा को कहीं दर्शनीय स्थल को घुमाने ले जाते। वह भी नहीं हुआ। मनोवैज्ञानिक अनुसन्धान उनका यह था कि बाहर से बीबीजी खुश नजर आती हैं, मगर भीतर से लगता है, कोई बहुत बड़ा अभाव उन्हें काटे जा रहा है। एक बार भी, जब से आई हैं, खिलखिलाहट-भरी हंसी नहीं हंसीं। दामाद महोदय का पटना में न तो अपना घर है और न कोई स्थायी नौकरी। जो सज्जन सुनन्दा को लिवाने गए थे, उन्होंने एकदम से भांप लिया था कि नाश्ते के लिए मिठाइयां पड़ोस के हलवायी के यहां से उधार मंगायी गई थीं।

ये सारी बातें दीक्षित जी के कानों तक भी पहुंची थीं, मगर उन्होंने सबकी अनसुनी कर डाली थी। मेरे लिए यह कहना कठिन है कि भीतर से इस सन्दर्भ में उनकी क्या स्थिति थी। हो सकता है, अन्तर से वे भी अपने को मर्माहत अनुभव कर रहे हों।

मुझे ऐसा लगा, जीजी के पुनः आ जाने से सामने के तालाब की अथाह जलराशि सर्वांशतः सुनील हो उठी, फालसे का पौधा हरी-हरी पत्तियों से भर उठा। फिर भी जीजी के विषय में, विशेषकर महिला वर्ग के बीच लोकचिन्ता का प्रसार अबाध गति से हो रहा था। पड़ोसिनें आतीं और छोटी मां से अपनी चिन्ता, अपनी निराशा और पीड़ा व्यक्त कर जातीं। मैं सुनता और सुनकर भी गूंगा बना रहता। एक तो मैं इन बातों

पर कोई मन्तव्य देने योग्य नहीं था और जो कुछ बोल भी देता, तो छोटी मां अपने एक ही कटु वचन से मेरी जबान बन्द कर देतीं।

पश्चिम वाले बरामदे में जो चारपाई स्थायी रूप से रखी रहती थी, उसके लगभग हर दराज में खटमलों का बसेरा हो चुका था। बैठना मुश्किल था। पिताजी कहीं से खटमल मारने वाला पाउडर ले आए थे। सवेरे-सवेरे मैं छोटी मां के आदेश पर चारपाई के हर दराज में वह पाउडर डाल रहा था कि दो-चार से अधिक चूड़ियों की खनक ने मेरा ध्यान बंटा लिया। गर्दन घुमाकर देखा, तो जीजी थीं।

छोटी मां ने बड़े प्यार से उन्हें बिठाया—खटोला बिछा दिया। दो-तीन मिनट की औपचारिक बातों के बाद उन्होंने जीजी से कहा, "विवाह के बाद तो तुम यहां के लिए मेहमान हो गई। सुना, [illegible] है। इसमें कितना सच है, इसे तो तुम ही बतला [illegible]।

११

वणिकबुद्धि से अपने को असम्पृक्त रखने की प्रेरणा जीजी ही मुझे देती रहीं। इसीलिए अपनी कपड़ों की दुकान में मेरी कोई अभिरुचि नहीं रही। पर, मैं इस बात से अवगत होता रहता था कि पिताजी किन-किन तरीक़ों से अपनी तिजोरी का वजन बढ़ाते चले जा रहे थे। मैंने जब स्नातक की उपाधि ले ली, तो उन्होंने एक सुबह दुकान जाने की तैयारी करते समय मुझे अपने पास बुलाकर कहा, "हितू, अब तुमने काफी पढ़ाई कर ली। तुम खुद देख लो, यहां हमारी बिरादरी का कोई भी लड़का बी० ए० की डिग्री तो नहीं ले सका, मगर व्यापार में लग कर इस काबिल बन गया कि अपने घर के लोगों के अलावा पांच-दस कारिन्दों का पेट पालता है।"

"हां, पिताजी, यह तो है।"

मेरे इस समर्थनसूचक वाक्य में पिताजी को शायद अपने मनोनुकूल कोई रस नहीं मिला। बोले, "अब जो तुम कहीं नौकरी भी कर लो, तो मुश्किल से चार-पांच सौ रुपए माहवार कमा सकते हो। इससे ज्यादा नहीं।"

"हां, सो तो है।"

पिताजी जैसे अपने हर सुझाव के साथ एक मोर्चा हारते जा रहे थे। वे चाहते थे कि मैं उनके सुझावों को सुनकर अपनी ओर से कुछ ऐसी बातें बोलूं, "जिनसे वे यह अनुभव कर सकें कि अब आगे की पढ़ाई में मेरी कोई रुचि नहीं रह गई है और मैं वणिकवृत्ति में पूरे मन से जुट जाना चाहता हूं। ठीक इसके विपरीत उन्हें शायद ऐसा महसूस हो रहा था कि मैं मात्र रिश्ते का ध्यान रखकर उनके मानार्थ ये छोटे-छोटे वाक्य बोलता चला जा रहा हूं।

मेरी स्थिति दूसरी थी। मैंने ऑनर्स के साथ बी० ए० पास किया था और मुझे प्रथम स्थान मिला था। यहां तो यूनिवर्सिटी थी नहीं कि मैं स्नातकोत्तर अध्ययन में लग जाता। स्नातकोत्तर अध्ययन के लिए लखनऊ

चले जाने के सिवा कोई चारा न था। बीच-बीच में, शायद साल भर में एक बार, सुनन्दा जीजी पटना से बीस-पच्चीस रोज के लिए आती थीं और मेरी पढ़ाई की प्रगति से प्रसन्न होकर मेरी पीठ ठोका करती थीं।

पिताजी ने जब मेरी ओर निराशा भरी दृष्टि डाली, तो मैंने उनके दिल का बोझ हल्का करने के इरादे से कह दिया, 'पिताजी, आप ठीक कह रहे हैं। मगर मैं कपड़े की दुकान में नहीं बैठना चाहता।"

पिताजी को लगा, लड़का कुछ और चीज की दुकानदारी में रुचि रखता है। फौरन बोले, "अरे, ऐसी तो मेरी कोई जिद नहीं कि तुम कपड़े की दुकान में ही बैठो। तुम अपने दिल की कहो। कपड़े की दुकानदारी के सिवा क्या किसी और चीज की दुकानदारी नहीं हो सकती? तुम किस चीज की दुकान चलाना चाहते हो, मुझे बतलाओगे, तभी तो मैं उस बारे में कुछ कर सकूंगा।"

'मैंने जैसे हवा मे कह दिया, "मैं ठेकेदारी करना चाहता हूं।"

"ठेकेदारी? काहे की ठेकेदारी?"

अब मैं दिक्कत मे पड गया। समझ मे नहीं आया कि क्या कहूं। विवशता के स्वर में मैं बोल पडा, "थोडा समय दीजिए। सोचकर बतलाऊंगा।"

"हां, यह एक बात हुई। तुम दस रोज का समय मांगोगे और मैं कहता हूं कि तुम महीने भर मे सोचकर बतलाओ।"

इस प्रकार पूर्णतः तो नहीं, पर अंशतः आश्वस्त होकर पिताजी दुकान खोलने-खुलवाने चले गए। मैं उनके ही साथ नाश्ता कर चुका था। परोक्ष की स्थिति नहीं मालूम, किन्तु प्रत्यक्षतः छोटी मां मुझसे बहुत कम बोला करती थीं और मैं भी इसी प्रयास मे रहता कि उनसे ज्यादा बोलने का अवसर न आए। मैं भीतर से बाहर निकल आया और अपनी कोठरी में चला गया।

पिछली शाम पंजाब मेल से सुनन्दा जीजी आ गई थीं। खबर मुझे लगभग आठ बजे रात में मिली थी। मैं मिलने पहुंचा, तो वे बड़े प्रेम से मिलीं। पर, वे कुछ थकी और कुछ व्यस्त दोनों थीं। भाइयों में दोनों भाई तो उनसे बड़े ही थे। उन्हीं दोनों में छोटे भाई रजनीकान्त दीक्षित दो रोज

पहले आ गए थे। साथ में बीवी और तीन बच्चे। बच्चे जगे हुए थे और अपनी बुआ से बेतरह चिपट रहे थे। सुनन्दा जीजी ने इशारे से मुझे अपने पास बुलाकर धीरे से कहा था, "कल नौ बजे के लगभग तुम्हारे घर आऊंगी। घर पर ही रहना।"

जब मैं अपनी कोठरी में प्रवेश कर रहा था, दूर से सुनायी पड़ा, कोई किसी को समय बतला रहा था, "नौ बजने में आठ मिनट बाकी हैं।"

मुझे जीजी याद आ गईं। उन्होंने इसी समय यहां आने के लिए पिछली रात कहा था। मैंने कल्पना की। वे आएंगी और मेरी पढ़ाई-लिखाई की प्रगति से अवगत होकर बहुत खुश होंगी। मैं उनसे अपनी आगे की पढ़ाई के विषय में विचार-विमर्श करूंगा। वे तो मेरी ही इच्छाओं का समर्थन करेंगी कि मुझे कम-से-कम एम० ए० तक अवश्य पढ़ना चाहिए। मैं जीजी को अपनी इसी कोठरी में देर तक रोके रखूंगा। जब पूरी बातें हो लेंगी, तभी कहूंगा कि अब आंगन में जाओ। छोटी मां से मिल लो।

तभी मेरे मन-मुख का स्वाद बिगड़ता हुआ लगा। मैंने एकदम एक ग़लत बात महसूस की कि जीजी के साथ ओंकार शास्त्री नाम का जीव भी मेरे कमरे में आ बैठा है। यहां उसके परोक्ष में बहुत सारे औरत-मर्द उसके पहनावे-ओढ़ावे को देखकर अपने होठों की बनावट बिगाड़ लेते हैं। ससुराल आता है, तब भी धोती और मामूली कत्थई रंग के हैण्डलूम का कुरता पहने रहता है। वह अपनी बायीं कलाई में जो घड़ी बांधता था, उसे भी मैं खूब पहचानता था। यह घड़ी किसी की नहीं, जीजी की थी। वे क्वांरी थीं और नवें वर्ग में पढ़ती थीं, तभी से घड़ी बांधती थीं। यह वही घड़ी है।

बदमाश! इसने जीजी से मुझे मिलने वाले प्यार की उस भूमि पर एक चौड़ी-गहरी लकीर खींच दी, जिस पर मैं अपना एकाधिकार समझता था। और जीजी भी कैसी हैं कि उसी के नचाये नाचती हैं, उसी के कहे पायल खोलकर बैठ जाती हैं। क्या हो गया जीजी को कि उन्होंने पूरे हृदय से उसकी अधीनता स्वीकार कर ली? वही उनका इष्टदेव है, उनके प्राणों का सम्पूर्ण नैवेद्य उसी अनाकर्षक व्यक्तित्व के आगे समर्पित है।

अब उसने यहां आना एक प्रकार से छोड़ दिया है। पहले तो जीजी के

साथ न भी आवे, तो विदा करा कर लिवा जाने अवश्य आता था। एक-दो रोज से ज्यादा नहीं ठहरता था। बहुत कम बोलता था। वह आंगन वाले स्नानगृह में स्नान करने जाता और जीजी तौलिया-साबुन वगैरह लेकर एक क्रीतदासी की भांति उसके पीछे दौड़ती थी। महरिन घर में ही होती, मगर उसके गीले कपड़े वे स्वयं साबुन लगा-लगाकर छांटती और तार पर सूखने को फैला दिया करती थीं। उसके आने पर दीक्षित जी के यहां विशेष सुस्वादु व्यंजन बनते, मगर वह इन व्यंजनों की ओर आकृष्ट है, ऐसा लगता ही नहीं था। एक बार उसने जीजी से कहा था, "मेरे लिए कुछ स्पेशल बनवाने की जरूरत नहीं। तुम तो मेरा खान-पान जानती हो। बेकार क्यों इन्हें परेशानी में डालती हो ?"

"मैं कोई फरमाइश नहीं करती। माताजी स्वयं उत्साह से···"

"यह तो है, मगर तुम उन्हें बतला क्यों नहीं देती ?"

"ससुराल आए हो न···।"

"हां, यह तो है।"

मैं उसकी इस स्थिति को समझता था कि वह जानबूझकर बन रहा है। मगर, जीजी से इस सम्बन्ध में कुछ कहते बड़ा डर लगता था। उस समय भगवान् मुझे इतनी अक्ल दे देता था कि मैं सोच लेता था—यह सब इन लोगों का निजी मामला है। व्यर्थ टांग अड़ाना उचित नहीं।

मैंने अपना मार्क्सशीट मंगवा लिया था और उसे जीजी को दिखलाने के लिए ढूंढ रहा था। इतने अधिक अंकों से पास करने की खुशी तो मन में थी ही। लखनऊ विश्वविद्यालय में मेरा प्रवेश बड़ी आसानी से हो सकता था।

"वाह हितू, तुम तो समय के बड़े पक्के हो।"

मेरे कमरे के चौखट पर पांव रखकर ये शब्द बोलने वाली जीजी थीं। मैंने कहा, "आओ जीजी, आओ। मुझे याद था, तुम इसी वक्त आने वाली थीं।"

"वही तो मैंने कहा कि तुम समय के बड़े पक्के हो। भूले नहीं। भूल जाते, तो कहीं और निकल गए होते। या फिर···।"

जीजी रुकीं, तो मैंने पूछा, "या फिर ?"

"छोड़ो, मैं दिल्लगी कर रही थी।" कहते हुए जीजी ने पुरानी लकड़ी की फोल्डिंग चेयर अपने बैठने लिए खींच ली। मैं चारपाई पर था।

"नहीं, नहीं, बतलाना होगा।"

"कुछ नहीं। मैं तो बस यूं ही तुम्हें यह कहकर चिढ़ाना चाहती थी कि या फिर मेरे आने की बात याद रहते हुए भी इधर-उधर भटकने को निकल पड़ते। सोचते, देखा जाएगा।"

"नहीं, ऐसा भला मैं कैसे कर सकता था !"

"तभी तो मैंने कहा कि मैं तुम्हें चिढ़ाना चाहती थी।"

फिर तो हम बातें करने में मशगूल हो गए। प्रसंग यहां तक आ गया कि मेरी आगे की पढ़ाई-लिखाई जारी रहे या अब इति समझा जाए ? मैंने कहा, "अब पिताजी बिल्कुल इस बात पर आमादा हैं कि व्यापारिक कारोबार में लग जाऊं। दो-एक रोज का अन्तर देकर रोज ही कोंचते हैं।"

जीजी ने जैसे अन्तिम निर्णय सुनाया, "नहीं, तुम्हें आगे पढ़ना है। देखो हितेन्द्र, भोजन-वस्त्र-दवा-घर तो सबों को चाहिए। मैं इस सच्चाई को अस्वीकार नहीं कर रही; किन्तु शास्त्रज्ञानी का जीवन इनके अभाव में भी कुछ और ही होता है। अच्छे-खासे पढ़े-लिखे हो जाने के बाद तुम अभावों में भी पलोगे, तो मुझे ज्यादा अफसोस नहीं होगा। तुम किसी भी क़ीमत पर एम० ए० जरूर करो। भाग कर लखनऊ चले जाओ। विश्वविद्यालय में प्रवेश लो। कुछ गलियों-मकानों की खाक छानोगे, तो तुम्हारे एक पेट को पालने के लिए ट्यूशन मिल जाएंगे। मेरे पटना के हाईकोर्ट में दो नामी-गिरामी वकील ऐसे हैं, जिन्होंने अखबार बेचकर अपनी ऊंची शिक्षा पूरी की। पहले हमें हीरा बनने का प्रयत्न करना चाहिए। जब हम हीरा बन जाएंगे, तो कभी कोई जौहरी भी मिल जाएगा।"

मुझे लगा, जीजी मुझे हवा में छलांग लगाने को अभिप्रेरित कर रही हैं। लेकिन मुझे उनके इरादे पर नाममात्र को सन्देह नहीं हुआ। मैंने फिर जोर देकर पूछा, "तो सचमुच भाग जाऊं ?"

"और नहीं तो क्या !" उन्होंने बेहद लापरवाही से कहा। ऐसा कहते हुए उनके सद्यः प्रस्फुटित कमल-सरीखे नेत्रों में एक चमक आ गई थी। उन्होंने आगे कहा, "तुम्हारे जीजा जी इस पेटपालू समाज में लोगों के

उपहास और व्यंग्य के पात्र बनते हैं, मगर मैं तो उन्हें पाकर बहुत प्रसन्न हूं।"

मैंने पूछना चाहा—क्या सच जीजी, उन्हें पाकर तुम बहुत प्रसन्न हो? किन्तु मौन ही रह गया। जीजी बोलीं, "यह बात किसी से कहने की नहीं। मैं तुम्हारे जीजा जी पर गर्व करती हूं।"

बचते-बचाते इस बार मेरे मुंह से निकल ही गया, "अरे···!"

"हां, हितू, बड़े भाग्य से ऐसे आदमी के साथ जीवन बिताने का अवसर मिला है।"

जीजी की यह बात सुनकर मैं सन्न होता जा रहा था। अपने पर काबू पाने की चेष्टा करते हुए मैंने कहा, "तो मैं जरूर लखनऊ भाग जाऊंगा। पिताजी का मंसूबा ठीक मेरे विपरीत है। उन्हें इस बात का बड़ा दुःख है कि मेरा ख़त नहीं मिलने के कारण अब तक वे दो-तीन कन्या-पिताओं को बिना कोई आश्वासन दिए लौटा चुके हैं।"

जीजी बोलीं, "ख़ैर, ब्याह तो करोगे ही, घर-संसार बसाना ही होगा। मगर अभी नहीं। समय आएगा, तो ब्याह भी कर लेना। अभी मैं महीने भर तो रहूंगी ही। पता लगाओ, यूनिवर्सिटी खुल चुकी है या नहीं। खुल चुकी हो, तो लखनऊ निकल जाओ। प्रवेशपत्र भरकर लौटो। मैं भी कुछ करूंगी।"

और मैंने जीजी के रहते तीन-चार दिन बाद चुपके से लखनऊ की बस पकड़ी।

१२

वक़्त जैसे घुटनों तक धोती बटोर कर फिर भागता रहा और मैं अब रेडियो स्टेशन की सर्विस में आ गया—असिस्टेण्ट स्टेशन डायरेक्टर! मुझे यह पद मिला जरूर, मगर ईमानदारी से कहूं, तो उसके पीछे बहुत

हद तक जीजी और ओंकार शास्त्री भी थे। इतनी बाधा जरूर थी कि मैं संघर्षों से जूझता हुआ, पिता की इच्छा के विरुद्ध मनप्राण से विश्वविद्यालय की उपाधि लेने हेतु अध्ययन में लग गया था और ऐसे अवसर कई बार हाथ से निकल गए कि जीजी अपने मायके हरदोई आईं और मैं लखनऊ से हरदोई न आ सका। पटना से चलने से पूर्व पत्र वह ज़रूर डाल देतीं, पर इतना जरूर लिख देतीं—'वैसे मैं कम-से-कम महीने भर तो हरदोई रहूंगी ही, मगर तुम अपने कर्त्तव्य छोड़कर मुझसे मिलने मत चले आना। तुम्हें अपनी मंजिल को पहले देखना है, मुझे बाद में। तुम अपने कर्त्तव्य छोड़ कर चले आओगे और मुझसे छिपाओगे, तो मुझे कितना दुःख होगा, इसका अनुमान तुम सहज ही लगा सकते हो।'

मैंने स्नातकोत्तर अध्ययन की योजना चुपके-चुपके बनायी थी और एक तरह से सचमुच लखनऊ भाग आया था। छोटी मां और पिताजी मुझसे बिल्कुल बेरुख़ हो गए थे। सम्पत्ति भरी पड़ी थी, मगर मेरे नाम पर जैसे कुछ भी नहीं शेष बचा था। कुछ ही दिनों बाद पिताजी को मेरा लखनऊ का अता-पता मालूम हो गया और आकर उन्होंने मेरे स्टाईनाप कमरे के दरवाजे पर दस्तक देते हुए कहा था, "खोलो, मैं तुम्हें हरदोई वापस ले चलने नहीं, बल्कि यह कहने आया हूं कि अब मुझसे एक पैसे की आशा मत करना। हर पिता बड़े हुए पुत्र को अपने लिए छाया समझता है, मगर तुम छाया नहीं, तपती हुई धूप निकले।"

उनके क्रोध का अन्दाजा इसी से लगाया जा सकता है कि उन्होंने रुक कर मेरी शक्ल को ठीक से देखना तक गवारा नहीं किया और उल्टे पांव वापस चले गए। मैं एकदम हतप्रभ खड़ा रह गया।

इस प्रकार हम पिता-पुत्र के सम्बन्ध बड़ी तेजी से कटु हो गए। मैं एक बार जीजी के हरदोई आने की सूचना पाकर ठीक तीसरे रोज वहां पहुंचा, जब जीजी को आए दो रोज हो गए थे। बस-स्टैण्ड से मुश्किल से डेढ़ फर्लांग पर हम दोनों के घर थे। मेरे पास मात्र एक एयर बैग था। बस स्टैण्ड से मैं पैदल ही चल पड़ा और जीजी के दरवाजे पर आकर खड़ा हुआ। तब दिन के लगभग बारह-साढ़े बारह बज रहे होंगे। पहले मेरा ही घर पड़ता था। बीच में ठाकुर मंगल सिंह का मकान, जो किसी कांग्रेसी

नेता के चमचा थे, उसके बाद दीक्षित जी यानी चाचाजी का घर। इतनी बात सही है कि मैंने अपने घर के दरवाजे पर एक उड़ती हुई निगाह डाली थी। निगाह डाली थी और बिना रुके आगे बढ़ता चला गया था। मुझे एकाएक एयर बैग लिए हुए अपने आंगन में खड़ा देख चाची को बड़ी हैरत हुई थी। मैंने आगे बढ़कर उनके पांव छुए, तो आशीर्वादसूचक कुछ शब्द कहने के बाद उन्होंने फौरन पूछा, "हिनू, तुम सीधे यहीं चले आ रहे हो या अपने घर से होकर?"

"सीधे यहीं चला आ रहा हूं चाची! कोई हिस्सा तो नहीं बंटाऊंगा, मगर अब तुम्हारा घर ही मेरा घर है। समझो कि···!"—मैंने अपने दाएं हाथ से कुछ इशारा करते हुए कहा, "बस यूं आया हूं और यूं चला जाऊंगा। देखो शायद शाम वाली बस पकड़ कर लौट जाऊं।" और चारों ओर निगाहें डाल-डाल कर जीजी की तलाश करने लगा। नहीं रहा गया, तो चाची से ही पूछ बैठा, "जीजी आई हैं न, कहां हैं?"

चाची ने एक कमरे की ओर, जो पूरब और दक्षिण के कोने में था, सकेत कर कहा, "सो रही है। आज सवेरे से उसके सिर में दर्द है। और हां, तुम शाम को बस से भला क्यों लौट जाओगे? मैंने तो भले के लिए पूछा कि सीधे यहीं चले आ रहे हो या अपने घर से होकर? रामदीन सेठ कुछ भी हैं, तो आखिर तुम्हारे पिता हैं। वैसे तुम यहां दस-बीस रोज रहो, हमारा कुछ नहीं जाता। बेटा, बात यह है कि जरा लोकनिन्दा से डरना होता है। हमारी नीयत में, हमारे प्यार में चाहे कोई खोट न हो, लोग कहेंगे कि यह दे-दे कर हमने ही रामदीन सेठ के बच्चे को घर से अलग करा दिया।"

"बात तो ठीक है चाची, मगर जो सागर नदी की धारा को अपने में मिलने देना ही स्वीकार न करे, नदी फिर उस सागर की ओर आखिर क्यों भागे?" मैं आगे कुछ और भी बोलने वाला था कि उधर वाले कमरे से सर पर आंचल रखती हुई जीजी निकलीं। उन पर नजर पड़ते ही मैंने अपना एयर बैग चाची के आगे टाल दिया और जीजी को दोनों हाथ जोड़ कर नमस्कार किया। जीजी मुस्कराई और पास आकर मेरे कंधे पर हाथ रख दिया। कहा, "मुझे ऐसा लग रहा था कि कोई बोल रहा है,

मगर अधनींद में पता नहीं चल रहा था। कहां से इतना बढ़िया डायलॉग बोलना सीख लिया ? तुम्हारे इस डायलॉग ने ही मुझे उठाकर यहां तक ला दिया।"

चाची बड़े प्यार से बोलीं, "पगला है, पगला !"

"यह एयर बैग तुम्हारा है ?"

"हां जीजी, मेरा ही है। यहीं रुकूंगा, यहीं खाना खाऊंगा। दोपहर में यहीं लेटूंगा और शाम की बस पकड़ कर लखनऊ···।"

जीजी ने मेरी आंखों में अपनी ममता भरी आंखें डालकर कहा, "न तो यह सब बतलाने की जरूरत है और न शाम तक तुम लखनऊ की बस से वापस जाओगे। मैं तो रोज-रोज यहां आने से रही। चुपचाप स्नान करो, कपड़े बदलो, खाना खाओ। बाल तुम्हारे धूल से सने दीख पड़ते हैं। शाम को तेल मालिश कर दूंगी।"

"अच्छा जीजी···।"

चाची जी को जीजी की ओर से कहे गए निषेधसूचक शब्द शायद बड़े अच्छे लगे थे। बोलीं, "अब बोलो बच्चू ! तुम्हारा रिंग मास्टर तो बस सुनन्दा ही है। कोई ये ही शब्द कहता, तो उससे चोंच लड़ाने लगते।"

मैं आनन्दपूरित लज्जा से अभिभूत हो उठा।

सारे-के-सारे इण्टर कॉलेज खुल चुके थे। चाचाजी कॉलेज चले गए थे। मैंने कल्पना की, पिताजी दुकान पर होंगे। तस्करों से खरीदे गए कपड़े पीछे वाली आलमारी से निकलवाकर ग्राहकों के सामने रखवा रहे होंगे। छोटी मां घर में या तो आराम कर रही होंगी या किसी पड़ोसिन को बिठा कर गप लड़ा रही होंगी। गिरीश स्कूल चला गया होगा। फिर मैंने उस कल्पना के भीतर छिपे हुए सत्य से झगड़ा कर लिया। यह सब है, तो मुझे क्या मतलब ? मैं जेवर गिरवी रखने का धन्धा नहीं अपना सकता। मुझसे तस्करी के माल नहीं बेचे जाएंगे। अनैतिक अर्जन का सुख भोगने को मैं तैयार नहीं हूं। पैसों के अलावा भी तो कोई और देवता होता है।

दोपहर में अक्सर चाची भी सो जाया करती थीं। मैंने स्नान किया और कपड़े बदल कर बरामदे में खड़ा हुआ, तो देखा, जीजी बड़ी जल्दी-जल्दी में स्टोव पर परांठे गरम कर रही हैं। गरम क्या कर रही थीं,

सेंक रही थी। चाची पश्चिम वाले कमरे मे सो रही थीं। जीजी ने मुझे देखकर कहा, "हितू, रसे की सब्जी तो नही है। भुजिया और अचार से खा लेना, ठीक ?"

मैंने कहा, "बिलकुल ठीक।"

जिस कमरे मे जीजी मेरे आने से पहले लेट रही थी, मैं उसी कमरे मे खाना खाकर लेटने चला गया। कोने मे टेबिल फैन था। जीजी ने उसे चला दिया और कहा, "अब तुम आराम करो, शाम को हम बातें करेंगे। मैंने लखनऊ भाग जाने की बात सिखलायी थी, कहीं ऐसा न हो कि तुम गुरु की पीठ पर ही हाथ रखो और चुपचाप उठकर चल दो। तुम्हारा एयर बैग मैंने छुपाकर रख दिया है। थोड़ी-सी मैं भी पीठ सीधी कर लूं।"

मेरा मन इस बात के लिए तैयार नहीं था कि जीजी मेरे पास से चली जाएं। उनका जाना मुझे अखरा। मगर मैंने उन्हें जाने दिया। जाने को वे चली तो गई, मैं लेट भी गया, मगर न मन मे चैन और न आंखों मे नीद। शादी के इतने दिन हो गए। मैंने देखा—जीजी मे कोई खास परिवर्तन नही आया था। हां, परिवर्तन आया था, तो बस इतना ही कि चंचल मुनव्वा थिर हो गई थी। वैसे न तो परिधान मे कोई हेर फेर, न व्यवहार मे। और मुझे फिर वह ओंकार शास्त्री स्मरण आ गया—धोती, कुरता और चप्पल वाला, जिसके एक हाथ मे कलम होती थी और दूसरे हाथ मे कोई मोटा ग्रन्थ। जीजी ने कभी बतलाया था—आधी रात गए तक पढते रहते हैं, बातें कम करते हैं। वह आदमी मेरा कोपभाजन जो बना था, सो अब तक बना ही हुआ था। पहले जीजी की आदत थी—सामने से जहा कोई बारात गुजरी कि भाग कर दरवाजे पर चली आई। दुल्हे को देखा, बाजे सुने और बारात के गुजर जाने पर फिर घर मे घुस आई;

—दुल्हा बड़ा अच्छा है।

—रंग साफ है।

—मौर मे लगी कलगी पर रोशनी पड रही थी। कलगी जरा-जरा हिलती थी। बड़ा अच्छा लग रहा था।

—कहां से ये बाजे वाले आए थे ? हितू, यही गाना न वे बजा रहे थे,

चुप-चुप खड़ी हो जरूर कोई बात है।

और मैं कहता, "हां, पहली मुलाकात है, पहली मुलाकात है।"

जीजी अब बारात देखने के ये मजे शायद पटना में लेती हों। याद नहीं, किसने बतलाया था, दोमंजिले पर रहती हैं। मैंने अनुमान लगाया, छत पर आकर ऊपर से सजी-धजी बारात देखती होंगी। जैसे यहां मेरा कन्धा हिला कर कहती थीं—हाय, चलो, चलो, बारात आ रही है। वैसे ही उस ओंकार शास्त्री से कहती होंगी—हाय, चलो, बारात देख आवें, जो कत्थई रंग का कुरता पहनना नहीं छोड़ सकता। फिर दोनों रोड पर वाली छत पर आ खड़े होते होंगे।

मैं यह सब सोच ही रहा था कि जीजी चली आईं। भीतर से तो मैं खुश हुआ, मगर बोला, "क्यों, तुम सोयीं नहीं? थोड़ा सो लिए होतीं।"

जीजी पायताने आकर बैठ रहीं। बोलीं, "कोशिश तो की कि सो जाऊं। अम्मा तो बेखबर होकर सो रही हैं। मगर मुझे तो नींद ही नहीं आई।"

मैं उठकर बैठ रहा। कोने में रखा टेबिल फैन सनासन हवा दे रहा था। जीजी ने मेरे दैनिक जीवन के विषय में पूछना शुरू किया और मैंने प्रातः पांच बजे से रात के दस बजे तक का लेखा-जोखा उनके सामने प्रस्तुत किया। स्टोव पर खाना बनाना, ट्यूशन करने निकल जाना, फिर यूनिवर्सिटी की तैयारी। यूनिवर्सिटी से लौट कर थोड़ी देर कमरे में आकर लेट रहना। पड़ोस में हलवाई की दुकान। चार कचौड़ियां और सब्जी खाकर ट्यूशन करने निकल जाना। आठ बजे लौट आना। पढ़ाई-लिखाई में लग जाना। नोट्स तैयार करना। यानी व्यस्त और संघर्षमय जीवन।

जीजी कुछ सोचने लगीं। एकाएक पूछा, "एम० ए० के बाद क्या करने का इरादा है?"

मैंने कहा, "यही तो कुछ तय नहीं किया है। नौकरी तो करनी ही है। मगर नौकरी कहीं रखी तो है नहीं कि डिग्री दिखला कर उसे ले आऊंगा।"

जीजी बोलीं, "तुम्हारे जीजा जी तुम्हें बहुत चाहते हैं।"

जीजी के इस कथन ने मुझे भीतर से चौंका दिया। ओंकार शास्त्री के प्रति मेरे मन में जो उपेक्षा के भाव भरे थे, शंकायित हो उठे। मेरा मान—

सिक विकार कुछ इतना गहरा हो गया था कि मैं उस आदमी को एकदम दो कौड़ी का आदमी समझता था। लेकिन, एक बात कहूंगा। अपने मन के इस विकार को, ओंकार शास्त्री के प्रति अपने इस बौद्धिक स्खलन को मैंने जीजी के समक्ष क्या, किसी के भी सामने व्यक्त नहीं किया था। कीचड़ में इस तूफान में मैं खुद खेल रहा था। जीजी ने अभी जब ऐसी बात कही, तो मैं थोड़ा सतर्क हो उठा। मेरे मुंह से निकला, "क्या सच ?"

"हां, सच। तुम्हारे जीजा जी सतह पर नजर नहीं आते। जो दुनियादार हैं, वे असल तल में समा नहीं सकते; क्योंकि वे उन ऊंटों में हैं, जिन्हें पहाड़ के नीचे खड़ा होने का अवसर ही नहीं मिला।"—कहते-कहते रुकीं, फिर बोलीं, "उन्होंने तुम्हें सुझाने के लिए कहा कि हिलेन्द्र रेडियो स्टेशन के कार्यक्रमों में भाग लिया करें और रेडियो लेसन में रुचि लें। लखनऊ में शायद ब्रिटिश कौंसिल लाइब्रेरी हो। वहां से तत्सम्बन्धी पुस्तकें लेकर पढ़ा करें। देश-विदेश में घट रही घटनाओं के बारे में अपना अध्ययन बढ़ाते चलें और जब रेडियो स्टेशन में किसी पद के लिए विज्ञापन निकले, तो आवेदन दे दें। ईश्वर चाहेगा, तो आ जायेंगे।"

ओंकार शास्त्री !

अरे ओंकार शास्त्री, तू भी गजब है। बिना याचना किए तू मेरे मार्ग में भुवनभास्कर को रोक कर खड़ा हो गया है।

मैं ओंकार शास्त्री के प्रति कुछ नत हुआ। जीजी ने आगे कहा, "उनका कहना है कि पहले से जो उम्मीदवार रेडियो स्टेशन के काम थोड़ा-बहुत जानता है, उसे वे तरजीह देते हैं।"

"ठीक है, अब इस ओर जुटूंगा। मगर जीजी, पहले तो परीक्षा सामने है। दो सौ चौरासी रुपए परीक्षा शुल्क देने हैं।"

"तुमने जोड़े भी कुछ नहीं होंगे।"

"चाहता तो था कि जोड़ूं, मगर सम्भव न हो सका। मैं पिताजी के सामने जाना भी तो नहीं चाहता।"

जीजी बोलीं, "सामने जाने में कोई हर्ज नहीं। सम्मान देना तुम्हारा फर्ज है। मैं तो कहूंगी कि मिल आओ। कुछ मांगना नहीं।"

मेरे मुंह से निकला, "जीजी, मुझे झाड़ पर चढ़ा कर नीचे से सीढ़ी न

सींचो।"

"यदि तुम उनके सामने जाने में अपने को इतना अपमानित महसूस करोगे, तो मैं जोर नहीं डालूंगी। मगर मेरा इतना कहा ज़रूर मानो कि माता-पिता का अपमान मत करना।"—फिर जीजी ने एकाएक पूछा, "तुम्हें कुछ पता है, आजकल सोना क्या भाव है?"

"मुझे कुछ पता नहीं।"

जीजी ने बिना हिचक के अपने दाएं कान का एक वजनदार बुन्दा निकाल कर मेरी ओर बढ़ाते हुए कहा, "इसे रख लो। परीक्षा का फार्म भर देना। मेरा ख़याल है, इतने में तुम्हारा काम चल जाएगा।"

"अरे···!"

"अब कोई हीला-हवाला नहीं सुनती मैं। भले आदमी की तरह चुपचाप रख लो। ऐसा करो कि टहलते-फिरते काशीनाथ की दुकान में शाम को चले जाओ और वजन करा कर पूछ लो कि बेचने पर इसके कितने पैसे मिलेंगे। पता चले कि काम भर पैसे नहीं मिलेंगे, तो दूसरा निकाल कर दे दूंगी। और सुनो, कहीं ऐसा न हो कि यह बात किसी के सामने प्रकट कर दो। यह सब हम भाई-बहन तक ही सीमित रहे।" जीजी बोलीं।

अभाव में भी वितरण का आनन्द!

अपनी अपर्याप्तता में दूसरे को उपकृत करके भी यह अनुभव करना कि मैंने जिसे दिया, उसे उपकृत नहीं किया। सम्भवतः इसी स्थितप्रज्ञ अनुभूति से जीजी की आंखों का रंग चमका उठा और दूसरे ही क्षण वह बुन्दा मेरे हाथ में था।

चित्रपट के चित्रखण्डों की भांति सब कुछ उभरता चला आया है।

एम० ए० परीक्षाफल निकला। मैंने प्रथम में प्रथम स्थान पाया।

रेडियो नाटकों में भाग लेने लगा, तो बहुत ऊंचा आर्टिस्ट माना जाने लगा। धीरे-धीरे रेडियो के लिए नाटक और काव्यरूपक लिखने लगा। अधिकारी इशारा करने लगे—आकाशवाणी की सेवा में आ जाओ। मैंने असिस्टेण्ट स्टेशन डायरेक्टर की परीक्षा दी और असिस्टेण्ट स्टेशन डायरेक्टर हो गया।

१३

जिस रेडियो स्टेशन में मुझे पहली बार नियुक्त कर भेजा गया, वहां के सारे स्टॉफ मुझे मेरे परोक्ष में 'छोटे साहब' कहते थे। कभी-कभी ये दो शब्द कानों में आते-जाते पड़ जाते, तो बड़ा सुख मिलता था। दिल कहने लगता—पढ़-लिखकर और यह पद प्राप्त कर मैंने बड़ा ही अच्छा किया। इतना पढ़-लिखकर अपनी कपड़े वाली दुकान में बैठता तो शायद ही ऐसा फ़र्क पड़ता। चौराहे पर, काशीनाथ की ज्वेलरी की दुकान की पटरी पर था वहीं और बैठे हुए बिरादरी वाले देखते, तो बस इतना ही कहते, "देखो, वह रामदीन सेठ का लौंडा है। बहुत पढ़ाई कर चुका है।" बस। जीजी ने और ओंकार शास्त्री ने इस स्थिति से मुझे बचा लिया था।

मैं यानी छोटा साहब।

रेडियो स्टेशन से लगभग मील भर दूर तीन कमरों वाली एक छोटी-सी कोठी भी मिल गई थी। मैंने गढ़वाल की तराई से भाग कर आए हुए एक लड़के को सेवक के रूप में रख लिया था। वह मेरे लगभग सारे काम करता। कपड़े संभाल-सभाल कर छांटता, खाना बनाता, जूठे बर्तन साफ करता और कोठी की रखवाली करता था। कोठी के चारों ओर आयताकार एक लॉन था, जिसके किनारे-किनारे फूल लगे हुए थे। इतना बड़ा शहर और मैं अकेला। दिल नहीं लगता था। इसलिए कोठी पर जो मुझे अतिरिक्त समय मिलता, उसे मैं पढ़ने में बिताया करता था। न तो मैं पिताजी को कोई पत्र भेजता था और न वे ही मेरे नाम कोई पत्र डालते थे। हां, अब तक मेरा दिमाग शायद होशहवास में था। मैं जीजी को बराबर पत्र लिखा करता। वे भी फौरन उत्तर देती थीं। पत्र तो मैं उन्हें दिल्ली में भी लिखा करता था, जब चुन लिए जाने के बाद मैं यहां के रेडियो स्टेशन पर प्रशिक्षण के लिए गया था।

ठीक स्मरण तो नहीं, पर जीजी का वह पत्र आज भी किसी फाइल, कापी, किताब या सूटकेस में पड़ा हो, जिसमें उन्होंने लिखा था—'तुम रेडियो स्टेशन की नौकरी में अच्छे पद पर आ गए। मैंने यहां भी

पटनदेवी के नाम तुम्हारी सफलता के लिए मन्नत मानी थी। अब कभी अवसर निकालकर आओ। तुम्हारे हाथों से देवी को प्रसाद चढ़ाना है। ये भी तुम्हें बुला रहे हैं।'

पत्र के इस अन्तिम वाक्य को पढ़कर मेरी अन्तर्दशा में बड़ा ही कुरुचि-पूर्ण परिवर्तन आ गया था। लेकिन, हां, जिस परिवर्तन को आज मैं कुरुचि-पूर्ण परिवर्तन कह रहा हूं, तब मैंने इसे अपनी सुरुचि का पर्याय माना था। न जाने किस आर्थिक और सामाजिक स्थिति में ये लोग रह रहे हैं। क्या करूंगा मैं वहां जाकर? जीजी पटनदेवी को प्रसाद चढ़ाना चाहती हैं, आखिर क्यों? मुझसे तो नहीं पूछा था। यह मन्नत मानने की भला क्या आवश्यकता आ पड़ी थी? कहां पटना और कहां हरदोई! कहां लखनऊ और कहां संघीय सेवा आयोग का कार्यालय! कहां दिन-रात के प्राणलेवा श्रम से की गई परीक्षा की तैयारी और कहां यह प्रसाद चढ़ाने की मन्नत!

ऊपर से ओंकार शास्त्री महाराज की ओर से भी बुलावा—'ये भी तुम्हें बुला रहे हैं।' मेरी अनुभूति-प्रक्रिया में लगता है, पूर्व-सम्बन्धों की स्मृति लेश मात्र को नहीं रह गई और मैंने सोच लिया—कम शिक्षित होने के कारण जीजी इन सब चक्करों में पड़ा करती हैं और मुझे यह भी स्मरण हो आया कि इण्टर की परीक्षा पास कर लेने के बाद जब वे घर में बिठा दी गई, तो उन्होंने आगरा विश्वविद्यालय से बी० ए० की प्राइवेट परीक्षा देने के लिए फार्म भरा था। परीक्षा दी भी थी और अंग्रेजी में उत्तीर्णांक से तीन अंक कम मिलने के कारण फेल कर गई थीं।

दुत्त! यह सब अधूरी शिक्षा का परिणाम है! और यह ओंकार शास्त्री कैसा है, जो स्वयं भी इन सब अन्धविश्वासों की जड़ में पानी डालता है! यह सब सोचते हुए और भीतर-ही-भीतर नाराज होते हुए मैंने जीजी के पत्र का उत्तर तो दे दिया, मगर पटना आने वाली बात को गोल कर गया। जिस विषय को मनुष्य बार-बार भूलता या जिस काम की ओर उसका ध्यान नहीं जाता, इस सम्बन्ध में यही तो कहा जा सकता है कि जुड़ा हुआ पात्र या तो उस विषय या काम में या तो रुचि नहीं रखता अथवा उनकी उपेक्षा करता है। लेकिन, यह सब मेरे अवचेतन ने नहीं, चेतन ने किया था। मैंने पूरे होशहवास में रहकर जीजी को जो उत्तर

दिया था, उसमें न तो मैंने पटना आने की चर्चा की थी और न पटनदेवी को प्रसाद अर्पित करने के सन्दर्भ में कुछ लिखा था।

यथार्थवाद को भाग्यवाद के खेमे में नहीं धकेला जा सकता। अब मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा कि जीजी मुझे भाग्यवाद की ओर उन्मुख कर रही हैं। भाग्यवाद पौरुष को तोड़ता है, पुरुषार्थवृत्ति को दुर्बल बनाता है। मैंने तय कर लिया कि आगे जीजी की ऐसी बातों में रुचि नहीं लूंगा। मैं जीजी को चाहता था, जीजी के भाग्यवाद को नहीं। राजनीति विज्ञान में एम० ए० करने के कारण मैंने कुछ उन महापुरुषों के सिद्धान्त पढ़े थे, जो प्रत्यक्ष की स्थिति के साथ उस स्थिति को देखते थे, जो ऐतिहासिक परिवर्तनों के कारण समाज और शासन की सड़ी-गली व्यवस्थाओं के बदल दिए जाने के बाद आने वाली थी या आ सकती थी। और वे जिस ऐतिहासिक परिवर्तन की कल्पना कर चुके थे, वह या वे परिवर्तन भाग्यवाद के अंधेरे मार्ग पर चलने से नहीं होने वाले थे। मैं उन लोगों की मानसिकता से जीने या कुछ-कुछ विरोधी होने लगा था, जो सुबह होने से पूर्व के अन्धकार में नारकीय दृश्य उपस्थित करने वाली गलियों के इस मुहाने से उस मुहाने तक भटकते और ठोकर लग जाने पर गली की दीवार पर दायां अथवा बायां हाथ टेक देते हैं। मैं सोचता—अंधेरे के आगे इस कदर समर्पित होने का भला क्या तुक है? यह तो सामूहिक आत्महत्या है, पर धीरे-धीरे, मैं यह मानने लगा था कि भाग्य कभी विस्फोट नहीं कर सकता, विस्फोट तो यथार्थ ही कर सकता है। और जीजी का फिर एक पत्र आया, जिसमें उन्होंने मेरी उन्नति की कामना की थी और उसके पहले ये चार शब्द लिखे थे—'ईश्वर ने चाहा तो'। ये शब्द मुझे इस तरह काट गए, जैसे दिन-दोपहर में सड़क के किनारे पेट के बल लेटे हुए कुत्ते ने एकाएक दौड़ कर मेरे घुटनों को लहूलुहान कर दिया हो। मैंने तय कर लिया कि अब जीजी को बहुत विलम्ब करके पत्र लिखा करूंगा।

इन्हीं दिनों की बात है कि एक दोपहर मेरे चपरासी ने आकर मुझे सूचना दी—सर, हरदोई से दो आदमी आए हैं, मिलना चाहते हैं।

इतना सुनते ही मेरे रोंगटे खड़े हो गए—कौन आया भाई? कहीं पिताजी तो नहीं आ गए? और उनके साथ यह दूसरा आदमी कौन हो

सकता है ? मेरे सामने कई विभागों के कार्यक्रम-प्रस्ताव-रजिस्टर पड़े हुए थे। यह सच है कि मैं व्यस्त था। मेरा मन भारी हो आया। शायद इसीलिए मैंने उससे पूछा, "हरदोई से ?"

"जी, सर।"

"नाम पूछ कर आओ।"

और कुछ ही क्षणों बाद आकर उसने बतलाया, "रामदीन सेठ और कमलाकान्त दीक्षित।"

मैंने अपनी मेज के पास खाली कुर्सियों पर निगाह डाली और उसे संकेत से बतलाया कि वह उन्हें चेम्बर में ले आवे। मैं और गम्भीर हो उठा।

१४

राजनीति के क्षेत्र में जो सेवा के मार्ग से नहीं, स्वहित के मार्ग से आते हैं, मेरा व्यक्तित्व सम्भवतः उनके ही व्यक्तित्व के आसपास रहा है, क्योंकि मैं भी अतीत में सिद्धान्त की बातें करता था, वर्तमान में भी करता हूं, और भविष्य में भी करता रहूंगा, हालांकि सिद्धान्तहीन जीवन में आकण्ठ निमग्न रहूंगा।

अपने वेतन और अपने पर व्यय होने वाली राशि को देखते हुए मेरी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ थी, फिर भी नितान्त अकेलापन मुझे काटने दौड़ा करता था। इस अकेलेपन के तेज दांतों से मुक्त होने की इच्छा औसत की अपेक्षा तेजी से जागने लगी थी। फिज़ूलखर्ची की आदत नहीं थी, इसलिए हर माह कुछ सौ रुपए अवश्य बैंक में जमा कर डालता था। लेकिन, एक आह उठती थी मन में कि यह कैसा जमा करना ? किसके लिए और क्यों ?

कोई स्टॉफ आकर कहता, "आज मैं तीन बजे के बाद से अनुपस्थित

रहना चाहता हूं। शाम चार बजे पत्नी को लेकर डाक्टर के पास जाना है।"

कोई प्रोग्राम असिस्टेण्ट कहता, "कल की मीटिंग में मैं उपस्थित नहीं रह पाऊंगा। मां को स्टेशन छोड़ने जाना है।"

कोई कहता, "बहन बीमार है। देखने जाना है। सप्ताह भर की छुट्टी चाहिए।"

मैं सबकी सुनता और एक वाक्य में मामला तय कर देता, "आप सीधे मेरे पास क्यों चले आए? जाइए और पेक्स कोआर्डिनेशन से कहिए। इन छोटी-छोटी बातों में मेरा समय न लीजिए।"

वे भीगी बिल्ली की तरह चुपचाप वापस चले जाते थे। किसी का साहस नहीं होता था कि अपनी प्रार्थना की पुनरावृत्ति करे या मूल प्रार्थना-शब्दों में आगे कुछ और शब्द जोड़े। अपनी मातहत के दो-तीन अफसरों को छोड़कर शेष को मुंह नहीं लगाता था। हां, स्वयं भी जब बड़े साहब के पास जाता, तो नपे-तुले शब्दों में बोलता था। इतनी बात जरूर थी कि मैं अपने कार्यदायित्वों का निष्पादन बड़ी मुस्तैदी से किया करता था। काम को लेकर मुझे किसी प्रकार का भय नहीं सताता था। इसीलिए जब दूसरों को कर्तव्यविमुख पाता, तो एक प्रकार से उन्हें जलील किया करता था। मैं उनकी उम्र का लिहाज कतई नहीं करता था।

जीजी ने कई बार लिखा था—'अपना काम पूरी मुस्तैदी से करना। काम प्यारा है, चाम नहीं। काम करने वाले के लिए उन्नति और सफलता के द्वार देर तक बन्द नहीं रहते।'

जीजी के इन शब्दों को शायद मैंने अपने अवचेतन में बड़े यत्न से जुगा रखा था। पर, अब जब कर्तव्यनिष्ठा मेरा स्वभाव, मेरी प्रकृति बन चुकी थी, तो जीजी के ये शब्द मुझे घोर एकान्त में भी नहीं सुनायी पड़ते थे। वक्त मुझे जीजी से दूर किए जा रहा था अथवा मैं स्वयं प्रयत्नपूर्वक उनसे दूर होता जा रहा था—मैं इस सम्बन्ध में तब निर्णायक रूप से कुछ भी नहीं कह सकता था।

मेरे मन में आता कि मैं भी छुट्टियां लूं, बड़े साहब के सामने कभी मेरे मुंह से भी फूटे कि कल मैं अपने घर जाना चाहता हूं, तार आया है

या कि कल मैं शायद दफ्तर न आ पाऊं, ससुराल से कुछ लोग चले आए हैं, उन्हें यहां के कुछ दर्शनीय स्थान दिखलाने हैं। इसी प्रकार की बहुत सारी बातें हो सकती थीं। मगर वास्तविकता से मैं कोसों दूर था। मैं अकेलेपन के गहरे अंधेरे से उछल कर कुछ अपने कहे जाने वाले लोगों की भीड़ में आ खड़ा होना चाहता था। लगता था, मैं निस्सीम क्षेत्र में फैली हुई पहाड़ी के इस पार हूं और वे दिन उस पहाड़ी के उस पार के वीराने में कहीं भटक रहे हैं, जो कभी मेरे लिए अत्यन्त प्रिय थे—एकान्त क्षणों वाले दिन ! तनहा कोठरी में गुजर जाने वाले दिन !! छत की ओर देखते हुए एकाएक आंसू बहा देने के दिन !!! अब छांव मिल गई थी, तो कोई बातें करने वाला चाहिए था। ताजे और खिले-खिले गुलाब के उद्यान में मेरी आंखें किसी मदिरनयनों वाली की तलाश कर रही थीं। मैं अपने और उसके रिश्तेदारों के बीच अपने को पाने के लिए सही माहौल को अपनी मुट्ठियों में भींच लेना चाहता था।

उस दिन पण्डित कमलाकान्त दीक्षित पिताजी के साथ उतना लम्बा सफर करके सीधे दफ्तर में ... मिले थे और इसके पहले कि हम और बातें शुरू करें, उन्होंने ... से एक पत्र ... कर मुझे पकड़ाते

मैं भी एक ऐसी ही अपराधिनी हूं। मगर मेरी प्रार्थना है कि तुम इस अप-राधिनी को क्षमा कर दो।"

मैं कितना द्रवित हो उठा, मैंने छोटी मां को कितने अंशों में क्षमादान दिया, कह नहीं सकता पर, मैं जिन विरोधी भावनाओं से भरा हुआ था, उनमें बहुत कमी अवश्य आ गई। पत्र पढ़कर मैंने उसे मोड़ा और अपनी निजी फाइल में रख दिया। सिर ऊपर उठाया, तो देखा, पिताजी के नेत्र सजल हो आए हैं।

चाचाजी यानी कमलाकान्त दीक्षित ने भावुकता-मिश्रित स्वर में पूछा, "कुछ कहना चाहते हो?"

मेरा स्वर गम्भीर था। मैंने कहा, "ना, कुछ नहीं। पिताजी को कहिए, अपने को सभाल लें, यह दफ्तर है।"

मैं उठा और उन दोनों को लेकर अपने छोटे-से बंगले पर आया। पण्डित कमलाकान्त दीक्षित से मैंने ज़्यादा बातें कीं। वे ही इस मिलन-नाटक के सूत्रधार रहे। मैंने उनसे ही जीजी की कुशलता पूछी, तो उन्होंने बतलाया, "आई थी सुनन्दा। तीन-चार महीने रह कर वापस गई। एक बच्ची पैदा हुई और दसवें दिन नहीं रही। बेचारी रो-रो कर आधी हो गई। लेकिन, करना क्या था! जन्म-मरण का यह चक्र तो चलता ही रहता है। तुम्हारे बारे में बहुत पूछती रही।"

दूसरे दिन वे लोग विदा हुए। मैंने आश्वासन दिया कि शीघ्र ही पन्द्रह-बीस दिनों की छुट्टी लेकर आऊंगा। मैं उन्हें स्टेशन छोड़ने गया था।

१५

अभी दो साल भी पूरे नहीं हुए थे कि मेरा तबादला हो गया। देश में नए-नए आकाशवाणी केन्द्र खुल रहे थे। स्टेशन डायरेक्टर तक के पद पर

काम करने वाले अफसर ऐसा सोच सकने की स्थिति में नहीं थे कि जिस जगह वे अभी-अभी आए हैं, वहां वे कम-से-कम तीन साल अवश्य रहेंगे। सुनने में आया कि कई नए स्टेशनों को स्टेशन अथवा असिस्टेण्ट स्टेशन डायरेक्टर नहीं, बल्कि स्टेशन इंजीनियर चला रहे हैं। इस स्थिति को दिल्ली-स्थित महानिदेशालय निरापद नहीं समझता था। स्टेशन इंजीनियर भी प्रथम श्रेणी का गजटेड अफसर होता है, पर वह मूलतः तकनीकी अधिकारी होता है, प्रशासनिक नहीं। उसे स्टेशन के कार्य-संचालन का प्रशिक्षण भी नहीं मिला होता।

उत्तर प्रदेश में एक नया केन्द्र खुला था। उसका प्रभारी असिस्टेण्ट स्टेशन इंजीनियर था। मेरा यहीं तबादला हुआ और मैंने अपना पदभार संभाला। हमें मुख्य कार्यक्रम लखनऊ से रिले करने पड़ते थे। इसलिए यहां कोई स्टेशन डायरेक्टर नहीं भेजा गया। मैं ही पूरे स्टेशन का प्रभारी था। मेरे साथ मेरा पहाड़ी नौकर धर्मपाल भी आया। पांच-सात रोज तो मैंने असिस्टेण्ट इंजीनियर के साथ गुजारे, आठवें दिन एक छोटा-सा घर मिल गया। मैं अपने सामानों के साथ उसमें चला गया। धर्मपाल पहले की तरह खाना बनाने और घर संभालने लगा। मैं गुजरात के एक अच्छे, चमक-दमक वाले स्टेशन से आया था, इसलिए यह स्टेशन, इस स्टेशन का वातावरण मुझे कुछ भा नहीं रहा था। सब कुछ सूना-सूना लगता। मैंने एक अच्छा-खासा बहाना बना कर पन्द्रह दिनों की छुट्टी का जुगाड़ लगाया और स्वीकृति की प्रतीक्षा करने लगा। यह बात मैंने इंजीनियर से भी बतला दी और उसे संचिकाओं का निष्पादन करते समय पास ही बगल की कुर्सी पर बिठाने लगा। किस स्थिति में क्या करना और क्या नोट देना चाहिए, यह सब उसे बतलाता जाता। कारण, यह एक युवा इंजीनियर था। वह हंसमुख, सुन्दर और अपने पर सौंपे गए काम को बड़ी जिम्मेदारी से निभाने वाला जान पड़ता था।

अभी मुझे छुट्टी की स्वीकृति का इन्तजार था और मैं बार-बार, नहीं चाहते हुए भी जीजी की स्मृतियों के धागे में उलझता चला जा रहा था। जीजी के प्रति कृतज्ञता की एक छाया बड़ी तेजी से मेरे मन के आकाश में उभरती और मैं उसे दाएं-बाएं हाथ से झटकारने के प्रयास में लग जाता।

दिल्ली में ट्रेनिंग ले रहा था, तभी किसी ने एक ऐसे युवक सहकारी सम्पादक की चर्चा की थी, जो पहले किसी ऐसे बड़े लेखक की प्रकाशन संस्था मे नौकरी करता था, जिस लेखक की किताबें खूब बिकती थीं। युवक में कुछ लिखने की प्रतिभा थी। वह लेखक उसे बहुत प्यार करता था और उसी के कहने पर उसे दिल्ली के एक चलते हुए साप्ताहिक में सहकारी सम्पादक के पद पर बहाल कर लिया गया था। अब यह युवा सहकारी सम्पादक सच अथवा झूठ, इतना व्यस्त हो गया था कि महीने-दो महीने के अन्तर पर भी उस लेखक के घर थोड़ी देर के लिए हो आना गवारा नहीं करता था। दिल्ली स्टेशन में मैंने उसे कई बार देखा था। वह अपने चेहरे पर एक सजीदगी ओढ़े हुए आता और बिना उस सजीदगी को उतारे अपनी रचना रेकार्ड कराकर और चेक लेकर लौट जाता था। वह हम लोगों की ओर मुखातिब नहीं होता और इस बात के लिए प्रसिद्ध था कि आम आदमी की कहानियां लिखता है। तब रेडियो स्टेशन में नौकरी करने वाले जो दो-चार छुटभैये लेखक थे, वे पीठ-पीछे उसकी शिकायतें करते और उसे अकृतज्ञ बतलाते। उत्सुकतावश मैंने भी कुछ जानकारियां उन्हीं से हासिल की और एक दिन यह राय जाहिर कर दी, "यह गलत सलूक है। दिल्ली में रहते हुए जबकि वे स्वनामधन्य लेखक दिल्ली ही रहते हैं, कम-से-कम रविवार को घण्टे-आध घण्टे के लिए हो आना चाहिए। अरे भई, वे इन हजरत से कुछ माग थोड़े ही लेंगे ? और इनसे उन्हें भला ईर्ष्या-जलन भी क्यों होगी ? वे सुनाम के शिखर पर हैं। इतनी बात भी तो इन्हें सोचनी चाहिए कि आदमी जिस पौधे को रोपता है, उसे बढ़ते, हवा में लहलहाते और फूलते-फलते देख कर आनन्द का ही अनुभव करता है। वह इस बात का भी ध्यान रखता है कि किसी कारण यह पौधा मुरझा न जाए।"

किन्तु, अब इतने दिन बीत जाने और अपने पद पर काम करते रहने के बाद मेरी इस राय में आमूल परिवर्तन आ गया। मुझे एक प्रकार से दुःख ही होता कि मैंने उस युवा लेखक के विषय में ऐसी राय क्यों जाहिर की थी। मैं बार-बार बेचैनी का अनुभव करता और मेरी इच्छा होती कि मैं इस सन्दर्भ में अपने परिवर्तित विचार दूसरों के सामने व्यक्त करूं।–

लेकिन, ऐसा कोई अवसर ही नहीं आता था कि ऐसी चर्चा छिड़े और मैं साबित करूं कि किसी जमाने में अपने प्रति किए गए कुछ उपकारों के बदले उपकृत पात्र के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह उपकारकर्त्ता के आगे-पीछे डोलता फिरे। आखिर हर व्यक्ति बदलते हुए परिवेश के अनुसार अपने को समायोजित करने का प्रयास करता है कि नहीं ? एक ही परिवेश में समग्र जीवन तो शायद किसी का भी नहीं पूरा हो जाता। फिर उपकारकर्त्ता के पीछे कैसे कोई हमेशा दौड़ता रहे ?

मैंने जीजी को पत्र लिखना प्रायः बन्द-सा कर दिया था। इधर कई माह बाद उनका एक पत्र आया था। उसमें बच्ची के जन्म लेने और दस रोज बाद ही उसके नहीं रहने का उल्लेख था। मगर मैंने इस पत्र को भी एक प्रकार से उस फाइल में रख छोड़ा, जिसमें अमहत्त्वपूर्ण पत्र मैं रख दिया करता था। हां, रख दिया था, मगर याद है कि मैं उस पत्र को यदाकदा निकालता और दो-तीन बार पढ़ कर फिर फाइल के हवाले कर देता। यह पत्र मुझे कुरेद रहा था। एक बार तो यहां तक तय किया कि उसे फाड़ कर उसके खण्डित रूप को रद्दी की टोकरी में डाल दूं। मैं अपने को एक संकट में पाने लगा था।

घर पत्र भेजने के नाम पर मैं कमलाकान्त दीक्षित के नाम ही पत्र डाला करता और वे ही मेरे परिवार के सारे समाचार दिया करते। समाचारों के अलावा वे कुछ ऐसे शब्द जरूर लिख भेजते, जिससे पता चलता था कि वे चाहते हैं कि मैं अपने परिवार में घुलमिल जाऊं। एक बार उन्होंने लिखा था—"दुर्भाग्यवश तुम्हारी सगी मां को ईश्वर ने जब से छीन लिया, तुम्हारा घर सूना-अंधेरा हो गया। रामदीन सेठ का बुरा हाल था। मुझे बड़ी पीड़ा होती थी। मैं भी उन लोगों में से एक था, जिन्होंने सेठजी को दूसरा ब्याह कर लेने की सलाह दी थी। तुम्हारी छोटी मां में कुछ सगे-सौतेले के भाव तो अवश्य रहे, मगर उन्होंने ही घर को फिर से 'घर' बनाया। सही समय पर वही सांझबाती जलाने लगीं। तुम्हें जैसे भी हुआ, संभाला। कुछ आम दुर्बलताएं सबों में होती हैं, तुम्हारी मां में भी वे दुर्बलताएं रहीं और इस कारण लोगों ने उनकी सराहना नहीं की। क्या लोक-सराहना से वंचित होना ही अपने आप में एक दण्ड नहीं

है ? मुझे विश्वास है कि तुम एक आदर्श पुत्र साबित होओगे। छुट्टी लो और आओ।"

जीजी ने भी मुझे कभी छोटी माँ की अवमानना करने को अभिप्रेरित नहीं किया था। किन्तु, इस सन्दर्भ में मैं उनके रुख को भूल गया था। छुट्टी की स्वीकृति आते ही मैं चल पड़ा। धर्मपाल को खर्च के लिए रुपए दे गया।

१६

उम्र के जिस मोड़ पर मैं पहुंच गया था, वहां तक पहुंच कर मेरे जातिवर्ग का शायद ही कोई आदमी अविवाहित रहता हो, मगर मैं अब तक अविवाहित था। पिताजी इस कारण परेशान थे, छोटी माँ परेशान थी और पिताजी के स्वजातीय मित्र परेशान थे। वे मुझे बार-बार इस बात की ओर खींचकर ले जाते और मैं जैसे हाथ छुड़ा कर भाग आता था।

मैं इस स्वीकारोक्ति से अपने को पृथक् करके नहीं देख सकता कि शादी करने की मेरी इच्छा थी ही नहीं। मैं भी प्रणयसूत्र में बंधना चाहता था। किन्तु, मेरी पसन्द माता-पिता और बिरादरी वालों की पसन्द से भिन्न थी। और, मैं अपनी पसन्द उनसे बतलाना नहीं चाहता था। इसीलिए स्वीकृति-अस्वीकृति की स्थिति ठहर जाती थी। मैं आत्मीय जनों के आग्रह और आदेश को हवा में उछाल देता था। मैं, बचपन का हितेन्द्र, तीस साल का होते-होते परम स्वतन्त्र विचारों वाला व्यक्तित्व बन गया था। मैं कुछ और सोचता था, मेरी महत्त्वाकांक्षाएं कुछ और थीं, मेरी तरफ से उभरती हुई तड़प को बिरादरी के सामान्य जन समझ नहीं सकते थे। कुछ बोलूं, तब तो कोई समझे। मैं तो हमेशा अधर में लटकी रहने वाली स्थिति बनाए हुए था। मैं कभी अपने को और कभी अपने

के माहौल को देखता था। छोटी मां शायद ही आठवें दर्जे तक पढ़ी हों। अंग्रेजी के फर्स्ट बुक के सारे पाठों के अर्थ नहीं बतला सकती थीं। पिताजी का यह हाल था कि अंग्रेजी का अखबार कोई थमा दे, तो उनके हाथों में कंपकपी होने लगती थी।

लखनऊ से आखिर हरदोई है ही कितनी दूर। बस से यात्रा करें, तो साढ़े तीन या चार घण्टे लगते हैं—सड़क को रौंदती हुई बसें सरासर उड़ चलती हैं। कभी-कभी मैं अकेले ही या कभी धर्मपाल को लेकर मैं किसी-किसी शनिवार की शाम चल पड़ता। रहने के लिए जो सरकारी क्वार्टर मिला था, उसकी देखरेख के लिए रेडियो स्टेशन के चौकीदार को आदेश दे जाता। वह बड़ी सतर्कता बरतता और मैं लौट कर आता, तो सब-कुछ सही-सलामत पाता था।

इधर जब भी घर आता, छोटी मां अत्यधिक स्नेह-प्रेम जतलातीं। लौटने को होता, तो रुच-रुच कर जलपान के तैयार सामान साथ में बांध देतीं। अभी गर्मियों में आया था, तो दो-तीन प्रकार के अचार मझोले आकार के पीपों में दिए। मैंने मीठे और धीमें शब्दों में एतराज भी किया था, "छोटी मां, यह सब काहे को दे रही हो, लखनऊ में तो यह सब मिल ही जाता है। अरोड़ा की दुकान इसके लिए प्रसिद्ध है। एक किलो मिक्स-चर ले लेने पर महीनों चलता है।"

वे बोलीं, "सो तो ठीक कह रहे हो हितू, मगर जो घर के भोजन और होटल के भोजन में कोई फर्क न हो, तो हर कोई होटल में ही भोजन करना चाहे। आखिर मेरे दिल की बात भी तो रख लिया करो।"

दिल की बात!

इन तीन शब्दों के क्या वाच्यार्थ हैं, क्या भावार्थ हैं? क्या इनका भाष्य आसानी से किया जा सकता है? उधर से पिताजी बोल पड़ते, "दे रही हैं, तो लेते जाओ। बाजार की चीजें अच्छी नहीं होतीं।"

"ठीक है, दे दो छोटी मां।"

और मेरा वर्तमान अतीत में पलट गया था। तब मैं शायद नवें वर्ग का छात्र था। पिताजी आठ बजते-बजते दुकान के लिए चल देते थे। मुझे साढ़े नौ बजे भोजन मिलता। छोटी मां ने कई प्रकार के अचार डाल रखे

थे। शीशे के पीपों में भरे वे अचार मुझे दूर से ही ललचाते थे। परन्तु, छोटी मां मेरे आगे गलती से भी उनमें से किसी अचार का एक टुकड़ा आगे नहीं डालती थीं। मैं तरस-तरस कर रह जाता। इतना साहस कहां था कि मुंह खोलकर मांगता?

जीजी तब भी यदाकदा आती रहती थीं। एक शाम जब उनकी मुलाकात मुझसे मेरी बाहर वाली कोठरी में हुई, तो मैंने उनसे इसकी चर्चा करते हुए कहा, "देखा भी होगा, वे पीपे आंगन वाले चबूतरे पर धूप दिखलाने को रखे रहते हैं।"

"हां, देखा है।"

"छोटी मां तो अचार क्या, अचार का जरा-सा मसाला भी मेरे थाल में नहीं डालतीं।"

और जीजी ने कहा था, "छोटो, तुम यह समझो कि घर में अचार डाले ही नहीं गए हैं।"

"जीजी, तुम भी कमाल करती हो। मैं यह कैसे समझ लूं कि घर में अचार डाले ही नहीं गए?"

"समझना होगा छिनू!"

"वह कैसे?"

"जैसे दूसरों की चीज को अपनी चीज नहीं समझा जाता, वैसे ही। यदि अधिकारपूर्वक मांगोगे, तो उनके कोपभाजन बनोगे।"—जीजी ने बड़े शान्त-संयत स्वर में समझाया, "अब इसी बात को दूसरी तरह से समझो। जिनके थाल में कभी अचार का होना नहीं होता, आखिर वे भोजन करते हैं या नहीं? हमें यह सब प्राप्त है, इसीलिए हमारी जबान लोभी हो आती है या इनके अभाव में खाना नहीं सुहाता, मगर सारी दुनिया की बातें छोड़ो, अपने इस हरदोई में ही कुछ लोग ऐसे भी हैं, जिन्हें भोजन के साथ अचार क्या, सूखी रोटियां तक नसीब नहीं होतीं। सोचो, आखिर वे कैसे जिन्दा हैं! मन को जिधर दौड़ाओगे, उधर दौड़ेगा। और जो लगाम ढीला कर दोगे, तो वह तुम्हें किसी खाई-खन्दक में डाल देगा।"

"मेरी अपनी मां होती, तो हर रोज अचार देती।"

जीजी ने निषेध के स्वर में कहा, "ना, यह सब न सोचा करो। ये सारी

बातें तुम्हारे दिल में खुराफात पैदा करेंगी।"

मैंने जीजी की बात एकदम से मान ली थी। यहां तक कि आंगन वाले चबूतरे पर अचारों के वे पीपे रखे होते और मैं उनसे नजरें चुरा लेता। पता नहीं, तब जीजी के दिल में क्या आया था कि मैं जब भी उनके घर जाता और चाची मुझे जलपान करातीं, तो उछल कर जीजी कोने वाले कमरे में चली जातीं और कोई-न-कोई अचार लाकर डाल देतीं। मैं उस समय यह नहीं समझ पाता था कि इस प्रकार जीजी मेरे मन में अभाव के बदले भराव डाल रही थीं।

एक बार फिर पूरी ईमानदारी से मुझे यह कहने दिया जाए कि उन दिनों जीजी की हर बात, हर सीख मेरे लिए बेशकीमती होती। मैं जैसे धूप में चल रहा होता और जीजी जैसे कहीं से प्रकट होकर मेरे सिर पर छतरी फैला देती थीं।

लेकिन, अब तो जैसे मेरी अकृतज्ञता के पांवों में पंख लग गए थे। शायद यह दिसम्बर का प्रथम सप्ताह था। मैं एक शनिवार की संध्या हरदोई बस पड़ाव पर उतरा। छोटा-सा शहर बत्तियों से अभी-अभी जग-मगाया था। लोग बाजारों में खरीद-फरोख्त करते नजर आए। इस बार मैं अकेला ही आया था। घर पहुंचा, तो छोटी मां ने जैसे हाथोंहाथ ले लिया। छोटा भाई गिरीश, जिसे हम प्यार से 'पन्ना' कहा करते थे, पास आकर चिपट-सा गया। जो उससे छोटा था, वह भी सामने पड़ा। मैंने उसे थपथपाया। छोटी मां ने बड़े उत्साह से पूछा, "बोलो, तुम क्या खाना पसन्द करोगे?"

"जो बनाओगी, खा लूंगा।"

"ऐसा कैसे होगा? वहां जैसे-तैसे तो खाते ही हो।"

चेहरे, चेहरे और चेहरे!!!

चेहरे बिकते और खरीदे जाते हैं इस समाज में। छोटी मां ने शायद मेरी पसन्द का चेहरा खरीद लिया था—व्यवहार का चेहरा, सलूक का चेहरा, बिहेवियर का चेहरा। उनका यह आग्रह मुझे चिकोटी काट गया। मैंने कहा, "तो फिर जो तुम्हारी इच्छा हो, वही करो। कुछ खास चीज बनाना चाहो, तो बना डालो।"

पड़ोस में ढोर पालने और दूध बेचने वाले रहने लगे थे। उन्होंने पन्ना से कहा, "दौड़कर पिछवाड़े चला तो जा। जुगेसर होगा, कहना, दो किलो भैंस का दूध आध घण्टे बाद चाहिए।"

मैंने छोटी मां को टोका, "मैं ही चला जाऊंगा, अंधेरे में इसे कहां भेज रही हो?"

"अंधेरा कहां है? मर्करियां लग गई हैं। तुम कपड़े बदलो, चाय बनाती हूं। उसके बाद कुछ लेकर आराम करो।"

पन्ना चला गया। मैं कपड़े बदलने के लिए पीछे वाले कमरे में घुसा। थोड़ी देर बाद पायजामा, शर्ट और स्वेटर पहन कर निकला, तो छोटी मां पास आकर बोली, "सुनन्दा आई है।"

"आई है?" मैंने पूछा।

"हां।"

"कब से?"

"सप्ताह भर से कम न हुआ होगा।"

"अच्छा?"

"हां।"

"ठीक-ठाक तो है न?"

"हां, ठीक-ठाक क्या रहेगी···।"

"मतलब?"

छोटी मां ने कहा, "उसकी तबीयत ठीक नहीं रहती। बहुत कमजोर हो गई है। अभी तुम्हारे आने से थोड़ी देर पहले आई थी। तुम्हारा कुशल क्षेम पूछ रही थी।"

"तुमने क्या कहा?"

"बतलाया कि तुम ठीक-ठाक हो।"

"और कहां हूं, यह भी बतलाया होगा?"

"हां, लखनऊ।"

मुझे यह बेहद नागवार लगा। मगर मैं इस सम्बन्ध में छोटी मां से कैसे कुछ कह सकता था। वैसे तो जी में आया था कि कह दूं—'मैं लखनऊ में हूं, यह नहीं बतलाना चाहिए था।' मगर, मौन ही रह गया। मैंने दूसरे

रूप में अपना विरोध प्रकट किया, "शायद बहुत जल्दी-जल्दी वह हरदाई आने लगी है।"

"नहीं, जल्दी-जल्दी कहां आती है। मेरा खयाल तो यही है कि सुनन्दा-जैसी शादीशुदा लड़कियां बिना बुलाए मायके नहीं आया करतीं। वह आई भी है, तो लाचारी में ही।"

"क्यों, कैसी लाचारी आ पड़ी ?"

"बहुत ज्यादा बीमार रहती है। पेट में कहीं ट्यूमर का शक है।"

"ट्यूमर ?"

"हां।"

मैंने बिना समझे-बूझे, क्योंकि इस सम्बन्ध में मेरे पास कोई पूर्व-जानकारी नहीं थी, कहा, "लेकिन ट्यूमर का इलाज तो पटना में होता है। पटना मेडिकल कालेज हास्पिटल के डाक्टरों का मुकाबला यहां के डाक्टर क्या खाकर करेंगे ? वहां तो कैंसर का भी इलाज होता है।" इतना सब मनगढ़न्त बोलने के बाद मैंने सिर्फ एक बात सच कही कि वहां का एक लड़का हमारे स्टेशन में काम करता है।

"तुम तो कभी पटना गए नहीं···?"

छोटी मां के इस प्रश्न के उत्तर में मैंने कहा, "हां छोटी मां, गया तो कभी नहीं, मगर सेण्ट्रल गवर्नमेण्ट की नौकरी ऐसी होती है कि सभी प्रदेशों को एक जगह लाकर खड़ी कर देती है। रेडियो स्टेशन की नौकरी तो बस पूछो मत। आंध्र प्रदेश का आदमी बिहार में और बंगाल का आदमी पंजाब में नजर आता है। फिर लखनऊ-पटना को कौन कहे।"

छोटी मां ने अपने अनुमान के आधार पर कहा, "तो फिर उसी लड़के से तुम्हें यह सब मालूम हुआ होगा।"

"और नहीं तो क्या !"

छोटी मां बोलीं, "जो भी हो, तुम जाकर मिल आना। तुम्हारे लिए सुनन्दा सगी बहन से कुछ कम नहीं रही है।"

मैंने छोटी मां की आधी बात का समर्थन करते हुए कहा, "हां, सुबह मिल आऊंगा।" आगे वाली आधी बात का समर्थन करने के पक्ष से जाने क्यों, मेरा मन भाग चला।

जीजी की उपस्थिति की सूचना से मेरे दिल में जैसे एक बेचैनी घर कर गई। एकाएक भेंट होने पर जीजी का पहला सवाल शायद यही होगा, "क्यों हितू, पत्र लिखने तक की फुर्सत नहीं निकाल पाते ?"

अकृतज्ञ कुछ कम चालाक नहीं हुआ करते। वे भी स्थिति को अपने ढंग से मोड़ना जानते हैं। मैं भीतर-ही-भीतर अपनी इच्छाओं के हाथों उसे मोड़ने लगा—कितना अच्छा होता कि जीजी अब तक यहां आकर पटना वापस चली गई होतीं। या फिर वे तब यहां आई होतीं, जब मैं यहां आकर लखनऊ चला गया होता ! अन्ततः मैंने इसे अपने प्रतिकूल एक संयोग मान लिया और उससे लड़ने की तैयारी करने लगा। सोचा—भागोगे, तो तीरंदाज पीछा करेगा।

इतनी ही देर में पन्ना लौटकर आया और छोटी मां से बोला, "बर्तन और पैसे लाओ। जुमेसर कह रहा है कि अभी ले जाओ।"

छोटी मां ने फौरन उसके हाथ में दूध वाली डोलची और पांच रुपए पकड़ा दिए। वह चला गया। छोटी मां एक सुन्दर-सी छोटी कालीन और तकिया उठा लायीं। चारपाई पर फैलाते हुए कहा, "कब तक बैठे रहोगे, लेट जाओ। ज्यादा सरदी महसूस हो, तो घर में चले जाना।"

मैंने कहा, "नहीं, ऐसी सरदी नहीं है।" और एकाएक पूछ बैठा, "सुनन्दा जीजी के दोनों भाई आते-जाते तो हैं ?"

"हां, आएंगे-जाएंगे कैसे नहीं ? अपना पुश्तैनी घर जो ठहरा।"

मैंने शिकायती लहजे में कहा, 'घर तो है, मगर घर पर वे ध्यान नहीं देते। घर, अहाता, फुलवारी सबकी देखरेख तो एक तरह से सुनन्दा ही करती थीं। अब दीक्षित चाचा कर रहे होंगे क्यों ?"

छोटी मां ने कहा, "वे भला कैसे छोड़ देंगे ? चाहे अपने पर जो भी गुजरे, वही सब करते हैं। इतनी महंगाई है, आने-जाने वालों का तांता लगा ही रहता है। बेटों के ससुराल वाले भी आते ही रहते हैं और वे सबके लिए उनके मान-सम्मान के अनुकूल करते रहते हैं। पहले तो नौकर-चाकर थी···।"

मैं बीच ही में एकदम से टपक पड़ा, "और अब क्या हुआ ?"

उन्होंने बतलाया, "पिछले तेरह नवम्बर को दीक्षित जी कि

गए।"

"रिटायर कर गए ?"

"हां।"

"क्या करते हैं अब ?"

"घर पर ही बने रहते हैं।"

"कुछ तो करते ही होंगे ?"

"हां, ट्यूशन वगैरह···।"

"और इन कठिनाई के दिनों में बीमार शरीर लिए सुनन्दा आ गई हैं। मुसीबत है।"

छोटी मां बोलीं, ' हितू, जो भी हो, औलाद को कोई भाग्य के भरोसे कैसे छोड़ सकता है ! शादी करो और औलादें हों, तो समझोगे कि मां-बाप के दिल में औलाद के लिए कितना दर्द रहता है, कल ले तो गए थे दीक्षित जी यहां के डाक्टर के पास !"

"क्या कहा डाक्टर ने ?"

छोटी मां ने बतलाया, "लखनऊ दिखलाने के लिए कहा है।"

इतना सुन कर तो जैसे मेरे अंग-प्रत्यंग सुन्न हो गए। छोटी मां बोलीं, "अच्छा, अब तुम्हारे लिए कुछ बनाऊं।" और मेरे पास से लौट गईं। रसोईघर में जाकर वे जानें क्या-क्या बनाने लगीं—छन्न-छुन्न की आवाज मेरे कानों में पड़ने लगी।

अब पूरी तरह रात हो आई थी। मैंने सोचा, चारपाई पर लेट रहूं, पर कुछ अच्छा न लगा। मैं कुर्सी पर ही बैठना चाहता था। एक कुर्सी खींच लाया। इतने में पन्ना दूध लेकर आ गया।

मेरा ध्यान जीजी की ओर चला गया। मैं छोटी मां से यह पूछना भूल ही गया था कि जीजी के साथ कत्थई रंग का कुरता पहनने वाले श्री ओंकार शास्त्री भी पधारे हैं क्या ? मन में आया कि अब तक नहीं पूछा, तो अब पूछ डालूं। मगर लगा, जी का स्वाद बिगड़ता जा रहा है। जी और जीभ के स्वाद में अतुलनीय अन्तर होता है। रसना स्थूल रस का सेवन करती है, जी सूक्ष्म का; अदृश्य और अस्पर्श्य का।

मैंने यह प्रश्न नहीं किया।

छोटी मां ने जब नाश्ता और चाय लाकर आगे रखा, तो मैंने अचानक पूछ दिया, "जीजी अकेली तो आई नहीं होगी ?"

"ना।"

"तो फिर कैसे आई ?"

"अपने आदमी के साथ।"

"तो क्या शास्त्री छोड़ कर फौरन वापस चले गए ?"

"नहीं, एक रोज रुके थे।"

"ओह...!"

मैं नाश्ता करने लगा। मैं चाहता था कि जीजी के आगमन और उनकी बीमारी वाली बात मेरे दिमाग से निकल जाए, मगर मैं उसे ज्यों-ज्यों निकालना चाहता था, वह दिमाग में जैसे और भी गहरे धसती चली जाती थी। छोटी मा कोई चीज उठाने इस ओर आईं, तो मैंने पूछा, "तो लखनऊ लिवा जाएंगे लोग जीजी को ?"

'हां, लिवा ही जाने वाले हैं।"

"कहां ठहरेंगे लोग ?"

"पता नहीं।"—छोटी मा ने बतलाया, "वहां याहियागंज में दीक्षित जी की साली रहती है।"

"साली रहती है, किस सिलसिले में ?"

"वहीं ब्याही हुई है।"

"तो ये लोग शायद वहीं टिकेंगे।"

"हां, आज दोपहर मैं गई थी। सुनन्दा की मा कुछ ऐसा ही कह रही थी।" छोटी मां ने बतलाया।

मैं कुछ आश्वस्त हुआ। तभी पिताजी ने बाहर से कुण्डी खटखटायी।

१७

उस रात मैं चैन से न सो सका। करवटें बदलता रहा और तरह-तरह के प्रश्न जीजी को जोड़कर अपने-आप से करता रहा। ओंकार शास्त्री पर बहुत क्रोध आ रहा था कि यह कैसा पुरुष है, जो अपनी एक अदद पत्नी की भी देखभाल नहीं कर सकता। इतनी बात तो मैं छोटी मां से सही बतला चुका था कि पटना में बड़े-बड़े डाक्टरों का अभाव नहीं। लखनऊ केन्द्र पर सतीश बिहार से ही आया था। वह कुछ साहित्यिक टाइप का युवक था, इसीलिए उसने अपने मूल नाम के बाद एक उपनाम जोड़ रखा था—सुहास। यानी उसे सतीश सुहास कहा जाता, तो उसका चेहरा चमक उठता था। रेडियो स्टेशन के बड़े पदों की दृष्टि से वह बहुत से छोटा नन-गजटेड अफसर था—ट्रैक्स-ट्रांसमिशन एक्जिक्यूटिव। हमारी मीटिंगों में वह भी भाग लेता और भाग लेना उसके कर्त्तव्यों में शामिल था। हर रेडियो स्टेशन में ये मीटिंगें स्टेशन डायरेक्टर अथवा असिस्टेण्ट स्टेशन डायरेक्टर के चेम्बर में हुआ करती हैं—कभी रोज-रोज, कभी एक दिन का अन्तर देकर। इस प्रकार की मीटिंग में प्रसारित हो चुके कार्यक्रमों की समीक्षा की जाती है, असावधानी करने के लिए अधिकारियों को समझाया जाता है, मीठे शब्दों में चेतावनियां दी जातीं और आने वाले दिनों में कार्यक्रम कैसे प्रभावी, सार्थक और महानिदेशालय के निदेशों के अनुसार प्रसारित किए जाएं, आदि बिन्दुओं पर विचार-विमर्श होता है। सतीश सुहास मीटिंगों में भाग तो लेता ही, कथ्य और तथ्य को बड़े जोरदार ढंग से प्रस्तुत किया करता था। उसने हिन्दी में पी-एच० डी० की उपाधि ली थी और अंग्रेजी भाषा एवं साहित्य पर भी उसका अच्छा-खासा अधिकार था। वह बड़ी ही शालीनता से पेश आता और उसके विचारों में क्रान्तिकारी तत्त्व छिपे होते थे। वह मुल्क में ऐतिहासिक परिवर्तन का हिमायती था। मैं उससे बहुत प्रभावित था। इसलिए यद्यपि वह मेरी मातहत का स्टॉफ था, मैं उसे कभी-कभार अपने घर पर गपशप के लिए बुला लिया करता था। बौद्धिक स्तर पर उससे मेरा उच्चस्तरीय

मनोरंजन हो जाया करता था। उसी रात मैंने यह तय किया कि इस बार जब सुहास छुट्टी लेकर पटना जाएगा, तो उसे जीजी के आवास का पता दूंगा और कहूंगा कि वह ओंकार शास्त्री की सामाजिक स्थिति के विषय में कुछ जानकारियां लेता आवे।

नींद तो वास्तव में बड़ी देर से आई। मैं प्रातः आठ बजे तक बिस्तर पर ही पड़ा रहा। उठकर तब बैठा, जब छोटी मां ने आकर कहा, "दीक्षित जी के यहां से महरिन आई है। सुनन्दा तुम्हें बुला रही है।"

"अरे…!"

'हां, वह खड़ी है। क्या कह दूं ?"

"कह दो, थोड़ी देर में आता हूं।"

'अच्छा…।"

"मगर सुनो…।" मैंने उन्हें रोका।

छोटी मां ने पूछा, "क्या ?"

मैंने प्रश्न किया, "वहां मेरे आने की खबर कैसे पहुंची ?"

छोटी मां ने बतलाया, "यही अपना पन्ना गया हुआ था। रोज उनके ही यहां से पूजा के लिए अपने घर फूल लाता है। मेरा ख्याल है, यही मारे खुशी के तुम्हारे आने की बात कह आया होगा।"

"अच्छा…अच्छा…।"

मुझे दूर से छोटी मां की आवाज सुनायी पड़ी। उन्होंने महरिन से कहा था, "जाकर कह दो, थोड़ी देर में आएंगे। अभी-अभी सोकर उठे हैं।"

मुझे गिरीश उर्फ पन्ना पर तनिक क्रोध आया कि यह खबर वहां पहुंचाए बिना भला क्या हर्ज था ? फूल लाने में, फुलवारी में बारबार तोड़ लाया होता। मैं बिस्तर छोड़ कर कमरे से बाहर निकला, तो पन्ना पर नजर पड़ी। वह बरामदे में चारपाई पर बैठा गणित के प्रश्न हल कर रहा था। मैंने उसकी ओर छुपे हुए क्रोध वाली दृष्टि डाली। मुंह से कुछ नहीं बोला। पिताजी नाश्ता कर कपड़े पहन कर दुकान जाने को तैयार हो चुके थे। मुझे देखकर बोले, "मौका मिले, तो जरा दुकान पर चले आना। नए फर्नीचर सेट किए हैं। मालों के रख-रखाव का ढंग बदल दिया

है। तुम्हारी इच्छा थी कि मुनीम कुर्सी पर बैठे, सो आकर देख लेना, अपना सोनेलाल अब मेज-कुर्सी पर नजर आएगा।"

मैंने पूछा, "तो पिताजी, आपने भी अपने बैठने के स्थान में फेरबदल कर लिया होगा ?"

पिताजी ठिठक कर बोले, "भई, आओगे, तो देखोगे ही। अपना जी तो बस गद्दी पर ही भरता है।"

मेरा दिल बैठ गया। पिताजी जाते-जाते एक बार फिर से दुकान पर आने के लिए कह गए। मैं पौने नौ बजे तक स्नानादि के पश्चात् कपड़े वगैरह बदल कर तैयार हुआ। नाश्ता करने बैठा, तो छोटी मां ने हौले से कहा, "दुकान पर तो हो ही आना, पिताजी तुम्हें दो बार कह गए हैं। दीक्षित जी के यहां भी जाना जरूरी है। तुम बाथरूम में थे, तो उनकी महरिन एक बार फिर आई थी। इस समय यह मत सोचो कि सुनन्दा खुद ही आ जाएगी। देखोगे, तो बड़ा अफसोस होगा।"

"ऐसी हो गई है ?"

"हां।"

"बस, तो चाय पीकर जाता ही हूं।" मैंने कहा।

मैं नफीस पैंण्ट-कोट-टाई और बूट में बाहर निकला। बाहर निकल कर खड़ा हुआ। मैंने दीक्षित जी के मकान की ओर निगाह डाली। मुझे वह लकड़ी का गेट नजर आया, जहां कभी खड़ी-खड़ी सुनन्दा जीजी मेरी राह देखा करती थीं। जब कोई बारात गुजरती, तो उसे देखने के लिए मेरे साथ उसी गेट को बड़े झटके से खोल कर सड़क की ओर भागती थीं। बारात की शोभा देखते समय, बाजों की धुन सुनते समय और बड़े गौर से वर का निरीक्षण करते समय उनका बायां हाथ मेरे दायें कन्धे पर होता था। कन्धे पर हाथ रखने के बहाने वे शायद मुझे पकड़े रहतीं कि मैं कहीं चंचलतावश उन्हें वहीं छोड़कर भाग न जाऊं। जब दुल्हे राजा की जीपगाड़ी कुछ आगे निकल जाती, तो वे आंखों में चमक भर कर मुझसे पूछतीं, "हितू, तुमने दुल्हे को ठीक से देखा कि नहीं ?"

"देखा।"

"कैसा है ?"

"अच्छा है।"

फिर वे मेरे साथ अपने घर की ओर लौटने लगती। दुल्हा ठीक से नजर न आया होता, तो मुझसे कहती, "मैं ठीक से नहीं देख पायी। हाथों में पता चला कि रंग साफ है। देखो न, मौर के झालर इस क़दर फैले हुए थे कि दुल्हे की शक्ल ही छिप गई थी।"

"हां जीजी ! ठीक कहती हो।"

तब जीजी कहती, "तुम्हारी शादी होगी, तो मैं किसी को तुम्हें सजाने न दूंगी। अपनी पसन्द से मौर मुकुट खरीदूंगी। और हां अगर लड़की वाले लड़की दिखलाने को तैयार होंगे, तो मैं भी लड़की देखने जाऊंगी।"

"जीजी, मैं तो शादी करूंगा ही नहीं।"

"शैतान ! शादी कैसे नहीं करेगा ? तुम्हें तो खूब दहेज मिलेगा।"

वही लकड़ी का गेट। इसे पार करके आगे बढ़ो, तो पचास-साठ कदमों की दूरी के बाद फालसे के घने झुरमुट मिलेंगे—हल्के गुलाबी और बैंगनी रंग के मीठे-मीठे फालसे। फालसे की इन पतली-पतली, प्यारी-प्यारी डालियों के पास हम दोनों ने कितना वक्त गुजारा होगा, मैंने अपने कितने दुखों का बयान जीजी से किया होगा और जीजी ने मुझे कितनी सान्त्वनाएं दी होंगी—पूरे तफ़सील से बतला नहीं सकता।

गेट, मैदान, फुलवारी, अहाता, फालसे के पौधे, अहाते के भीतर पश्चिम की ओर वाला कुआं—सब यथावत् थे। बदले थे, तो कुछ मैं और कुछ जीजी—अलग-अलग। हमारे परिवेशों में कालक्रमिक परिवर्तन आया था। लेकिन, तब पता नहीं, क्यों, मेरी भावुकता घोर व्यावहारिक हो उठी थी, बल्कि यह कहना चाहिए कि वह व्यावहारिकता की सीमा को लांघ गई थी। व्यावहारिकता और भावुकता में कॉमर्शियल आर्टिस्ट और फाइन आर्टिस्ट का अन्तर होता है। इसीलिए कह रहा हूं कि व्यावहारिकता सर्वांशतः तो नहीं, किन्तु बहुलांशतः 'जो तुम्हारे लिए करता है, उसके लिए तुम भी करो' की सीख आदमी को देती रहती है। भावुकता सीधे आग में कूद पड़ती है। वह लाभ-हानि का खाता नहीं रखती। मैंने तो अपने लौकिक परिवेश के भीतर ही अपना एक निजी परिवेश बना

लिया था। यही चूक बार-बार कचोटती है और एकान्त में यह प्रलाप करने लगा हूं।

एक बार तो इच्छा हुई कि बड़ी तेजी से दीक्षित जी के घर के गेट की ओर बढ़ूं, मगर ऐसा न कर सका। दो-तीन क़दम उधर बढ़कर एका-एक सीधे पूरब की ओर बढ़ा, जरा दक्षिण की ओर मुड़ा और फिर संकरे पथ को पार कर मुख्य सड़क पर आ गया। आज शायद पहली बार यह बात अकल में आई कि शीतकालीन मौसम में, दिन के समय खुले आकाश के नीचे टहलना-फिरना बड़ा अच्छा लगता है। अकल में तो यह बात पहले भी आई होगी, मगर तब मैंने इस पर ध्यान नहीं दिया होगा।

मुख्य सड़क पर आकर मैं एक प्रकार से निरुद्देश्य घूमने लगा। क्षितिज के इस छोर से उस छोर तक हल्के नीले आकाश का चंदोवा फैला हुआ था। एक जगह केले खरीद कर खाने की इच्छा हुई। ठेले वाला चीख-चीख कर केलों की तारीफ में कई प्रकार के शब्द बोल रहा था। मैंने गौर करके देखा, ये केले आकार में छोटे-छोटे थे। इनके पीतवर्ण छिलके बड़े सुहाने लग रहे थे। लम्बे-लम्बे और हरे छिलके वाले केलों की अपेक्षा ये केले वास्तव में बड़े छोटे थे।

ठेले वाला जो आवाज़ लगा रहा था, उससे इतना पता चला कि ये केले इधर के नहीं, बल्कि बिहार के हैं। बिहार में कोई जगह है—हाजीपुर। वहीं से ये खास केले आए हैं। ठेले वाले के पास जाकर मैंने पूछा, "सुनो भई, इस केले का नाम क्या है ?"

उसने बड़े गर्व के साथ बतलाया, "बाबूजी, ये चीनिया केले हैं। इन्हें रूखे खाइए या दूध में डाल कर, कुछ और ही जायका मिलेगा। ऐसे केले अपनी ओर होते ही कहां हैं !"

"तुम अभी आवाज लगा रहे थे कि ये केले बिहार के हैं, क्यों सच ?"

"जी बाबूजी, एकदम सच बोल रहा हूं। बिहार वाले इन केलों को हाजीपुर का केला कहते हैं और हम बिहार का केला।"—ठेले वाला एक तरह से धुआंधार बोलने लगा था, "मैं तो उस ओर कभी गया नहीं, मगर जो आप स्टेशन जाएं, तो फलों के थोक व्यापारी सलामत कुंजड़े से मिल लें। वह बराबर बिहार आता-जाता रहता है। वह सब कुछ खुलासा

कर देगा। वही बतलाता है कि वहां हाजीपुर में बहुत बड़े पैमाने पर केलों के बगान लगे रहते है। एक-एक आदमी के पास कई एकड़ों में चाय के बगान हैं। इन केलों के गट्टर भी कमाल के होते हैं। पेड़ कमर भर या इससे कुछ ही ज्यादा ऊंचे होते हैं। लोग नीचे गड्ढे खोदते जाते और गट्टर में नीचे की ओर फल लगते जाते हैं। गट्टर का निचला हिस्सा गड्ढे में बढ़ता चला जाता है।"

"भई वाह !"

उसने एक केला मेरी ओर बढ़ा कर कहा, "बाबूजी, एक केला खाकर तो देखिए। बाद में जी भरे लीजिए। जी न भरे, तो न लीजिए।"

मैंने उसके हाथ से केला थाम लिया। छिलके उतार कर खाने लगा, तो सचमुच चकित रह गया। अपनी ओर के हरे छिलके वाले बड़े-बड़े केले भला इन केलों का स्वाद कहां पाएगे ? मेरे मुह से निकला, "भई, केले तो वाकई चीनी मे घुले जान पड़ते हैं।"

"बाबू इसीलिए तो इस जाति के केले का नाम 'चीनिया केला' है। इसी साइज का एक और केला होता है, उसे 'मुठिया केला' कहते हैं।"

"वह कैसा होता है ?"

"वह भी जायकेदार और लाजवाब होता है।"

"मुठिया नाम क्यों पड़ा, यह तो बतलाओ।"

बदले में उसने मेरी ओर कुछ हैरानी से देखा। आसपास से गुजरने वाली कुछ औरतें, कुछ लड़कियां और कुछ आदमी उसके केलों पर नजर डालते हुए गुजर गए। ठेले वाले ने मेरी जिज्ञासा शान्त करने के इरादे से कहा, "आप अपनी मुट्ठी बांध लीजिए और समझ जाइए कि वह केला उसी साइज का होता है। इसीलिए उसका नाम 'मुठिया केला' पड़ा है। उसके छिलके इतने पीले नही होते। उनके छिलको पर हल्के-हल्के मटमैले-गुलाबी धब्बे होते हैं।"

मैं तो वक्त काटने और सुनन्दा जीजी से नहीं मिल सकने के इरादे से निकला था, बल्कि इस इरादे के कारण ही मैं वक्त काट रहा था। मैंने उससे पूछा, "और उसका स्वाद भी इसी के बराबर होता होगा ?"

"नहीं।"—उसने एक अच्छे-खासे ईमानदार के लहजे में कहा, "जी

नहीं बाबूजी ! स्वाद में वह केला इससे उन्नीस पड़ता है। मगर उसके जायके का केला भी अपने देश में नसीब नहीं हो सकता। जी हां...।"

उसका यह सब कहना मुझे बहुत अच्छा लगा। वैसे केले का स्वाद भी मुझे लुभा गया था। मैंने उससे एक दर्जन केले लिए। उसके ठेले के पास से जरा अलग हटा। केले हाथ में लिए रहा। तभी सामने से एक रिक्शा आता हुआ दिखलायी पड़ा। मैंने उसे इशारा करके रुकवाया। रिक्शे वाले ने पूछा, "कहां चलना है ?"

मैंने क्षण भर सोचा। कुछ समझ में नहीं आया, तो बोल पड़ा, "चलो भई, स्टेशन चलो।"

निरुद्देश्य स्टेशन तक का चलना।

स्टेशन से कोई लेना-देना नहीं था। उतर पड़ा और भीतर प्लेटफार्म पर चला गया। ह्वीलर के बुक स्टॉल पर किताबों के अलावा बहुत सारी पत्र-पत्रिकाएं थीं। उन्हें उलटता-पलटता रहा। मैं वहां डेढ़-दो घण्टे से कम न रुका होऊंगा। मेरे सामने ही पंजाब मेल आया। आया और चला गया। सुना था, इस मेल ट्रेन से सीधे पटना जाया जाता है। रास्ते में कहीं कोई ट्रेन बदलनी नहीं पड़ती। सुहास इसी ट्रेन से पटना आया-जाया करता था। इसी क्रम में जीजी याद आईं। वे भी तो अकेली अथवा ओंकार शास्त्री के साथ इसी ट्रेन से पटना आती-जाती होंगी। शादी हुई थी, तो भी इसी ट्रेन से विदा हुई थीं। मेरी कल्पनाशक्ति जाग उठी और मैं सोचने लगा कि मैं तो इधर निकल आया हूं, उधर हो सकता है कि जीजी ने मुझे बुला लाने के लिए अपनी महरिन को भेजा हो। छोटी मां जैसा बतला रही थीं, उसके अनुसार जीजी चलने-फिरने से लाचार नहीं हैं। हां, कमजोरी है। क्या ठिकाना, कहीं वे स्वयं न मुझे तलाशती हुई आ गई हों। छोटी मां ने सच बोलकर मेरी स्थिति खराब कर दी होगी—अभी तो हितू तुम्हारे ही घर जाने के लिए निकले थे। क्या नहीं पहुंचे ?

साढ़े दस स्टेशन पर ही बज गए। अब जी ऊबने लगा। मैं बाहर निकल आया। दोनों ओर दुकानें थीं। बायीं ओर अधिकांशत: फलों की दुकानें। मेरी नजर इन्हीं दुकानों में से सबसे बड़ी दुकान पर पड़ी। वहां पचास-साठ साल का एक कद्दावर मुसलमान बैठा हुआ था। मुझे लगा,

यही सलामत कुंजड़ा है ।

मैंने फिर एक रिक्शा किया और रिक्शे वाले से कहा, "पुरानी हरदोई ले चलो, हरदोई बाबा के मन्दिर के पास ।"

इस प्रकार मैं चक्कर लगाता और समय गुजारता रहा । समय गुजारता रहा यानी जीजी से बचता रहा । जीजी के अलावा मैं चाचाजी और चाचीजी से भी बच रहा था; क्योंकि मुझे आशंका नहीं थी, बल्कि विश्वास था कि अगर इन दोनों में भी या इनमें से किसी एक से भी भेंट हो जाए तो मैं लखनऊ में पकड़ लिया जाऊंगा । वे मेरा अता-पता पूछते । लखनऊ में टिकने की व्यवस्था करने और शायद अस्पताल और डाक्टर के यहां भी चलने के लिए कहते । एकाएक मैं अपने पद और उस कार्यालय से भी घबड़ाया, जिनके कारण मैं लखनऊ में छिप नहीं सकता था । असिस्टेंण्ट स्टेशन डायरेक्टर, आल इण्डिया रेडियो, लखनऊ भला कैसे छिपा रह सकता था ?

यह स्थिति मेरे लिए मुसीबत की स्थिति थी ।

घूम-फिर कर जब मैं लगभग सवा बजे घर पहुंचा, तो छोटी मां ने शिकायत की, "कहां रह गए इतनी देर ? दाल तो एकदम ठण्डी हो गई ।"

मैंने एकदम गलत कहा, "क्या बतलाऊं, स्कूल के दिनों के दो-एक मित्र मिल गए थे । पकड़ा गया । अपने-अपने घर ले गए । गला छुड़ाना मुश्किल था । मुखातिब न होता, तो वे समझते—घमण्डी हो गया है । इधर-उधर शिकायतें करते फिरते ।"

छोटी मां चुप रहीं । फिर बोलीं, "अच्छा दाल गरम किए देती हूं ।"

"ठीक है ।" कह कर मैं कपड़े बदलने के लिए कमरे में घुसा ।

बाहर निकला, तो छोटी मां रसोईघर से निकल कर बोलीं, "तुम्हारे पिताजी खाना खाकर चले गए । वे साथ में खाना खाना चाहते थे ।"

"जरूर चाहते होंगे । मेरी भी यही इच्छा थी ।"

तभी छोटी मां ने पूछ दिया, "दीक्षित के यहां हो आए ?"

मैंने उनके चेहरे की ओर देखा । कहा, "ना, कहां जा सका ।"

"मैं समझी, हो आए होगे ।"

"क्यों छोटी मां, कोई वहां से आया भी था क्या ?"

छोटी मां बोलीं, "नहीं, आया तो कोई नहीं।" फिर रसोईघर में चली गई। स्टोप के जलने की आवाज मेरे कानों तक आ रही थी। शायद उन्होंने दाल की पतीली स्टोप पर चढ़ा दी थी।

जाड़ों की धूप दोपहर में भी बड़े प्यार से सहलाती है। मैंने बरामदे में आधी धूप और आधी छाया में बैठकर सुस्वाद व्यंजनों से अपनी भूख मिटायी। दोनों छोटे सौतेले भाई स्कूल चले गए थे। मैं कमरे में सोने के लिए जाने लगा। छोटी मां ने पास आकर पूछा, "लिहाफ ओढ़ोगे या रजाई दूं ?"

मैंने कहा, "ठीक है, छोटी मां ! लिहाफ से काम चल जाएगा। पूरी बांह का स्वेटर जो पहने हुआ हूं।"

"अच्छा, ठीक है।"

छोटी मां लौटने लगीं, तो मैंने उन्हें पुकार कर कहा, "कोई आवे, तो मुझे मत जगाना। आज घर पर तो आराम कर लूं। वहां दिन में एक रोज रविवार को छुट्टी मिलती भी है, तो मिलने-जुलने वालों की लाइन लगी रहती है।"

"कोई नहीं जगाएगा, तुम निश्चिन्त होकर सो रहो।" वे बोलीं और शायद सूखने के लिए कुछ पीपे आंगन में रखने लगीं।

मुझे आशंका थी कि कहीं जीजी न चली आवें, जीजी की मां चली आवें। गरज बावला प्यास बुझाने के लिए कुआं खोजता चलता है। यहां भी मैं सरासर झूठ बोल गया था कि लखनऊ में रविवार को मुझसे दिन में भी मिलने-जुलने वालों का तांता लगा रहता है। रेडियो स्टेशन का असिस्टेण्ट स्टेशन डायरेक्टर वास्तव में इतना महत्त्वपूर्ण व्यक्ति कदापि नहीं होता। रेडियो स्टेशन के अहाते के बाहर निकल जाने पर वस्तुतः वह एक आम आदमी के सिवा कुछ नहीं होता। मुझे यह कहने में भी संकोच का अनुभव नहीं हो रहा है कि यदि असिस्टेण्ट स्टेशन डायरेक्टर अथवा स्टेशन डायरेक्टर स्वयं भी कला के क्षेत्र का एक गण्यमान व्यक्ति नहीं होता, तो वहां आने-जाने वाले सुस्थापित-ख्यातिप्राप्त कलाकार-गायक-कवि-लेखक उन्हें एक आम सरकारी पदाधिकारी के सिवा कुछ नहीं समझते। छोटे अफसरों की बात ही छोड़िए, स्टेशन डायरेक्टर तक उनके सामने

ठकुरसुहाती किया करते हैं। जो स्टेशन डायरेक्टर अपने अधीनस्थों की ओर घूरकर देखता है, वही स्टेशन डायरेक्टर इनके आगे आंखें झुकाकर बातें करता है। मगर मेरे हरदोई में असिस्टेण्ट स्टेशन डायरेक्टर एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण पद था। जो लोग मेरे बारे में जानते कि मैं रेडियो स्टेशन में असिस्टेण्ट स्टेशन डायरेक्टर हूं, वे मेरी ओर ऐसे देखते, गोया मैं एक नायाब इंसान हूं। वे मेरे कुछ खाने-पीने की सामग्रियां मंगवाने लगते। इसी क्रम में वे अपने बच्चों को आवारा तक कह बैठते। और मैं भी ऐसा था कि अपने पद के महत्त्व को उनके सामने खूब बढ़ा-चढ़ा कर बखानता। वे मेरी बातें इतने ध्यान से सुनते कि उतने ध्यान से उस अयोध्या वाले बाबाजी का प्रवचन भी नहीं सुनते होंगे, जो हर साल नुमाइश में मानव-रूपी राम-लक्ष्मण-जानकी का वेश लेकर आते थे। लला, लली और छोटे भैया (लक्ष्मण) की झांकी रथ पर निकलती। महिलाएं खूब चढ़ावे चढ़ाती, रथ स्थल-स्थल पर रुकता जाता और उसी पर एक ओर मुद्रा-लोभी बाबाजी हारमोनियम लेकर बैठे होते। वे लगातार गाते जाते—'ना कोई डारो ललन पर टोना।' रथ के आगे-पीछे, दाएं-बाएं श्रद्धालु जनता की भीड़ उमड़ी पड़ती थी। व्यापारी वर्ग की महिलाएं, जिनके पुत्र और पति बढ़ती हुई महंगाई की आड़ में पांच-सात फीट दूर से ही ग्राहकों के खून चूसा करते थे, ऐसे अवसर पर चढ़ावे के बहुत सारे सामान सजा कर अपने-अपने घरों से बाहर निकल आती और लला-लली की जोड़ी के चरणों में नतशिर होकर अपनी धर्मनिष्ठा का प्रमाण प्रस्तुत करती थीं। ट्रक पर बैठे हुए कीर्तन गाने वाले ढोल-झाल-मजीरे की ध्वनि करते हुए समवेत स्वर में गाते होते—'ए रघुनन्दन, अजब तेरी झांकी।' उनका स्वर ट्रक से उठकर आकाश में विस्तार पाता होता। इस जनसंकुल भीड़ में मैं भी कई बार जीजी और चाची के साथ शामिल हो चुका था। जीजी तब मेरा एक हाथ बड़ी सतर्कता से पकड़े होतीं—हितू कहीं खो न जाए।

मैं कलाई में घड़ी लगाए सो गया था। एक बार नींद खुली, तो मैंने समय देखा—साढ़े तीन बज रहे थे। छोटी मां किसी महिला से बातें कर रही थीं। उनकी आवाज के कारण ही मेरी नींद टूट गई थी। मैंने दूसरी महिला की आवाज पहचान ली—सुनन्दा जीजी!

जीजी की आवाज़ मेरे लिए कभी दया और प्रेम की देवी की आवाज़ होती थी। आज उनकी आवाज सुनते ही मुझे लगा—मैं किसी ऐसे कसाई खाने में घिर गया हूं, जहां आदमी के ताजे लोथड़े बेचे जाते हैं। इस काम के लिए मैं जैसे अकेला ही था और बन्द दरवाजे के बाहर ग्राहक शोर मचा रहे थे—हमें चाहिए, हमें चाहिए।

कमरे का दरवाजा भिड़काया हुआ था। अब मेरी नींद तो वापस नहीं आई, मगर मैं घोर निद्रा में लीन की नकल किए ठीक से लेट गया। लिहाफ से पूरा बदन ढंक लिया। मगर, भीतर से जगे-जगे उन दोनों की बातें सुनता रहा। जीजी बोलीं, "मैं हितू की बाट जोहती रही।"

"गया तो था यहां से तुम्हीं से मिलने के लिए।"

"फिर?" जीजी ने पूछा।

"शायद दोस्तों ने घेर लिया।"

"ओह···यह तो होता है।" जीजी बोलीं। पहले उनकी आवाज़ में बांसुरी की जो लयपूर्ण ध्वनिवेधकता थी, वह आज नहीं थी। हां, कभी-कभी उस आवाज़ का आभास मात्र हो जाता था।

"सोते वक्त कहा था, मुझे जगाना मत।"

"कहा होगा, मगर मेरे लिए नहीं। मैं जाकर उठा दूं चाची? मेरी एक आवाज काफी होगी।" जीजी बोली थीं। और मैं अपने-आप फुस-फुसाया था—शायद नहीं।

किन्तु छोटी मां ने ही जीजी को रोक दिया। कहा, "मेरा खयाल है, उठने पर खुद तुम्हारे यहां जाएगा।"

"मेरी बीमारी के बारे में उसे मालूम है?"

"मालूम कैसे नहीं? मैंने बतलाया है।"

जीजी बोलीं, "तब देखना चाची, उठेगा तो फौरन मेरे पास भागता हुआ आएगा। आएगा क्या, पास बैठकर मेरे लिए रोएगा।"

जीजी के इन शब्दों ने मुझे एक बार दहला तो जरूर दिया, किन्तु जीजी के भाग्य में शायद मेरे ही हाथों पराजित होना लिखा था। मैंने उनके विश्वासों के चित्र पर कोलतार पोत डाला। शाम होते-होते कपड़े पहनकर मैं अपनी दुकान चला गया। पिताजी प्रसन्नता से गद्गद हो उठे।

मैंने वैसे तो बड़े बेमन से दुकान का निरीक्षण किया, मगर पिताजी को लगा कि परिवर्तित सजावट को देखकर बहुत खुश हूं। अन्ततः मैं जीजी से छिपता ही चला गया और प्रातः सात बजे की बस पकड़कर लखनऊ आ गया।

१८

मेरा पहाड़ी दास धर्मपाल अब भी मेरे साथ था। वह अपने घर जाने का नाम ही नहीं लेता था। महीने में चार-पांच रुपए मुझसे मांग लेता, वेतन का कभी हिसाब ही नहीं करता था। एक दिन रात में जब मेरे आगे खाना लगा कर पास ही वह फर्श पर बैठ रहा (अक्सर वह ऐसा ही करता था। कुछ मांगने पर दौड़कर किचन में जाता था) मैंने उससे पूछा, "धर्मपाल, तुम दस-पांच रोज के लिए घर क्यों नहीं हो आते?"

"हो आऊंगा साहब।"

"लेकिन कब?"

"बतलाऊंगा।"

मैंने उसे कुरेदा, "इसमें बतलाना क्या है भाई! मैंने कोई बंधन तो लगा नहीं रखा है। देखो, आखिर मैं अपने घर जाता हू कि नहीं?"

"जाते हैं।"

"तो फिर तुम क्यों नहीं जाते?"

धर्मपाल बगल की दीवार को देखने लगा। बोला कुछ भी नहीं। मैंने उसे और भी आत्मीयता देने के इरादे से कहा, "तुम्हारे तो बहुत सारे रुपए मेरे यहां निकलेंगे। जब जाना चाहोगे, कहना, दे दूंगा। घर वालों के लिए कुछ कपड़े ले जाना चाहोगे, तो बतलाना। मैं साथ चलकर खरीदवा दूंगा।"

"बहुत अच्छा साहब!"

"तो फिर कब जाना चाहते हो?"

धर्मपाल बोला, "मैं चला जाऊंगा साहब, तो आपको खाने-पीने की तकलीफ़ हो जाएगी।"

"तकलीफ काहे की होगी? मैं होटल में खाना खा लूंगा। तब इतनी बात ज़रूर है कि तुम्हारे हाथ के बनाए भोजन में जो स्वाद होता है, वह स्वाद होटल के भोजन में नहीं हो सकता। लेकिन, इसका मतलब यह थोड़े ही है कि तुम अपने मां-बाप के पास नहीं जाओ? बोलो, मैं कुछ ग़लत तो नहीं सोच रहा?"

इस बार उसने फ़ौरन कहा, "मां नहीं है साहब, बाप है।"

"क्यों, तुमने तो एक बार मुझे बताया था कि मां-बाप हैं?"

धर्मपाल ने कहा, "वैसे मैंने ठीक ही बतलाया होगा।"

"तो?"

"सगी मां नहीं है।"

"ओह, अब समझा।"

धर्मपाल का दिल जैसे भर आया। बोला, "सगी मां होती, तो गांव से मैं शहर नहीं आता।"

"खैर, बाप तो है न?"

धर्मपाल ने बतलाया, "है···मगर वह भी नई मां के कहने में रहता है।"

"रहने दो। भाई, तुम तो कुछ देने ही जाओगे, लेने तो नहीं। गांव में मां-बाप के अलावा और लोग भी तो होंगे, जो तुम्हें चाहते होंगे।"

धर्मपाल ने अपने निचले होंठ को ऊपर वाले दांतों से दबाया। पता नहीं, इस प्रकार वह अपनी कुछ स्मृतियों को काटने लगा कि दबाने लगा। वह निमिष मात्र को चुप रहा, फिर बोला, "हां, यह बात तो है साहब। मगर मैं अपने गांव नहीं जाऊंगा। हां, एक जगह जाने का दिल ज़रूर करता है।"

"कहां?" मैंने पूछा।

"बहन के घर।"

"अच्छा, अच्छा, क्या वह पास ही ब्याही हुई है?"

"मेरे गांव से अठारह-बीस मील दूर।"

"शायद वह तुम्हारी सगी बहन है।"

धर्मपाल के मुंह से हठात् निकला, "सगी बहन से बढ़कर।"

"क्या मतलब ?"

इस बार धर्मपाल कुछ नहीं बोला। मैंने देखा, उसकी आंखें सजल हो आईं और वह सम्भवतः मुझसे छिपकर रोने के लिए रसोईघर की ओर भागा। उसके दिल में जरा भी भय नहीं रहा कि साहब नाराज होंगे। उन्हें किसी चीज की जरूरत होगी तो ज़ोर से आवाज लगाएंगे। मांगी गई चीज लेकर पास जाऊंगा, तो पूछ बैठेंगे—क्यों, तुम उठकर कहां चले गए थे ?

मैंने सोचा, दिल के कोने में इसने कोई भारी दुःख पाल रखा है, कहीं-न-कहीं अवश्य मर्मान्तिक चोट इसने छिपा रखी है। अठारह-उन्नीस साल का यह पहाड़ी लड़का कितना भावुक है! मैंने उसे नहीं पुकारा। भोज्य-सामग्री में कुछ और चाहिए था, मगर मैंने अपने को तृप्त माना। हाथ धोने के लिए बेसिन की ओर जाना ही चाहता था कि धर्मपाल की मूर्ति रसोईघर के गलियारे से उभरी। वह बड़ी तेजी से चला आ रहा था। उसका गोरा-गोरा चेहरा मेरे सामने पड़ा, जिस पर हल्के-हल्के दाग थे चेचक के। उसने पास आकर दबे हुए स्वर में कहा, "मैं उधर जाकर बैठ रहा साहब। इधर आप खाना खा रहे हैं, यह बिल्कुल भूल गया। लगता है, आपने जी-भर खाना नहीं खाया।"

उसके स्वर में अपराध भावना का आभास था। वह सहमी-सहमी आंखों से मेरी ओर देखते हुए ठिठक गया। मैंने रुक कर कहा, "नहीं, ऐसी बात नहीं है धर्मपाल ! कुछ लेने की जरूरत होती, तो मैं तुम्हें पुकार लेता। आज जो तुमने पुइया की सब्जी बनायी है, गजब की है। देख लो, एक-एक फांक चाट गया।"

"अभी तो आपने हाथ नहीं धोया। एक परांठा और खा लीजिए न।"

मैंने कहा, "तुम्हारा खयाल है कि मैंने भरपेट नहीं खाया। मेरा पेट भर गया। तुम एक काम करो।"

"कहिए।"

मैंने मात्र उसके दुःख को कम करने के इरादे से कहा, "परांठा तो नहीं लाओ, एक प्लेट में थोड़ी-सी यही घुइयां वाली सूखी सब्जी ले आओ। उसे खाली ही खा लूंगा। बहुत जायकेदार है।"

धर्मपाल के चेहरे पर थोड़ी रौनक दिखी। वह मुस्कराया तो नहीं, पर स्थिति के अनुसार प्रसन्नता की रेखाएं उसके चेहरे पर छा गईं। बुझी-बुझी आंखें चमक उठीं। वह रसोईघर की ओर मुड़ा। मैं फिर लौटकर अपनी कुर्सी पर आ बैठा। नीली धारी वाली तौलिया बेसिन के स्टैण्ड पर साफ नजर आ रही थी। मैं हाथ-मुंह धो चुका था। धर्मपाल सब्जी लिए आया। प्लेट में चम्मच भी थी। मैंने झटपट सब्जी गले के नीचे उतारी। वास्तव में सब्जी और दिनों की अपेक्षा आज कुछ ज्यादा जायकेदार थी।

धर्मपाल सारे जूठे बर्तन उठा कर ले गया। मैं अपने सोने वाले कमरे में आ गया। पलंग के सिरहाने की ओर दीवार से सटा कर गॉदरेज की एक छोटी आलमारी रखी थी। उसकी कार्निश पर तीन-चार पत्रिकाएं थीं। उनमें से एक को खींचकर मैं पलंग पर चला गया। उसके पृष्ठों को उलटने-पलटने लगा। कई पठनीय निबन्ध थे। कहानियां, गजलें भी अच्छी थीं। मन न लगा। एक अंग्रेजी की पत्रिका हाथ में ली। इसने भी ऊबा दिया। उधर धर्मपाल बर्तन मांज-धो रहा था। उसकी धीमी-धीमी आवाज कानों में पड़ रही थी। रहा न गया, तो सड़क की ओर खुलने वाली दो खिड़कियों में से एक खिड़की खोली। साढ़े नौ बज रहे थे। बड़ी शान्ति थी। शान्ति और सूनापन दोनों। आगरा रोड से शायद ट्रकें गुजर रही थीं। बस उनकी ही धीमी घरघराहट कानों को छू दे रही थी। मैं फिर लौटकर पलंग पर आ गया।

तभी धर्मपाल आया। आते-आते उसने पूछा, "रूम हीटर जला दूं साहब! सरदी तो बहुत है।"

मैंने बिना उसकी ओर देखे कह दिया, "जला दो।"

वह हीटर जला कर चला गया। पलंग से उठकर मैंने भी भीतर से दरवाजा बन्द कर लिया। पलंग पर लौटा, तो न आंखें भारी हुईं और न शरीर। मैं कभी इस ओर होता और कभी उस ओर। धर्मपाल आकर दिल

में समा गया। शायद यह लड़का भी उसी स्थिति से गुजर रहा है, जिससे कभी मैं गुजर चुका हूं। उसके ये शब्द मुझे जैसे कोंच रहे थे—'सगी बहन से बढ़कर।' अच्छा तो यही होता कि मैं उसे घर जाने के लिए न कहता। न कहता, तो ये शब्द सुनने की नौबत ही क्यों आती?

"क्या मेरी सुनन्दा जीजी की तरह?" मैंने जैसे दिल में घुस चुके धर्मपाल से पूछा और उसने भी बिना मेरे मर्म की पहचान किए हठात् कह दिया, "हां साहब!"

धर्मपाल उस सगी बहन से बढ़कर बहन के यहां जाने का इरादा रखता था। मैं सगी बहन से बढ़कर बहन से मुंह छुपाते रहने का मूड बनाए रखता था। कहां मिल पाया मैं सुनन्दा जीजी से। मैंने तो एक बार यह पता लगाने की भी कोशिश नहीं की कि वे सरकारी अस्पताल में ऑपरेशन करा रही हैं या किसी सर्जन की प्राइवेट क्लीनिक में। उस शाम भी तो मैं सोने की नकल किए बिछावन पर पड़ा रहा। जीजी मुझे जगाने नहीं आ सकी। थोड़ी ही देर बाद दीदी ने अपने बारे में शिकायत की—'बड़ी कमजोरी महसूस होने के साथ पेट में दर्द हो रहा है।"

"तो फिर घर जाकर आराम करो।"

"हां, अब चलना ही चाहती हू।" जीजी बोली।

इतना सुनने के बाद मुझे ऐसा लगा कि इसके आगे जीजी कहेंगी—"हिनू सोकर उठे, तो मेरे घर भेज देना।' परन्तु, उन्होंने ऐसा कुछ भी नहीं कहा। वे शायद उठकर खड़ी हो गई थीं। छोटी मां ने कहा था, "कहो तो मैं साथ चलकर तुम्हें तुम्हारे घर तक छोड़ आऊं।"

"नहीं चाची, ऐसी बात नहीं है। चली जाऊंगी।"

थोड़ी देर बाद आगन में सन्नाटा छा गया। लगा, जीजी चली गईं। फिर मेरे दोनों सौतेले भाई स्कूल से लौट आए थे। उनकी बोली से सन्नाटापन दूर हो गया। अब मैं कमरे से बाहर निकला।

लखनऊ के लिए चलते समय मैंने पिताजी से कहा था, "इधर काम कुछ ज्यादा है। कुछ देर ही से आ सकूंगा आपकी इच्छा हो, तो जब जी में आए, चले आइएगा।"

पिताजी बोले, "ठीक है। कानपुर का आना-जाना तो लगा

है।"

"हां···।"

"अपनी शादी के बारे में कुछ सोचा?" पिताजी ने पूछ दिया। मैं इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए बिल्कुल तैयार नहीं था। मुझे तनिक भी आशा नहीं थी कि वे इसी समय ऐसा प्रश्न कर बैठेंगे।

मैंने कुछ झेंपते हुए कहा, "वह तो करनी ही है पिताजी। जरा-सा और देर समझिए।"

"अच्छा···अच्छा, तुम तो खुद समझदार हो। बात ऐसी है कि हमारी बिरादरी में ज्यादा उम्र की शादियां अच्छी नहीं लगतीं। ज्यादा सोचने-समझने की ज़रूरत नहीं। जगन्नाथ जी ने हमें क्या नहीं दे रखा है! फिर तुम जैसी लड़की चाहोगे, मैं वैसी ही लड़की के नाम पर हां करूंगा।"

"जी···जी····।"

जीजी कब लखनऊ से हरदोई या फिर हरदोई से पटना कब गई, मुझे ठीक-ठीक मालूम नहीं हुआ। पिताजी डेढ़-दो माह बाद लखनऊ मेरे पास आए, तो खुद मुहल्ले भर के समाचार देते हुए बोले, "दीक्षित जी की लड़की का ऑपरेशन हो गया। ठीक-ठाक होकर चली गई।"

मैंने पूछ दिया, "क्या शास्त्री जी लिवाने आए थे?"

"हां, आए तो थे। ऑपरेशन के समय भी आए थे। ऑपरेशन के बाद तीन दिन रहे।"

"मेरे खयाल से ऑपरेशन लखनऊ में ही हुआ, क्यों?"

"हां, लखनऊ में ही हुआ।"

मैंने अपने को उस वक्त बहुत हल्का पाया। लगा, सड़ती हुई ऊमस में सामने कोई बर्फ की झील दिखलायी पड़ी और मैं उसमें छलांग लगाकर स्नान करने लगा। यह तो हुआ, मगर इसके अलावा भी कुछ और हुआ। तल की ओर निगाह डाली, तो पता चला, जलती हुई मशालें थामे हजारों-हजार लोग मेरी ओर दौड़ते चले आ रहे हैं। कभी पंक्तिबद्ध जुलूस की पंक्ति बिगड़ जाती है, तो कभी बन जाती है। जलती मशालें लिए असंख्य लोगों की क्रुद्ध भीड़। शायद वे चीख रहे थे—यही है हितू, यही है। बस अब आगे न बढ़ो। हमारा शिकार हमारे सामने है।

जीजी, सुनन्दा जीजी ! वे क्रुद्ध भीड़ को आगे से बार-बार घेर लेती हैं। दोनों हाथ आसमान की ओर उठा-उठा कर चीख रही हैं—नहीं, नहीं, यह हितू नहीं है। तुम सभी लौट जाओ या फिर सच्चे हितू या हितेन्द्र की तलाश करो। बस देखने में यह हितेन्द्र-जैसा लगता है।

मैं उछल कर झील से बाहर निकल आता हूं।

मेरा ध्यान फिर बंट गया और मैं पीठ के बल लेटे-लेटे सुहास का स्मरण करने लगा। वह कल नहीं, परसों आ जाएगा—ज्वायन शायद उसके दूसरे दिन करे। मैंने सिखला-पढ़ा कर भेजा है। जीजी और ओंकार शास्त्री के बारे में ढेर सारी सूचनाएं लाएगा। कह गया है—मैं उस मुहल्ले से भली-भांति परिचित हूं। पटना विश्वविद्यालय का स्नातकोत्तर छात्रावास ठीक उसी मुहल्ले के पीछे है। मैं उस छात्रावास में रह चुका हूं।

आखिर नींद नहीं आई। मैं उठा। उठकर आलमारी खोली।

गार्डिनल !

नींद लाने की दवा। एक गोली निकालकर खा ली और पलंग पर आ गया। पन्द्रह-बीस मिनट बाद ही आंखें भारी होने लगीं।

हितेन्द्र जायसवाल !

असिस्टेंट स्टेशन डायरेक्टर ! अपने से भागता हुआ डायरेक्टर, अपनी ही तस्वीर पर एक काला कपड़ा डालता हुआ डायरेक्टर !! हकीकत उसका पीछा कर रही थी। वह मानो मैं गार्डिनल के असर से बेखबर होकर सो रहा।

पटना जाकर जीजी से मिलने का इरादा बन ही नहीं रहा था। मगर, सुहास के आगमन की मुझे गहरी प्रतीक्षा थी। कभी-कभी आशंका होती कि वह समय पर लौटकर 'ज्वायन' करने के बदले कहीं छुट्टी न बढ़ा ले। उसके आवेदनपत्र के साथ डाक्टर का नुस्खा न हो। छुट्टियां बढ़ाने के लिए भी कई नुस्खे होते हैं। फिर जी में आता—नहीं, सुहास ऐसा नहीं कर सकता। वह लटपटिया नहीं है।

तीसरे दिन दफ्तर से बाहर निकल रहा था, तो सुहास का स्मरण बड़ी तेजी से हो आया। आज शायद वह आ गया होगा। कल दफ्तर में मिलेगा। और जो उसकी ड्यूटी शाम की होगी, तब ? खैर, उसका भी

पता चल जाएगा। कल दफ्तर पहुंच कर मीटिंग के बाद सबसे पहले ड्यूटी चार्ट ही देखूंगा। पता चल जाएगा कि उसकी ड्यूटी कब है। अगर वह शाम में ड्यूटी करने वाला होगा, तो मैं रुक जाऊंगा। वह स्वयं पता लगाएगा कि छोटे साहब हैं या चले गए? मालूम होगा कि मैं अपने चेम्बर में बैठा हुआ हूं, तो वह स्वयं मेरे पास चला आएगा।

फिर मन शंका से भर उठा। कहीं आकर वह यह न कह बैठे—बड़ा ही परेशान रहा। उस ओर जाने का अवसर ही न मिला।

ओह, ऐसा बतला कर तो वह मेरी सारी अपेक्षाओं को मार डालेगा।

खैर, दफ्तर से क्वार्टर तक का फासला तय कर क्वार्टर पहुंच गया। जैसे ही कपड़े बदल कर तरोताजा हुआ कि धर्मपाल ने पास आकर पूछा, "साहब, नाश्ते के लिए क्या बनाऊं?"

मैंने कहा, "धर्मपाल, रोज-रोज तो तुम मेरी पसन्द से नाश्ता तैयार किया करते हो, आज अपनी पसन्द से तैयार करो।"

धर्मपाल ठिठका। वह वास्तव में मेरी पसन्द जानना चाहता था। पर, उसने कहा, "तो आज मैं डबलरोटी की सैण्डविच और आलू के पापड़ तलूंगा। आलू के पापड़, जो घर से आए हैं।"

"ठीक है।"

साफ-सुथरे फुलस्केप आकार के कागजों की शीट लिखने की मेज पर पड़ी हुई थी। चार-पांच दिन बाद नाटक का रिहर्सल शुरू होने वाला था···और मैंने अब तक नाटक लिखना शुरू तक नहीं किया था। मैं अक्सर रेडियो के लिए कुछ-न-कुछ लिखता रहता था। आध घण्टे का नाटक। तेरह-चौदह पृष्ठ तो लिखने ही थे। सोचा, नाश्ता करने के बाद लिखने बैठ जाऊंगा और नौ बजे तक लिखता रहूंगा।

यहां पूरी ईमानदारी के साथ एक और तथ्य को स्पष्ट कर देना चाहता हूं। साहित्यसृजन की प्रतिभा मुझे ईश्वर से नहीं मिली थी। प्रतिभा के नाम पर मैं भीतर से एकदम खोखला था। मैं यदाकदा जो कुछ ..खता था, वह मात्र परिश्रम से। यह लेखनकार्य मेरे लिए एक विवशता सिवा कुछ और नहीं था। यूनिवर्सिटी की पढ़ाई के दिनों में ओंकार ..र्मा के सुझाव पर मैं नाटकों में भाग लेने लगा था। मैं रेडियो के

अधिकारियों के प्रति कुछ इतना वफ़ादार भी बन गया था कि वे मुझसे छोटे-मोटे नाटक और रूपक लिखवाने लगे थे। नौकरी पाने के इरादे से मैं यह सब करता चला गया था और डिग्री के अलावा इण्टरव्यू में मेरी इस योग्यता को भी महत्त्व दिया गया था। मेरा चुनाव आसानी से हो गया। भीतर से तो मैं खोखला था ही, पर बाहर से अपने विषय में यह प्रभाव कायम रखना चाहता था कि असिस्टेण्ट स्टेशन डायरेक्टर महोदय स्वयं एक अच्छे लेखक हैं। मेरे लिखे नाटकों के सम्वादों में शायद ही एक-दो डायलॉग या सम्वाद भूले-भटके मिल जाते, जो दिल को छू सकते थे। प्रतिभा से सृजित और परिश्रम से सृजित कला की पहचान कलापारखी फौरन कर लेते हैं। यदि किसी ख्याति प्राप्त लेखक से मैं अपने नाटक के विषय में उसकी राय पूछता, तो वह बड़े ही ठण्डे स्वर में कह देता था, "आप बहुत ही अच्छा लिखते हैं। लिखना कभी न छोड़िए।" इसके बाद वह कुछ भी नहीं बोलता था। उसे उत्साह ही नहीं मिलता था कि कुछ ज्यादा कह सके।

लेखनधर्मिता के अपने इस दुस्साहस से मैं भली-भांति परिचित था। किन्तु, अपने इस दिवालियेपन पर सदैव परदा डाले रहता था। सचाई यही है कि रेडियो स्टेशन के विभिन्न केन्द्रों में ऐसे अनेकश. लेखक, कवि-नाटककार अफसर हैं, सृजन के क्षेत्र में जिनकी स्थिति मेरी ही तरह है। मगर वे जहां-जहां पदस्थापित हैं, छाये हुए हैं।

बड़ी मुसीबतों से सर खपा कर मैंने नाटक का कथानक तैयार किया था। अब नाश्ता करके मेज की ओर बढ़ ही रहा था कि किसी ने दस्तक दी। धर्मपाल जाकर दरवाजा खोल आया और मेरे पास [illegible]
"एक साहब आए हैं। अपना नाम सुहास बतलाते हैं।"

मैं झट मुड़ा। बोला, "अच्छा, सुहास ?"

"जी।"

"बुला लाओ और हां, दो-तीन पापड़ फिर [illegible] पापड़ और चाय ले आना।"

धर्मपाल लौट गया और कुछ ही क्षणों बाद [illegible] दाखिल हुआ। हाथ जोड़ कर बोला, '[illegible]'

मेरे मुंह से निकला, "नमस्कार भाई, [illegible]

आने वाले थे न ? मुझे तुम्हारा इन्तजार था।"

सुहास सांवले रंग का सुदर्शन युवक था। उसकी आंखों का कटाव बहुत ही अच्छा था और उसके गाल भरे हुए थे। मैंने संकेत किया कि वह पास वाली कुर्सी पर बैठ जाए और स्वयं भी उसकी वाली कुर्सी की ओर मुड़कर बैठ गया। मैंने पूछा, "और बोलो, सब कुशल ?"

"जी सर, आपकी कृपा से सब कुशल ही है।"

मैं भीतर से ओंकार शास्त्री के विषय में पूछने-जानने को बेचैन था, मगर अपने को दबाए रखा। औपचारिकता के नाते मैंने पूछा, "तुम पंजाब मेल से ही आए होगे। क्या बहुत भीड़ थी ?"

"बहुत भीड़ थी। मुगलसराय तक तो मैं खड़ा-खड़ा ही आया।"

"अरे ! तब तो बहुत तकलीफ हुई होगी ?"

"अब क्या किया जाए ? जो हाल सबों का, वही हाल मेरा।"

"वैसे ट्रेन आई तो समय पर ही न ?"

"जी ना। एक घण्टा चालीस मिनट लेट !"

मैं मुस्कराया। बोला, "क्या करना है, स्वदेशी ट्रेन है न। हम समय पर स्टेशन पहुंचें, दूसरी पाबन्दी तो है, मगर ट्रेनें भी समय से चलें, इसकी कोई भी पाबन्दी नहीं है !"

"जी···जी···।"

"इधर श्रीवास्तव का ट्रांसफर हो गया।" मैंने बतलाया।

"ट्रांसफर हो गया, कहां ?"

"कलकत्ता।"

"तुम्हारे स्टेशन डायरेक्टर भी शायद चले जाएं। वैसे बेचारे ट्रांसफर रुकवाने के लिए दिल्ली गए हुए हैं। देखो, क्या होता है।"

"जी, सुना था कि ट्रांसफर होने वाला है।"

"सही सुना था। लेकिन करना क्या है ! सेण्ट्रल गवर्नमेण्ट की सर्विस है और उस पर भी रेडियो स्टेशन। भगवान का नाम लो।" मैंने कहा।

मैं सुहास को इधर-उधर से बटोर कर ओंकार शास्त्री की चर्चा पर लाना चाहता था। झटपट पूछने में मुझे कुछ दिक्कत महसूस हो रही थी और वह था कि अपने से कुछ बोल ही नहीं रहा था। सम्भवतः वह प्रतीक्षा

कर रहा होगा कि छोटे साहब ही उस चर्चा का उद्घाटन करें। मैं पसोपेश में था। मन में आया कि जब इसके आगे पापड़, चाय आ जाए, तो चर्चा शुरू करूं। धर्मपाल अब तक क्या कर रहा है, इसका पता ही नहीं चल रहा था। गैस की अंगीठी थी। यह काम मिनटों में हो सकता था। मैंने सुहास से कहा, "एक मिनट।" और चक्कर लगाकर धर्मपाल के पास पहुंचा। वह कुछ सहम गया। मैंने पूछा, "क्यों जी, अभी देर है क्या ?"

धर्मपाल ने मेरे प्रति अपनी स्वाभाविक विनम्रता के स्वर में कहा, "पापड़ तो तले जा चुके हैं; बस अब चाय बनी जाती है।"

"अच्छा, अच्छा। मैं चलता हूं। तुम लेकर आ जाना।"

उसके पास से मैं जैसे ही लौटकर आया, सुहास उठने के लिए कुर्सी से उचका। मैंने कहा, "बैठो, बैठो। मैं भी बैठता ही हूं।"

बैठ जाने के बाद मैंने समय काटने के इरादे से कहा, "प्रतापगढ़ में तो पकौड़े तुमने ज़रूर खाए होंगे, क्यों ?"

"जी सर, इच्छा तो हुई थी। मगर, एकाएक पानी बरसने लगा और बेचारा पकौड़े वाला ठेला लेकर भाग पड़ा।"

"क्यों उधर पानी बरसा है क्या ?"

"ज्यादा तो नहीं, मगर हां, थोड़ी बारिश तो ज़रूर हुई है।" सुहास ने कहा। इतने में धर्मपाल पापड़, चाय बीच की छोटी वाली मेज पर रख गया। मैंने सुहास से कहा, "लो खाते-पीते बातें करो।"—और उसे मुख्य चर्चा पर खींच लाया, "तुम्हारे पटना में गर्मी का क्या हाल है ?"

सुहास ने एक पापड़ तोड़ते हुए कहा, "बस जो हाल यहां है, वही हाल वहां है। बस फर्क इतना है कि उस ओर थोड़ी बारिश हुई है। आम खूब बिकने लगे हैं। हमारे यहां दरभंगे का सेनुरिया और बिसुनभोग आम बड़ा मशहूर है। ये आम खूब बिकने लगे हैं। मगर महंगाई इतनी है कि लोग आम खा नहीं पा रहे हैं।"

मैंने देखा, सुहास मेरी वाली पटरी पर चढ़ ही नहीं रहा है। मुझे लगा कि यह मेरा काम नहीं कर सका है और बातें बना रहा है। फिर भी मैंने धैर्य धारण किए रहने का परिचय देते हुए कहा, "मगर भाई, हम तो रेडियो से रोज ही कहते हैं कि महंगाई नहीं है। रेडियो की नौकरी की

यह कितनी बड़ी मजबूरी है कि हम उस तथ्य और पीड़ा को ब्राडकास्ट नहीं कर सकते, जिसे आम लोग भोग रहे हैं। हम उन्हें गाने सुना-सुना कर सचाई से भरमाया करते हैं। अनाज की थोक मण्डी में भला कितने लोग अनाज खरीदने पहुंचते हैं, लेकिन हम बाजार भाव सुनाते हैं और सारे भाव थोक मण्डी के होते हैं।"

तभी सुहास को कुछ स्मरण हो आया। वह अपने आप उस पटरी पर चढ़ आया, जिस पटरी की ओर मैं उसे ले जाना चाहता था। उसने कहा, "हां सर, ओंकार शास्त्री के विषय में थोड़ी-बहुत जानकारी ले आया हूं। वहां इंजीनियरिंग कॉलेज के छात्रावास से पूरब की ओर एक चौड़ा रास्ता जाता है। उसी रास्ते में दोनों ओर तीन-चार बड़े-बड़े इमली के पेड़ हैं। इन्हीं पेड़ों के बाद कुछ आगे चलकर दायीं ओर एक पीले रंग का मकान है। उसी के एक हिस्से में वे रहते हैं।"

मैंने जानबूझकर अनजान बनते हुए पूछा, "पूरे परिवार के साथ?"

"हां, परिवार भला है भी कितना बड़ा—एक अदद खुद और एक अदद उनकी बीवी।"

"अड़ोस-पड़ोस वाले कैसे हैं?"

सुहास ने बतलाया, "बस ऐसे-वैसे ही हैं। छोटे-मोटे दुकानदार, चाय-पान बेचने वाले, गाय-भैंसें पालने वाले। कुछ जुआरी और शराबी भी रहते हैं। हां, वैसे मकान का किराया कुछ कम जरूर है। कुल डेढ़ सौ रुपए माहवार किराया है और तीन कमरे हैं।"

"तब तो मजे हैं।"

सुहास ने मेरी बात काटते हुए ओंकार शास्त्री के प्रति सहानुभूति व्यक्त करने की दृष्टि से कहा, "मजे कुछ नहीं हैं सर! मकान में न तो नल है और न बिजली। उनकी धर्मपरायण पत्नी स्नानार्थ गंगा नदी की शरण लेती हैं। सड़क का कारपोरेशन वाला नल भी बिलकुल सामने नहीं है। दोनों सुविधानुसार लगभग दो सौ कदम की दूरी से पानी भर लाते हैं।"

"क्या कोई नौकर नहीं रख छोड़ा है?"

"जी नहीं।"

"क्यों भला ?"

सुहास ने बतलाया, "जेब भारी हो, तो नौकर रखें। मगर वह स्थिति नहीं है। तब यह बात अवश्य है कि शास्त्री जी विद्वानों के समाज में सम्मान पाते हैं और मेरा खयाल है, उन्हें आर्थिक सुख से बौद्धिक सुख बहुत ज्यादा प्रिय है। मैंने देखा कि दाएं हाथ से पानी से भरी बाल्टी उठाए चले आ रहे हैं और बाएं हाथ से एक प्रोफेसर का नमस्कार पाकर प्रति-नमस्कार दे रहे हैं।"

मैं खोद-खोदकर ओंकार शास्त्री के विषय में बहुत प्रकार की सूचनाएं उससे पाता रहा। सुहास ने शायद मेरी अपेक्षाओं से अधिक सूचनाएं मुझे दीं। ओंकार शास्त्री के प्रति उसका रुख कुछ और ही दिखा। वह उनके विषय में बतलाते हुए बीच-बीच में अपने निजी विचार भी व्यक्त करने लगता था। वह उनके प्रति श्रद्धानत हो उठा था। उसने रुककर बतलाया, "एक बार मौका मिल गया कि मैं शास्त्री जी का भाषण सुनूं। पटना विश्व-विद्यालय के हिन्दी विभाग ने एक साहित्यिक सेमिनार का आयोजन किया था। देखने में तो शास्त्रीजी का व्यक्तित्व एकदम प्रभावहीन लगता है, किन्तु जब बोलते हैं, तब उनके वाहंस्पत्य के दर्शन होते हैं—अंग्रेजी और संस्कृत समान धाराप्रवाह में बोलते हैं।"

मैंने टोका, "आखिर किस विषय पर बोल रहे थे ?"

सुहास ने बतलाया, "होमर के काव्य में भारतीय तत्त्व।"

सुनकर लगा, किसी ने छूकर मेरे कानों पर पत्थर दे मारा। लेकिन, मैं संभल गया। मैंने अपनी ओर से कहा, "लेकिन जब इतनी जानकारी है, तो उन्हें कोई नौकरी कर लेनी चाहिए।"

सुहास इस बार कुछ निडर होकर बोला, "सर मैं तो विनम्रतापूर्वक कहूंगा कि इस अर्थ में हमारा राष्ट्र बड़ा ही अभागा है कि शास्त्री जी जैसे लोगों को नौकरी करनी पड़ती है या उन्हें नौकरी कर लेने की सलाहें दी जाती हैं। लेकिन क्या कहा जाए ! जो नेता सत्ता की राजनीति में हैं, जनता के सारे धन पर उनका कब्जा है और वे इतने बेशर्म हैं कि विद्वानों को भी अपना चमचा बनाना चाहते हैं। मैं कहता हूं, इस देश को सांस्कृतिक पतन से आदमी क्या, ईश्वर भी नहीं बचा सकता, अगर 'ईश्वर'

नाम का अस्तित्व कहीं है।"

"तुम ईश्वर को नहीं मानते सुहास ?"

"शायद नहीं।"—सुहास ने कहा, "वह अनिश्चय के अन्धकार में अभिनय करने वाला अभिनेता है। वह मंच पर कहीं नजर नहीं आता और हम इस भ्रम में रहते हैं कि उसकी लीलाएं मंच पर ही नहीं, संपूर्ण ब्रह्माण्ड में चल रही हैं। वह हमारी आधारहीन कल्पना का अलौकिक वृक्ष है। बचपन से इस नाम और इसकी अलौकिक शक्तियों के विषय में सुनते-सुनते हम सम्मोहित हो गए हैं। इस नाम से जुड़े बिना भी हम समाज और जीवन के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकते हैं। लेकिन सर, यही बातें मैं सबों के सामने नहीं कह सकता···।"

मैं उसका दीप्त मुखमण्डल देखने लगा। तभी आकाश में विचर रहे बादल घने और भारी हो आए। सुहास अब जाने की इजाजत लेना चाह रहा था, मगर देखते-देखते वजनदार बूंदों की बौछार होने लगी। वर्षा के साथ हल्की-हल्की ठण्डी हवा खिड़की से घुसकर हमें हौले-हौले छूने लगी।

१९

बरसात का मौसम विदा लेने वाला था। यदाकदा हल्की फुहारें आतीं और लौट जाती थीं। इन्हीं दिनों एकाएक जीजी के यहां से एक पत्र आया। कार्ड नहीं, लिफाफा था। लम्बे अन्तराल के बाद मेरे मन में आया कि इस पत्र का उत्तर देना चाहिए। जीजी ने अपने विषय में कुछ नहीं लिखा था, ओंकार शास्त्री के विषय में भी नहीं। बस एक वाक्य—'ये तुम्हें आशीष कह रहे हैं।' ज्यादा बातें जीजी ने मेरे विषय में ही पूछी थीं। यह भी नहीं लिखा था कि अब उनका स्वास्थ्य कैसा है ? ट्यूमर वाली पीड़ा से मुक्ति मिली अथवा नहीं।

हल्की सी एक शिकायत और तीन नसीहतें :

—तुमने पत्र लिखना क्यों बन्द कर दिया ? तुम्हारी बड़ी याद आती है। माताजी के पत्रों से तुम्हारे संक्षिप्त समाचार मिल जाते हैं।

—इधर तुम शायद हरदोई भी बहुत कम आने-जाने लगे हो। क्या बात है ? जन्मभूमि और माता-पिता की कभी उपेक्षा नही करनी चाहिए। जब मैं हरदोई गई थी, तब मैंने अनुभव किया था कि तुम्हारी छोटी मां के व्यवहार तुम्हारे प्रति बदल गए हैं। वे तुम्हारे हित की कामनाएं किया करती है। इस शुभ परिवर्तन का तुम्हें सम्मान करना चाहिए। मेरी एक बात मानो। अब तुम अपनी छोटी मा को 'छोटी मां' कहना छोड़ दो। इस विशेषण के बिना क्या तुम्हारा काम नही चल सकता ! यह एक शब्द, शायद तुम नहीं गौर करते, पृथकता का बोध कराने के लिए पर्याप्त है।

—मन मे गाठें नही रखनी चाहिए। 'इनके' पास रहकर मैंने बहुत सारी बातें सीखी हैं। 'ये' कहा करते हैं कि मन मे गाठें रखने वाला खुद उनमे बंध जाता है और खुद एक खतरनाक व्यूह बनाकर खुद ही उससे जूझता रहता है। तुम मेरे छोटे भाई हो, इसलिए कहती हू, अपने मन के पृष्ठ खुले रखा करो।

धर्मपाल मेरे कई बार कहने पर पन्द्रह दिनों की छुट्टी लेकर चला गया था। मैंने उसमे कहा था, "कुछ और दिन रहने की इच्छा हो, तो रह लेना। भागते हुए चले मत आना।"

जाने मे कुछ पहले उसने मेरे पास आकर अनुनय के स्वर में कहा था, "साहब, मैं तो पड़ोस की बहन के घर ही जाऊंगा। मेरा वहा का पता लिख लीजिए। बीच मे आप मुझे बुलाना चाहे, तो एक पत्र डाल दीजिएगा। मैं आ जाऊंगा।" और, उसके बतलाए अनुसार मैंने पता नोट कर लिया था।

जीजी के इस पत्र ने मेरे उस वर्तमान मानसिक संसार को जैसे उद्वेलित कर दिया। मेरा मानसिक जगत कुछ हिला, कुछ कापा। जीजी 'इनके' और 'ये' से भला किस प्रकार चिपट गई हैं। ऐसे ही एक हल्का-सा खयाल बादल के एक नटखट खण्ड की भांति दिल के ऊपर से गुजर गया—पति के साथ जीजी का यह अभेद्य लगाव जन्मकुण्डली मिल जाने के कारण ही है। जन्मकुण्डली न मिली होती, तो शायद ऐसा न होता।

मैंने कई प्रेमविवाह होते देखे थे, ऐसे कई विवाहों को टूटते भी देखा था। मगर, ऐसा मानने का कोई कारण नहीं था कि प्रेमविवाह टूटने के लिए ही होते हैं। जोड़ियां तभी विछड़ती हैं, जब एक-दूसरे को समझने में एक अथवा दोनों पक्ष भूलें करते हैं। यही सब सोच-सोचकर विना किसी के सामने अपने को इस रूप में प्रकट किए मैं मेनका के साथ चल रहे अपने प्रणय-सम्बन्ध को सींच रहा था। वह एक ड्रामा आर्टिस्ट थी और नाटकों में भाग लेने बरावर रेडियो स्टेशन आया-जाया करती थी। असिस्टेण्ट स्टेशन डायरेक्टर अथवा स्टेशन डायरेक्टर का ऐसे कलाकारों से प्रत्यक्ष कोई सावका नहीं पड़ता। मेरा भी सावका नहीं ही पड़ता। मैं तो अपने चेम्बर में सही समय पर जाता और पूरी ईमानदारी से दिन भर काम करके पांच बजे हारा-थका वाहर निकलता था। चुपचाप सिर झुकाए, वाएं हाथ में डायरी थामे रेडियो स्टेशन के अहाते से वाहर निकल आता था। अगल-वगल बहुत कम निगाहें डालता था। वरामदे, पोर्टिको अथवा लाउंज में खड़े स्टॉफ नमस्कार करते, तो हौले से सिर हिला देता। सिर का हिलाना अथवा जरा-सा झुका लेना प्रतिनमस्कार का ही रूप था।

किसी नाटक के रिहर्सल के दौरान मैंने मेनका को पहली वार देखा था और उसने मेरी ओर बड़े गौर से देखा था। उस दिन दिल ने कहा—बड़ी अच्छी लड़की है। कुछ दिन वाद दिल ने कहा—बड़ी प्यारी लड़की है और कुछ और दिनों वाद वह जव मेरे और करीव आई, तो दिल ने कहा—यही मेरी कल्पना की लड़की है, जिसे जीवनसंगिनी वनाया जा सकता है।

दिल का मौसम इस प्रकार वदला करता है, इससे पहले यह मालूम नहीं था। आह, तव कैसा लगता है, जव प्रकृति पुरुष के प्रणय लक्षण को भांपते ही अपने हृदय के कपाट खोल देती है। पुरुष कपाट खुलने के स्वर मात्र से उपकृत हो उठता है। तव मैंने भी ऐसा ही अनुभव किया था। अव क्या अनुभव करता हूं—यह सव वाद में।

स्टुडियो नम्बर चार में किसी नाटक का रिहर्सल चल रहा था। मुझे मालूम था कि इस नाटक में मेनका प्रमुख भूमिका कर रही है। सत्य के

कुछ और अधिक समीप आकर कहूं, तो कहना पड़ेगा कि मैं हमेशा अपने को इस बात से अवगत रखने लगा था कि उसे किस नाटक में भूमिका करनी है और उसका रिहर्सल कब है। यह सब या तो मैं उसी से पूछ लिया करता था या किसी बहाने नाटक विभाग के प्रभारी से घुमा-फिरा कर जान लिया करता था। बस इतना ही पूछना पर्याप्त होता था, "इस नाटक में आपने किन-किन कलाकारों को 'बुक' किया है?"

मैं ऐसा दिखावा करता कि मैं अपने केन्द्र से प्रसारित किए जाने वाले नाटकों की प्रस्तुति का स्तर और भी ऊंचा करना चाहता हूं। मेनका जब तक मेरे हृदय के करीब नहीं आई थी, तब तक मैं इस ओर से एकदम तटस्थ रहा करता था। कोई खास रुझान नहीं। यहां तो रोज ही रिहर्सल चलते रहते हैं। कौन इस चक्कर में पड़े। सारे क्षण तो व्यस्तता में ही बीतते हैं, ऊपर से एक और व्यस्तता क्यों उठा ली जाए?

लेकिन, अब मेरा हाल दूसरा था। मेनका जिस नाटक में भूमिका कर रही होती, उसका रिहर्सल होते समय मैं फाइलों के निष्पादन का कार्य छोड़कर ड्रामा कण्ट्रोल रूम में चला जाता। इसी रूम अथवा स्टुडियो में नाटकों के रिहर्सल हुआ करते थे। अपनी प्रतिष्ठा बचाने की दृष्टि से मैं उसे अपने चेम्बर में पास बिठा कर बातें नहीं कर सकता था और रेडियो स्टेशन में उसकी उपस्थिति का आभासमात्र मुझे बेचैन कर देता था। कभी-कभी यह बात भी याद आती कि मैंने दो-चार बार जीजी से कहा था कि मैं शादी नहीं करूंगा। शादी तो अभी मैंने नहीं ही की थी, पर मेनका के सामीप्य का सुख मुझे उसी ओर खींचे लिए जा रहा था। जितनी देर रिहर्सल होता, मैं वहां उपस्थित रहता। पता नहीं, क्या सोच कर मेनका ने, एक दिन स्टुडियो से बाहर निकलते समय पीछे से फुसफुसा कर कहा, 'तुम रिहर्सल चलते समय न किया करो। मुझे लाज लगती है। खुलकर डायलॉग बोलने का साहस नहीं होता।"

"क्यों?"

"मेरा ध्यान तुम पर चला जाता है। मैं बस तुम्हें ही देखने लगती हूं। साथ के कलाकार हंसी-हंसी में टोक देते हैं। गंभीर बने रहो न।"

"क्या कहते हैं?"

मेनका वोली, "अव वह सब न पूछो। सारांश यह होता है कि तुम्हारे साथ मेरा रोमांस चल रहा है।"

सुनते मेरे रोंगटे खड़े हो गए। मैंने कह दिया, "अच्छा अव रिहर्सल में नहीं आया करूंगा।"

स्टुडियो नम्बर चार! नाटक और रिहर्सल, रिहर्सल और नाटक!! मैं और मेनका, मेनका और मैं।

मैं फिर विचलित हो गया। कई रजिस्टरों पर कई जगह हस्ताक्षर करने थे। मन नहीं लग रहा था। आंखों के सामने चार नम्बर स्टुडियो था। ड्रामा कण्ट्रोल रूम में किसी नेशनल प्रोग्राम के लिए लम्वे रूपक की तैयारी चल रही थी। स्टेशन डायरेक्टर खुद देखभाल कर रहे थे। लेकिन, मैं अपने चेम्वर से वाहर निकल आया और चोरदिल लिए हुए चार नम्वर स्टुडियो का गेट धकेल कर भीतर चला गया। मेनका फर्श पर मसनद के सहारे वैठी हुई थी। दो-तीन आर्टिस्ट और थे। सव-के-सव मुझे देखते ही खड़े हो गए। मैंने अनजान की तरह पूछा, "अरे, यहां तो तुम लोग हो! भई, नेशनल प्रोग्राम वाला रूपक···।"

मेनका ने कहा, "वह तो ड्रामा कण्ट्रोल रूम में···।" और रुक गई।

मैंने दूसरे कलाकारों की ओर मुखातिव होकर पूछा, "और कौशिक जी कहां हैं?"

कौशिक नाटक विभाग के प्रभारी थे। औसत से ऊंचे-लम्वे। प्रकृति से गम्भीर। कभी-कभी ही हंसकर वातें करते। मुझसे ज्यादा पढ़े-लिखे। कला और विज्ञान दोनों में स्नातकोत्तर उपाधि थी—विधि स्नातक अलग से। नाटक के अच्छे जानकार थे। इस वात के लिए रेडियो स्टेशन में मशहूर थे कि जव किसी नाटक को वहुत वढ़िया रंग देना चाहते हैं और जरूरत से ज्यादा रिहर्सल करते-करते आर्टिस्ट थकावट का अनुभव करने लगते हैं, तो अपनी जेव के पैसों से उन्हें नाश्ता कराते हैं और कहते हैं—तुम लोग सहयोग न दोगे, तो यह ड्रामा वेकार चला जाएगा।

नाट्यलेखन के अलावा नाट्यप्रस्तुति की क्षमता मुझ में नहीं के वरावर थी, मगर मैं व्यर्थ ही अपना रोव कायम रखने के लिए इन मामलों में कुछ-न-कुछ वोल दिया करता था। कौशिक सम्भवतः मेरी इस मनः-

स्थिति को समझते थे। मैं नाटकों की प्रस्तुति में जब कोई सुझाव देता, तो प्रायः यही कहते, "हां सर, आप ठीक कह रहे हैं।" मगर मेनका से मुझे पता चल जाता कि वस्तुतः उन्होंने मेरा सुझाव नहीं माना। उन्होंने अपनी क्षमता से जो कुछ किया, उसी कारण नाटक पर्याप्त प्रभावकारी बना। अनुभव के अतिरिक्त उम्र में भी वे मुझसे काफी बड़े थे।

मैंने उनकी तलाश की, तो दोनों आर्टिस्ट उठकर शायद उन्हें देखने को स्टुडियो से बाहर निकले। हालांकि मैंने व्यर्थ ही उनकी तलाश की थी, मगर इस समय उनका बाहर निकल जाना मुझे अच्छा लगा। अब स्टुडियो में मेरे और मेनका के सिवा कोई न बचा। मेनका उठकर खड़ी हो गई और उसने स्टुडियो के गेट की ओर देखा। उसके रुख से पता चला कि वह भी बाहर निकल जाना चाहती है। मैंने उससे कहा, "बाहर मत जाओ। मैं जा रहा हूं। ऐसा करो कि आज छह और सात के बीच मेरे घर पर आओ।"

"घर पर ?"

"हां, घर पर !"

"क्या काम है ?" मेनका ने टालने के इरादे से पूछा।

मैं बोला, "अब आ जाओ। वहीं तुमसे बातें करूंगा। यहां हमारी बातें नहीं हो पातीं। क्यों, ठीक है न ?"

मेनका शरमा गई। उसने 'हां' अथवा 'ना' कुछ भी नहीं कहा। मेरा उसके साथ ज्यादा देर इस एकान्त में रुकना उचित नहीं था। मैं झटपट स्टुडियो से बाहर निकल आया। बाहर आकर मैंने गोल शीशे से झांका। मेनका फिर मसनद के सहारे पैर कुछ फैलाकर बैठ गई थी। उसके बाएं हाथ में नाटक के कुछ टाइप किए हुए पन्ने थे। सामने ऊंचा माइक्रोफोन खड़ा था। पता नहीं क्यों, मेनका ने एक बार क्यों उस पारदर्शी गोल शीशे की ओर निगाह डाली। निश्चय ही उसे मेरा चेहरा दिख गया होगा। मुझे लगा, उसके गोरे-गोरे चेहरे पर एक हल्की-सी लाली फैल गई।

कौशिक गलियारे से आते दिखलायी पड़े। अब मैं ठिठक गया। जब वे मेरे पास पहुंचे, तो मैंने हठात् कहा, "कौशिक साहब, इस नाटक को

रेकार्डिंग शायद आप कल करेंगे। मगर, एक अडिशनल कापी भी तैयार कीजिएगा।"

"क्या कहीं और भेजनी है?"

मैं तो हवा में बोल गया था। अब क्या कहता! मगर बोल पड़ा, "हां, शायद। याद आ गया, तो सोचा, यह बात आपके नॉलेज में डाल दूं। वैसे मैं फिर आपसे बातें कर लूंगा।"

"जी, अच्छा···।" कौशिक बोले।

मैं एक प्रकार से भागता हुआ अपने कमरे में दाखिल हुआ। ठीक सवा पांच बजे मैं बाहर निकला। हल्के-काले-मटमैले बादल सिर के ऊपर धीरे-धीरे चहलकदमी कर रहे थे। आसार शायद बरसा होने के थे। मेनका पर नजर पड़ी। वह बड़े रौब से अपने बाएं कन्धे से पर्स लटकाये मैदान में खड़ी एक महिला से बातें कर रही थी। मैंने उस महिला को पहचाना। वह एक कैजुअल आर्टिस्ट थी और रेडियो स्टेशन में बच्चों के कार्यक्रम का संचालन करने आया करती थी। मैंने निगाह फेर ली और चुपचाप अहाते के गेट की ओर बढ़ता चला गया। मेनका ने मेरी ओर रुख तक न किया। उसका चेहरा देखने से मुझे ऐसा लगा कि वह उस महिला से किसी गम्भीर समस्या पर बातें कर रही है। मेरे मन में शंका उठी, कहीं उसने इस महिला से कह तो नहीं दिया है कि ए० एस० डी० (असिस्टेण्ट स्टेशन डायरेक्टर) से उसका कुछ चल रहा है? और अभी-अभी उसने यह भी तो नहीं बतला दिया है कि आज उन्होंने मुझे अपने घर पर बुलाया है? किन्तु, गेट पार करते-करते मुझे इस शंका से मुक्ति मिल गई—मूर्ख लड़कियां भी स्वयं इस बात का प्रचार नहीं करतीं, मेनका तो सुशिक्षिता है, अगर ऐसी ही बात होती, तो भला वह क्यों कहती—'गम्भीर बने रहो न!'

धर्मपाल नहीं था। उसके बिना घर बड़ा ही सूना-सूना लगता था। मगर, मुझे खुशी थी कि वह छुट्टी लेकर चला तो गया था। मैं स्वयं चाह रहा था कि जीवन की एकरसता से उसे कुछ दिनों के लिए त्राण मिले, आत्मीय जनों के बीच जाकर उसका मन बहल जाए।

मैंने हल्का-सा स्नान किया, कपड़े बदले और बाल संवारे। मन हल्का

लगने लगा। इतने में साढ़े छह बज गए। इच्छा हुई कि थोड़ी सेव-दालमोठ निकाल कर खा लूं। एक प्याला कॉफी भी बना लूं। मगर, ऐसा कर न सका। पंखा चला कर आरामकुर्सी पर बैठ रहा। सड़क की ओर खुलने वाली दोनों खिड़कियां खोल दीं। अंधेरे के साथ बादल भी घने होते आ रहे थे। वे शायद आपस में टकरा रहे थे। उनकी गड़गड़ाहट शून्य में गर्जन पैदा कर रही थी। मैंने उठकर इस कमरे की बत्ती जला दी। घड़ी पर निगाह डाली—छह बजकर इकतालीस मिनट। धीमी-धीमी फुहारें। मन में एक भाव आया, सम्भवत: मेनका न आए।

फुहारें और तेज होती चली गईं। मैंने खिड़की से बाहर देखा। मेनका तेज क़दमों से मेरे घर की ओर भागी आ रही थी। मेरे पास छाता नहीं था, वरना छाता लेकर उसकी ओर दौड़ता और उसे फुहारों से बचाता हुआ अपने पास ले आता। लैम्प पोस्ट का ट्यूब जल चुका था। आखिर मेनका मेरे करीब आ गई।

२०

ऐसी प्रतीति स्थितिजन्य ही थी कि जीजी ने व्यंग्य कसा है। लेकिन मेरे ही भीतर से एक और हितेन्द्र निकल कर आमने-सामने आ खड़ा हुआ था और कहा था, "प्रेम प्रेमिका ही करती है और वही प्रेम स्थायी होता है, ऐसी बात नहीं है। प्रेम अपने अस्तित्व को विभिन्न माध्यमों से प्रक्षेपित-विस्फोटित करता है। पात्र के अनुसार उसके रूपदर्शन और भूमिकाएं अलग-अलग होती हैं…।"

मैं ठिठक कर अकेला खड़ा रहा। जीजी सामान्य की अपेक्षा कुछ क्षिप्रता से ही अपने मकान के अहाते में घुस गईं और यह ऐन्द्रजालिक हितेन्द्र अपने शब्द मुझे पिलाता रहा। उसने कहा, "प्रेम तो समस्त प्राणी में शाश्वतत: समर्पित आनन्द का वह अस्तित्व है, जिसके पास है उसे भी

कोई अनुभूति नहीं भटकती। यह दोनों ओर से समर्पणधर्मी होता है। उसमें यह धर्म न हो, तो वह अपनी संज्ञा, अपना अभिज्ञान ही खो दे। न चाहते हुए भी जिसे छोड़कर यहां आए हो, वह मेनका है और अभी जो यह सहज भाव से तुमसे कुछ कहकर अपने घर की ओर भाग चली, वह सुनन्दा है। और हां, इन दोनों के प्रेम की अपनी-अपनी अस्मिता है। तल का व्यास जानने के लिए अतल तक देख पाने की दृष्टि चाहिए।"

मैं घवड़ा उठा। अपने घर की ओर मुड़ने की अपेक्षा चुपचाप अपमानित हुए जैसा दीक्षित जी के मकान की ओर देखता रहा। मेरे और जीजी के घर के बीच उस मूंछैल ठाकुर का घर था, जो वास्तव में नेता तो नहीं था, मगर स्वांग उनसे ही मिलता-जुलता रचता था, । जुलूस निकलवाने और छोटी-छोटी झंडियां वनवाने में अपना कल्याण कर लिया करता था। जव मैं वड़ा हुआ, तो पता चला कि वह अपनी लाइन का पहलवान था। वह मुहल्ले भर की जवान अथवा जवान हो रही लड़कियों का स्वयंस्थापित अभिभावक वनता था और उनके माता-पिता का ध्यान उनकी लड़कियों की उम्र, उनकी गतिविधियों और जमाने के रंग की ओर आकर्षित किया करता था।

सुनन्दा जीजी से इधर महीनों से क्या, वर्षों से न तो मुलाकात हुई थी और न जी भरकर मैं वातें ही कर सका था। मुलाकात-वात होती कैसे ? एक हथेली दूसरी हथेली की ओर वढ़े, तव तो करतलध्वनि हो। ठाकुर की आवाज़ मुझे थोड़ी देर पहले सुनायी पड़ी थी। मुझे डर लग रहा था कि मैं सुनन्दा जीजी को रोक कर कुछ वातें करूं और वह भीतर से वाहर निकल आए, तो जाने नुक्कड़ पर किससे क्या कहे ! आदर्शों के झण्डे ढोते-ढोते सम्भवतः उसके कन्धे छिल गए थे।

मैंने जीजी से वस इतना ही कहा, "हम वरसों वाद एक जगह हुए हैं। तुम मुझसे नाराज लगती हो। ठीक है, मिलूंगा। अभी तो हूं।"

जीजी ने, पता नहीं, मेरे ये शव्द सुने या नहीं। मगर उनके शव्द तो मुझे एक असुविधा में डाल ही गए। लगा, वे मुझ पर अत्यन्त सहजता से व्यंग्य कस गई। वोल कर आगे वढ़ गई थीं, "सुना है, वड़े-वड़े अफसरों को घर पर भी दफ्तर का काम देखना होता है। शायद तुम भी अपने साथ

बचे-खुचे काम पूरे करने के लिए कागज-पत्र ले आए होंगे। अपनी सुविधा-असुविधा देख लेना, तभी आना। मेरे पास तो दिन-दिन भर बैठोगे, तब भी मेरा जी न ऊबेगा।"

जीजी के इस पूरे कथन से मैंने अपनी समझ के अनुसार कुछ शब्द छांट लिए। ये कथन के बीच वाले कुछ शब्द किसी हत्यारे के चाकू की भांति मेरे हृदय में उतर कर गहराई से चारों ओर घूम से गए—'अपनी सुविधा-असुविधा देख लेना, तभी आना।'

मैं लौट कर अपने घर नहीं गया। सीधे पूरब की ओर निकल कर सड़क पर आ गया। खड़ा रहा। लोग-बाग आ-जा रहे थे। मैं सड़क के इस पार ही था। उस पार ठीक सामने अग्रवाल जनरल स्टोर्स नजर आ रहा था। इसका मालिक मेरे स्कूल के दिनों का मित्र था। उसकी निगाह मुझ पर नहीं पड़ रही थी। वह अपने दो कर्मचारियों से काम ले रहा था। कुछ सामान इधर से हटा कर उधर रखे जा रहे थे और कुछ सामान उधर से इधर। मन में एक कड़वाहट, एक वेदना समा गई थी। रह-रह कर जीजी के प्रति कुछ क्रोध भी आ रहा था कि इतनी बड़ी बात वे भला कैसे इतनी आसानी से बोल गई! न बोलतीं, तो भला क्या हानि थी? यूनिवर्सिटी के वे दिन याद आ गए, जब मैंने एम० ए० की परीक्षा दे दी थी और कुछ पैसे मिल जाएंगे, इस लालच में एक आधे घण्टे का नाटक रेडियो स्टेशन में दे दिया था। पता लगाने गया था कि उसका रिहर्सल कब है। रिहर्सल चाहे हो अथवा न हो, अपनी जल्दी तो इस बात के लिए थी कि नाटक का प्रसारण हो जाए और उसके दूसरे दिन मेरे नाम का चेक मिल जाए। हालांकि वहां बराबर आते-जाते रहने से मुझे इस बात की जानकारी हो गई थी कि प्रसारण के लिए नाटक स्वीकृत होने और प्रसारण-तिथि तय होते ही लेखक चाहे तो अपने पारिश्रमिक के लिए कह सकता और उसे पारिश्रमिक दिया भी जा सकता है। मगर, मेरी स्थिति ऐसी नहीं थी। अधिकारीगण ऐसी उदारता प्रायः उसी लेखक-कवि के साथ बरतते हैं, जो महत्त्वपूर्ण होते हैं और जिन्हें अप्रसन्न करना अधिकारियों के लिए अहितकर होता है। मुझमें इतनी क्षमता भला कहां थी कि अग्रिम भुगतान के लिए जबान खोलता! तब तो मैं मौन रूप से मात्र उनका कृपापात्र बने

रहना चाहता था। गया, तो पता चला, ड्रामा सेक्शन के प्रभारी रिहर्सल करा रहे हैं। मैं स्टुडियो में जा पहुंचा। मुझे देखकर उन्होंने कहा, "अच्छा हितेन्द्र ? कैसे—कैसे ? अच्छा आ गए हो, तो बैठ जाओ। आज हम इस नाटक की रेकार्डिंग करेंगे। तुम्हारे नाटक का रिहर्सल परसों से चलेगा।"

"जी···।"

मैं कलाकारों के बीच जाकर एक ओर बैठ रहा। कलाकार एकदम सतर्क होकर एक प्रकार से अन्तिम रिहर्सल कर रहे थे। किसी लड़की को एक लम्बा डायलॉग बोलना था। इस नाटक में वह युवती, पर विधवा भाभी की भूमिका कर रही थी। नाटक की स्थिति के अनुसार उसे एक खास स्थल पर लगातार तीन-चार मिनट का अपना डायलॉग बोलना था। बोल तो वह रही थी, पर बोलते-बोलते जैसे बीच में ही थक जाती और उसके स्वर के उतार-चढ़ाव में व्यवधान पड़ जाता था। स्टुडियो में आवाज देने वाले फेडर को ऑन करके उस पार से ड्रामा प्रभारी ने उसे सम्बोधित करते हुए कहा, "इस प्रकार रुक जाने से काम नहीं चलेगा। सिचुएशन की सारी गतिमानता मारी जाएगी। सोचो कि भाभी युवती है, विधवा है और वह किस स्थिति के सन्दर्भ से गुजर रही है।"

"बड़ा लम्बा डायलॉग है···।" लड़की बोली।

"ठीक है। यहां वह जिस मानसिक स्थिति को भोग रही है, उसके अनुसार उसे लगातार बोलना ही है।" ड्रामा प्रभारी ने उसे समझाते हुए कहा, "आदमी जब भीतर से एकदम भरा होता है और उसे कोई छेड़ देता है, तो दो ही बातें होती हैं। या तो वह एकदम मौन धारण कर लेता है या फिर एकदम उबल पड़ता है। वह बड़ी तेजी से अतीत को अपनी मुट्ठियों में भींच लेता और एकदम उबल-उबल कर बोलने लगता है। इस नाटक में तुम सरस्वती का रोल कर रही हो न ? तो बस अपने को सरस्वती के सिवा कुछ और न समझो। मान लो कि उसके साथ जो कुछ गुजरा है, वही तुम्हारे साथ गुजरा है। वह भीतर से एकदम भरी हुई है। आज ऐसे क्षण आ गए हैं कि वह खरी-खोटी सुनाए बिना मान नहीं सकती। उसने अपने को सालों जब्त रखा, मगर अब नहीं रख सकती।"

मैंने अपने आपसे प्रश्न किया—यदि ऐसी ही कोई बात है, तो जीजी

-ने एकदम बीच अथवा तटस्थता की नीति से क्यों काम लिया ?

मैं उनके प्रति स्वयं अपने को अस्वीकृत किए हुए था, अतः सन्दर्भ तो मैं ही था और तब मेरे सामने जीजी इस प्रकार संक्षिप्त क्यों हो गई हैं ? यह समेटने का भाव मन में क्यों आया ? चाहिए तो था कि बिखेर देतीं, खूब झल्ला-झल्ला कर बोलतीं और अन्त में यह भी कह डालतीं, 'मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता। पहले जैसे बोलते रहने की आदत नहीं रही। ठीक है। मुलाकात हो गई। तुम सकुशल हो, जानकर प्रसन्नता हुई।" मगर, उन्होंने ऐसा कुछ नहीं कहा।

मेरा अपराधी मन अपने को ही भटकाने लगा—जीजी ऑपरेशन कराने आई थीं। उस समय वे मुझसे बार-बार मिलने का प्रयत्न शायद इसीलिए करती रही कि अवसर देखकर मुझसे कुछ रुपए मागें। आखिर कभी उन्होंने भी तो अपने कान का बुन्दा मुझे दे दिया था। दे दिया था और फिर कभी उसकी चर्चा नहीं की थी। मुझसे क्या, अपने घर में भी किसी को कुछ नहीं बतलाया था। बतलाया होता, तो दीक्षित जी भले ही कुछ न बोलते, चाची तो इशारे से जरूर कुछ कहती। पर, कहां किसी ने मुझसे कुछ कहा।

अघोषित, अदृश्य और मौन दान !

किन्तु, यह मौन दान अब सम्भवतः मौन दोष का रूप ले चुका है—मैं अपने आप बोला। मन में आया, इधर-उधर बाजार में घूम कर उतने बड़े बुन्दे का दाम जानूं और या तो बुन्दा या बुन्दे की कीमत भर के रुपए लेकर जीजी के पास चलूं।

मैं ईमानदार हूं। —मैं बिना बोले यह बात बोलने के लिए तैयार होने लगा। पिताजी अभी थोड़ी देर पहले दुकान गए थे। उनके दाएं हाथ में कोई रजिस्टर था। जाते वक्त कह रहे थे—कल सेलसटैक्स की अपील वाली तारीख है।

मैं सड़क पार करके सामने वाले जनरल स्टोर्स में घुस गया। मेरा दोस्त गणेश अग्रवाल मुझे देखकर प्रसन्न और चकित हुआ। आगे बढ़कर उसने मेरा हाथ पकड़ लिया और पूछा, "अरे हितेन्द्र ? कब आए ?"

मैंने बतलाया, "कल।"

रहना चाहता था। गया, तो पता चला, ड्रामा सेक्शन के प्रभारी रिहर्सल करा रहे हैं। मैं स्टुडियो में जा पहुंचा। मुझे देखकर उन्होंने कहा, "अच्छा हितेन्द्र? कैसे—कैसे? अच्छा आ गए हो, तो बैठ जाओ। आज हम इस नाटक की रेकार्डिंग करेंगे। तुम्हारे नाटक का रिहर्सल परसों से चलेगा।"

"जी···।"

मैं कलाकारों के बीच जाकर एक ओर बैठ रहा। कलाकार एकदम सतर्क होकर एक प्रकार से अन्तिम रिहर्सल कर रहे थे। किसी लड़की को एक लम्बा डायलॉग बोलना था। इस नाटक में वह युवती, पर विधवा भाभी की भूमिका कर रही थी। नाटक की स्थिति के अनुसार उसे एक खास स्थल पर लगातार तीन-चार मिनट का अपना डायलॉग बोलना था। बोल तो वह रही थी, पर बोलते-बोलते जैसे बीच में ही थक जाती और उसके स्वर के उतार-चढ़ाव में व्यवधान पड़ जाता था। स्टुडियो में आवाज देने वाले फेडर को ऑन करके उस पार से ड्रामा प्रभारी ने उसे सम्बोधित करते हुए कहा, "इस प्रकार रुक जाने से काम नहीं चलेगा। सिचुएशन की सारी गतिमानता मारी जाएगी। सोचो कि भाभी युवती है, विधवा है और वह किस स्थिति के सन्दर्भ से गुजर रही है।"

"बड़ा लम्बा डायलॉग है···।" लड़की बोली।

"ठीक है। यहां वह जिस मानसिक स्थिति को भोग रही है, उसके अनुसार उसे लगातार बोलना ही है।" ड्रामा प्रभारी ने उसे समझाते हुए कहा, "आदमी जब भीतर से एकदम भरा होता है और उसे कोई छेड़ देता है, तो दो ही बातें होती हैं। या तो वह एकदम मौन धारण कर लेता है या फिर एकदम उबल पड़ता है। वह बड़ी तेजी से अतीत को अपनी मुट्ठियों में भींच लेता और एकदम उबल-उबल कर बोलने लगता है। इस नाटक में तुम सरस्वती का रोल कर रही हो न? तो बस अपने को सरस्वती के सिवा कुछ और न समझो। मान लो कि उसके साथ जो कुछ गुजरा है, वही तुम्हारे साथ गुजरा है। वह भीतर से एकदम भरी हुई है। आज ऐसे क्षण आ गए हैं कि वह खरी-खोटी सुनाए बिना मान नहीं सकती। उसने अपने को सालों जब्त रखा, मगर अब नहीं रख सकती।"

मैंने अपने आपसे प्रश्न किया—यदि ऐसी ही कोई बात है, तो जीजी

-ने एकदम बीच अथवा तटस्थता की नीति से क्यों काम लिया ?

मैं उनके प्रति स्वयं अपने को अस्वीकृत किए हुए था, अतः सन्दर्भ तो मैं ही था और तब मेरे सामने जीजी इस प्रकार संक्षिप्त क्यों हो गई हैं ? यह समेटने का भाव मन में क्यों आया ? चाहिए तो था कि बिखेर देती, खूब हल्ला-गुल्ला कर बोलती और अन्त में यह भी कह डालती, 'मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता। पहले जैसे बोलते रहने की आदत नहीं रही। ठीक है। मुलाकात हो गई। तुम सकुशल हो, जानकर प्रसन्नता हुई।" मगर, उन्होंने ऐसा कुछ नहीं कहा।

मेरा अपराधी मन अपने को ही भटकाने लगा—जीजी ऑपरेशन कराने आई थीं। उस समय वे मुझसे बार-बार मिलने का प्रयत्न शायद इसीलिए करती रहीं कि अवसर देखकर मुझसे कुछ रुपए मांगें। आखिर कभी उन्होंने भी तो अपने कान का बुन्दा मुझे दे दिया था। दे दिया था और फिर कभी उसकी चर्चा नहीं की थी। मुझसे क्या, अपने घर में भी किसी को कुछ नहीं बतलाया था। बतलाया होता, तो दीक्षित जी भले ही कुछ न बोलते, चाची तो इशारे से जरूर कुछ कहतीं। पर, कहां किसी ने मुझसे कुछ कहा।

अघोषित, अदृश्य और मौन दान !

किन्तु, यह मौन दान अब सम्भवतः मौन दोष का रूप ले चुका है—मैं अपने आप बोला। मन में आया, इधर-उधर बाजार में घूम कर उतने बड़े बुन्दे का दाम जानूं और या तो बुन्दा या बुन्दे की कीमत भर के रुपए लेकर जीजी के पास चलूं।

मैं ईमानदार हूं।—मैं बिना बोले यह बात बोलने के लिए तैयार होने लगा। पिताजी अभी थोड़ी देर पहले दुकान गए थे। उनके बाएं हाथ में कोई रजिस्टर था। जाते वक्त कह रहे थे—कल सेलसटैक्स की अपील वाली तारीख है।

मैं सड़क पार करके सामने वाले जनरल स्टोर्स में घुस गया। मेरा दोस्त गणेश अग्रवाल मुझे देखकर प्रसन्न और चकित हुआ। आगे बढ़कर उसने मेरा हाथ पकड़ लिया और पूछा, "अरे हितेन्द्र ? कब आए ?"

मैंने बतलाया, "कल।"

उसने कहा, "अमा यार, आने से पहले एक कार्ड तो डाल दिया करो। कहीं सैर-सपाटे का प्रोग्राम बनाया जाए!"

"दुकानदारी में हर्ज नहीं होगा?"

"भई, ऐसा सोचा जाए तो बस दुकान में ही सब कुछ हो यानी लाश भी यहीं से बाहर निकले।" उसने कहा।

भीतर से तो मैं कतई प्रसन्न नहीं था। फिर भी मैंने जबरदस्ती की हंसी हंस दी। कहा, "ऐसी बात जबान से नहीं निकालते।"

गणेश बोला, "एक रात तुम्हारा लिखा नाटक रेडियो पर आ रहा था।"

"तुमने सुना?"

"सुना, सुना क्यों नहीं। मगर आधा छूट गया।"

"आधा छूट गया, वह कैसे?"

उसने कहा, "मैं रेडियो सिलोन लगाए हुए था। गाने अच्छे नहीं आ रहे थे, तो मैंने लखनऊ लगा दिया। पहले से कुछ पता भी तो नहीं था। जब ड्रामा खत्म हुआ, तो तुम्हारा नाम बोला।"

अच्छा, अच्छा···।"

गणेश ने मेरे सामने कुछ खाने-पीने का प्रस्ताव रखा। घर से तो नाश्ता करके मैं निकला ही था, इच्छा बिलकुल नहीं थी। मैंने विनम्रता-पूर्वक इन्कार किया। वह इधर-उधर की, बचपन के दिनों की बातें करने लगा। बातों-बातों में उसने कहा, "जब से अपने बीरू बाबू मेयर हो गए हैं, तब से हरदोई की रौनक में इजाफ़ा होने लगा है। पहले सड़कों पर रोशनी का प्रबन्ध ठीक नहीं था। तुमने देखा होगा, अब हर लैम्पपोस्ट में रॉड का प्रबन्ध हो गया है। उनका इरादा हरदोई को लखनऊ बना देने का है।"

"यह तो बड़ी अच्छी बात है।"

"भई जनता के लिए कुछ न करो, तो चाहे अपने घर भर के लोगों को खादी पहनाओ, सारी नेतागीरी बेकार। बीरू बाबू पहले जनता को देखते हैं, बाद में अपने को।"

वस्तुतः मेरा दिल इन बातों में लग नहीं रहा था। वैसे वह जो कुछ कह रहा था, उसमें वास्तविकता थी। मगर मैं इस विषय को टालना चाहता

था। मैंने कहा, "इसके अलावा भी चौरू बाबू बड़े सामाजिक हैं। उन्हें मालूम भर हो जाना चाहिए कि फलों आदमी संकट में है, फौरन पहुंचेंगे।"

"मगर कुछ लोग उनकी शिकायतें भी तो करते हैं। जमाना ऐसा है कि लोग न अच्छे काम करेंगे और न दूसरों को करने देंगे। कहीं ऐसा न हो कि इन शिकायतों से ऊब कर अगली बार वे चुनाव के मैदान में पाव ही न डालें। कोई दूसरा मेयर आएगा और इन सारे रांडों को बेच खाएगा। फिर रांडों को खरीद कराएगा और उसमें अपनी जेब भारी कर लेगा।"

मैंने देखा कि वह फुटबॉल को आगे बढ़ाए जा रहा है। मैं अगर उसके आगे से फुटबॉल को घसीट कर अपने कब्जे में कर लेता, तो खेल बढ़ता ही चला जाता। मैंने चुप्पी साध ली और दुकान की ऊंची-ऊंची आलमारियों की ओर देखने लगा। उसका ध्यान बट गया। आलमारियां तो ज्यादा नहीं थीं, लेकिन मैं चाहे जिस आलमारी की ओर देखता, मुझे लगता, उसके पीछे बुन्दे से एक कान खाली लिए जीजी खड़ी हैं। मैंने एकाएक गणेश से पूछा, "गणेश, आजकल सोना क्या भाव है?"

गणेश मेरी ओर देखकर मुस्कराया। बोला, "सोने का भाव पूछ रहे हो? इसका मतलब यह कि मुझे तुम्हारी बारात में शामिल होने की तैयारी करनी चाहिए। मगर हितू, तुम खुद इस चक्कर में न पड़ो। अपने पिताजी को सब कुछ करने दो। वैसे तुम्हारी कोई खास पसन्द हो, तो धीरे से उन्हें बतला दो। यहां जेवर की कौन-सी दुकान है, जिसके मालिक से तुम्हारे पिताजी की वाक़फ़ियत न हो? बोलो, मैंने ठीक कहा?"

"बिल्कुल ठीक। मगर गणेश, मेरा मामला दूसरा है।" मैंने कहा। मेरे स्वर में अचानक गम्भीरता आ गई थी।

उसने अपनी कुर्सी मेरे और पास तिसका ली। पूछा, "क्या मामला है?"

मैंने बतलाया, "वैसे लखनऊ में तो एक से बढ़कर एक ज्वेलर्स हैं। मगर, जिसे चाहिए, उसका कहना है कि यहां यानी हरदोई में दाम कुछ कम लगेगा। लखनऊ में तो ज्वेलर्स ग्राहकों को लूटते हैं। मैं चाहता था

रे साथ चलकर खरीद लूं ।"

शाम के पांच बजे के करीब आ सकते हो ?" उसने पूछा ।

ने कहा, "क्यों नहीं आ सकता ? यहां मेरे जिम्मे भला काम ही है । तुम कहो, साढ़े चार बजे आ जाऊं ।"

वह बोला, "तो फिर आ जाओ । एकाध मेरी जान-पहचान के भी "

"बस तो ठीक । याद रखना ।"

गणेश ज्यादा पढ़-लिख नहीं सका था, मगर अच्छी कमाई कर रहा था । उसने बजाय अपने व्यापार की बातें करने के मुझसे अपनी जिज्ञासाएं प्रकट करने लगा कि रेडियो से नाटक कैसे प्रसारित किए जाते हैं, देहाती प्रोग्राम में बहरे बाबा कौन बनता है, वह कैसा आदमी है, क्या उसे देखा जा सकता है ? फिल्मी गानों का कार्यक्रम 'अपनी पसन्द' कौन सुनाता है ? उसकी आवाज इतनी प्यारी कैसे है ? कानपुर में हो रहे टेस्ट मैचों का आंखों देखा हाल भला कैसे सुनाया जाता है ? स्टुडियो क्या बला है ? आदि-आदि ।

मैं उसकी जिज्ञासाएं शान्त करता रहा । जिस बात को वह एक बार में नहीं समझ पाता, मैं उसे वह बात दो-तीन बार समझाता रहा । उसके बाद मैं उसकी दुकान से नीचे उतर कर सड़क पर आ गया ।

नौ से कुछ कम नहीं बज रहे होंगे । एक बार इच्छा हुई कि अपनी दुकान ही चला जाए । पिताजी तो खुश होंगे ही, समय कट जाएगा अलग । यहां भी बड़े चौराहे के पास वाले स्टेट बैंक में मैंने कुछ रुपए छोड़े थे । मेरी अटैची में इस बैंक वाला चेक-बुक भी था ।

दक्षिण की ओर रुख किया । मन को थोड़ा सुख मिला था— जीजी को प्रसन्न कर लूंगा वृन्दा देकर । उन्हें मालूम है कि मैं अ पर हूं और अच्छा वेतन पा रहा हूं । तब भी उनका कर्जभार नहीं का मतलब है कि उनकी उदारता को मैंने आमदनी वाले खाते लिया है । लेकिन, तभी हृदय ने टोका—जीजी की उदारता आमदनी वाले खाते पर भी कहां चढ़ाया ? चढ़ाया होता, तो व्यक्त करने के क्षणों को वर्षों से यों निरर्थक न होने देते । तुमने

उदारता को शून्य में उछाल दिया, जैसे मौके पर तुम्हें उपकृत करना उनका फर्ज था। तुम्हारा उनके प्रति तो कुछ भी फर्ज नहीं रहा। उनके प्रति तुम्हारी रुचि और गतिविधि का योगफल यही तो निकलता रहा है अब तक !

अब तो मेरे विचार से यही उचित जान पड़ने लगा कि चाहे जो कुछ हो, मुझे सीधे लौट कर जीजी के पास पहुंच जाना चाहिए। कल्पनाएं कभी-कभी मनुष्य को भीतर से तोड़ भी तो डालती हैं; क्योंकि इनके अपने-अपने इन्द्रधनुष होते हैं और व्यक्ति-विशेष के इन्द्रधनुष की ओर दूसरा पक्ष भी दृष्टि गड़ाकर देखे, कोई आवश्यक नहीं।

मैंने तय किया, आज उनके पास देर तक बैठूंगा और दिल में हाथ डाल कर टटोलूंगा कि क्या वे बुन्दा वापस चाहती हैं या बुन्दे का दाम ? अगर उन्होंने दाम चाहा, तो घुमा-फिरा कर निश्चित राशि पूछ लूंगा और आज ही या कल बैंक में रुपए निकाल कर उन्हें दे दूंगा। रुपए तो आज भी निकाले जा सकते हैं—ढाई बजे तक।

बस, अब मैं लौटा।

सड़क छोड़कर अब जो पश्चिम वाली चौड़ी गली में कदम डाले, तो एक सवाल मन ने किया—तब क्या होगा, जब जीजी के दिल में हाथ डाल कर टटोलने के बाद पता चलेगा कि न तो उन्हें बुन्दा चाहिए और न बुन्दे का मूल्य ? मेरे कदम थरथरा उठे। हृदय के स्पन्दन में तीव्रता आई। तब तो मुसीबत होगी। तो क्या मैं जीजी से पराजित होने जा रहा हूं ?

—नहीं, ऐसा कदापि नहीं हो सकता।

मेरे भीतर का अविवेकी गतिमान हो उठा और उसने एक सुझाव भी मेरे आगे रख दिया—विजयश्री सहज ही तुम्हारा वरण कर सकती है। बुन्दे की चर्चा चलाने की कोई जरूरत नहीं। तुमने मेनका को वचन दिया है कि उससे यथाशीघ्र विवाह करोगे। विवाह में उसे बुला लेना और उसी समय नेग के रूप में बुन्दे से कुछ ज्यादा वजन का कोई स्वर्णाभूषण दे देना। यह नेग होगा। मुनन्दा अस्वीकार नहीं कर सकेगी। दिल में हाथ डाल कर चारों ओर टटोलने की जरूरत नहीं।

किन, मैं फिर अपने से मोल-भाव करने लगा। इस तरह तो जीजी
ारता का उत्तर देना ठीक नहीं रहेगा। नेग तो बस नेग की स्थिति
शोभा बढ़ाएगा। वह बुन्दा तो किसी कील पर लटका ही रह
ा।

थोड़ी दूर का फासला और बनती-बिगड़ती मानसिक स्थितियां।
चलता चला जा रहा था। मैंने सोचा—अब इस क़दर हौले-हौले क़दम
लने से काम नहीं चलेगा। जब शेर की मांद में प्रवेश करने का निर्णय
न ही लिया, तो बाहर किसी वृक्ष के नीचे कब तक सोच-विचार किया
जाए!

मैंने अपने क़दम तेज कर दिए। मैं मान और अपमान के संगमस्थल पर खड़ा होने जा रहा था। बड़ी तेजी से चलकर जीजी के आंगन में आ कर खड़ा हो रहा। कोई दिखा नहीं। मैंने आवाज दी, "चाची...?"

चाची शायद नहीं थीं। चाचाजी का भी पता नहीं था। किन्तु, मेरी एक ही आवाज पर पूरब और दक्षिण वाले कोने के कमरे से जीजी निकलीं। नेत्रों में मेरे प्रति हुलास और प्यार थे।

"आ गए तुम हितू? आओ, आओ। मेरे अहोभाग्य!"

कमरे के ठीक साथ लगे बरामदे में संगमरमर की पुरानी लम्बी मेज लगी थी। कुछ फोल्डिंग लोहे की कुर्सियां दीवार से सटा कर रखी हुई थीं। जीजी ने मुझे वहां तक आने का संकेत किया। फिर कुर्सियां लगाने लगीं। मैं कुछ परेशान हुआ। शायद शत्रु पर दृष्टि पड़ते ही जीजी ने हमला बो दिया था—मेरे अहोभाग्य!

इसमें अहोभाग्य की भला कौन सी बात है?

पहले तो ऐसा कभी नहीं कहा। अधिकारपूर्ण और औपचारिकत भंगिमा की वेधकता क्या एक-जैसी ही होती है? नहीं। तो फिर यह कह दिया जीजी ने?

खैर मैंने आंगन को लांघा और जीजी के पास जा खड़ा हुआ। बोलीं, "बैठो। पिताजी फैजाबाद चले गए हैं। बड़ी भाभी की ज्यादा खराब है। देखो, शायद दो-तीन दिनों में लौटें।"

"और चाची?"

जीजी ने कहा, "हां, वे बेदई की दुलहिन को लेकर बजरिया गई हैं। कुछ सामान लाना जरूरी था। पिताजी को तो पत्र मिला और वे आनन-फानन में भागे।"

"ओ···!"

"आओ, बैठ जाओ।"

"चाची को गए कितनी देर हुई?" पूछते हुए मैंने आसन ग्रहण किया। जीजी बार-बार मेरे सूट को देख रही थीं। उन्होंने एक निगाह मेरे चमचमाते हुए बूटों पर भी डाली। बगल वाली कुर्सी पर बैठ रहीं और मेरे चेहरे को कुछ इस प्रकार छुपती हुई आंखों से देखने लगीं गोया सोच रही हों कि बातचीत का सूत्र कहां से पकड़ा जाए। मैंने तय किया कि इतना ज्यादा मौका देना ठीक नहीं और पूछ बैठा, "जीजी, तुम कब आईं?"

बोली, "दस-बारह रोज हो गए।"

"दस-बारह रोज?"

"हां, तुम्हें धोखा हुआ न?"

"धोखा, किस बात का धोखा?"

"यही कि मुझसे मिलना हो गया। मालूम होता कि मैं यहीं हूं, तो शायद तुम अभी न आए होते।

मैंने बिल्कुल नकारात्मक रुख अपनाया। कहा, "नहीं, ऐसी बात तो कतई नहीं, बल्कि खुशी हुई कि जीजी से मिलने का अवसर हाथ लग गया। पता नहीं, हम कितने दिनों बाद मिले हैं।

"मेरी याद आती थी?"

"यह भी कहना पड़ेगा जीजी?"

"पटना तो एक बार भी नहीं आए। क्या तुम्हारे हृदय के संविधान में अभावग्रस्त बहन के घर जाने का निषेध है?"

जीजी ने जैसे मेरी छाती के नीचे हाथ लगा कर मुझे चित कर डालने का प्रयास किया। वे आगे बोलीं, "शास्त्री जी तुम्हें बार-बार याद करते हैं। एक बार चर्चा चली तो बोले—हितेन्द्र अब ब्याह···

उत्तम! मगर सुनो···।"—जीजी ने आगे कहा, "कल

तोड़े थे। ले आती हूं। दोनों जने मिल कर खाएं। बना-बनाया रखा हुआ है। फिर नाश्ता लेंगे और नाश्ते के साथ चाय। क्यों, रहेगा न! भीतर से भर मत उठो। मैंने जो कुछ कहा है, बिल्कुल सक भाव से, बड़ी बहन के अधिकार से। तुम्हारे मन को छूना कभी अभिप्रेत नहीं रहा।"

फालसे के पौधे और फालसे!

बाहर फालसे के पौधे अभी भी खड़े होंगे। यहां आते समय मैंने ही उनकी ओर नहीं देखा। दो-तीन दिशाओं में उनकी पतली-पतली टहनियां झुकी होंगी। हल्की-हल्की हवा के साथ वे भी डोल रही होंगी। मुझे स्मरण हो आया—हम इन फालसों से सट कर खड़े होते थे। यह स्थान एकदम आंखों से आकर चिपक गया। अक्सर मैं यहां जीजी से अपने दुःख-सुख-वृत्त सुनाता था। सोचा—बाहर निकलते समय वहां जाकर थोड़ी देर खड़ा होऊंगा। हवाएं चलती रहेंगी, डालियां डोलती रहेंगी और मैं? मैं हाथ बढ़ाकर उनकी कोमल-कोमल नवप्रस्फुटित फुनगियों को स्पर्श करूंगा। सामने फैला हुआ तालाब। तालाब के जल पर तैरती हुई बत्तखों की कई जोड़ियां। कोई इधर भागती होगी, कोई उधर।

मुझे यह भी स्मरण आया, फालसे की इन नवप्रस्फुटित कोमल-कोमल फुनगियों की भांति कभी जीजी की पतली-पतली, प्यारी-प्यारी उंगलिय मुलायम, चिकनी और मनोरमा थीं। आखिर यह क्यों स्मरण आया जीजी जब मेरे आगे चीनी मिट्टी की प्लेट में फालसे रखने लगीं, तो मैंने उन उंगलियां देखीं। वे कई जगह से मोटे मांस के रूप में ऊपर की ओर उ आई थीं। लगा, यह सब चौका-बर्तन करने के कारण हुआ है। ब से पहले वाली कोमल उंगलियां अब बेहद रूढ़ हो आई थीं। जीजी ने कुछ सहा था, सब कुछ स्वीकार किया था। जन्मकुण्डली ही निर्णायक निर्णायक तत्त्व रही, जीवन के इतने विस्तृत भविष्य के लिए।

मुझे मेनका याद आ गई। इस बार जब मैंने उससे कहा कि च दिनों के लिए अपने घर हरदोई जा रहा हूं, तो उसने आंखें झुका था, "अब ऐसी स्थिति आ गई है कि हम में से कोई भी एक-दूस टाल सकता। टालने का अर्थ होगा कि हम एक-दूसरे के प्रति

निकले।"

"स्थिति में भला क्या अन्तर आ गया है ?"

मेरे इस प्रश्न के उत्तर में मेनका ने अपनी दृष्टि निमेष मात्र को ऊपर उठायी और कहा, "मैं अपनी एक सहेली लेडी डाक्टर से मिलकर आ रही हूं। उसने मेरे सन्देह की पुष्टि कर दी।"

सुनकर मेरे रोंगटे खड़े हो गए। क्या कहेगा समाज ?

मैं वैश्य और मेनका कायस्थ।

मेनका निगम !

मैं यह भूल गया कि इस स्थिति की जानकारी से पूर्व मैंने कई बार मेनका से कहा, "हम चोरी-चुपके मिलते हैं। न मुझे सन्तोष होता है, न तुम्हें। हम खुलेआम एक हो जाएं यही अच्छा रहेगा।" और अब मेरा हृदय लोकनिन्दा के भय से धड़कने लगा था। एक बार जी में आया, मेनका से कह दूं, "इसमें मेरा क्या दोष ? तुमने अपनी इच्छा के विरुद्ध तो अपनी देह मेरे आगे नहीं ही समर्पित की।" किन्तु, साहस नहीं हुआ। मैंने दूसरी बात कही, 'अच्छा घर से लौटकर आने दो, तो कोई निर्णय लूंगा।"

मेनका कुछ दृढ़ता से बोली 'इसमें निर्णय क्या लेना है ? एक निर्णय के अलावा कोई अन्य निर्णय हो ही नहीं सकता।"

उसके इस बार के स्वर में समर्पण की दृढ़ता नहीं, अधिकार की दृढ़ता थी और उसके भीतर से कठोरता झांक रही थी। मुझे लगा, आगे वह कहीं ये शब्द न कह डाले—'तुमने भागने की कोशिश की, तो मैं तुम्हारी ऐसी-की-तैसी कर डालूंगी। आखिर तुमने मुझे समझा क्या था ? अदालत का कानून किसी के व्यक्तिगत निर्णय का खिलवाड़ नहीं होता और तुम्हें मालूम है कि मैं एक वकील की बेटी हूं।' और, मैं यह सब सुनने को तैयार नहीं था। यह बात भी मन में घर कर

अच्छी और बुरी सेहत वाले, दोनों एक दिन माटी में मिल जाते हैं।"

"नहीं, ऐसी तो तुम्हारी उम्र नहीं हुई जीजी !"

जीजी दार्शनिक मुद्रा में बोलीं, "उम्र की सीमा से मृत्यु की पदचाप को भला कौन दबा सका है ? सच कहती हूं हितू, मेरे लिए तो तुम बच्चे हो ही, वैसे भी वास्तव में तुम बच्चे ही हो। इतनी छोटी-सी बात नहीं समझ सकते।" और बड़ी संक्षिप्त खिलखिलाहट के साथ हंस पड़ीं।

मैंने शास्त्री जी में रुचि प्रदर्शित करने के इरादे से पूछा, "और शास्त्री जी का स्वास्थ्य इन दिनों कैसा है ?"

जीजी मुंह में फालसा लिए थीं। उनकी आंखें ऊपर की ओर कुछ फैलकर वक्र होती नजर आईं। उनके मुखप्रान्त पर कुछ पीड़ा और कुछ कठिनता उभर आई। सम्भवतः उन्होंने मस्तक की ओर देखते हुए कहा, "शास्त्री जी या जीजा जी ?"

मैं तो जैसे बुरी तरह घिर गया। संभल कर अपनी स्थिति मजबूत करना ही चाह रहा था कि वे बोलीं, "खैर, परेशान होने की जरूरत नहीं। यह कहावत तो प्रसिद्ध है ही—मानो तो देव, नहीं तो पत्थर। जैसे मैं तुम्हारी मुंह बोली बहन, वैसे वे भी तुम्हारे मुंह बोले बहनोई। उनसे तो तुम्हें बातें करने का भी अवसर नहीं मिला, इसलिए इस पलड़े पर भी वे हल्के ही पड़ते हैं। खैर···उनका स्वास्थ्य भी ढीला-ढाला ही चलता है। उन्होंने आंखों से बहुत ज्यादा काम लिया है, इसलिए अब दृष्टि में भी कमजोरी आ गई है। थक जाते हैं। चश्मा बदलवाना होगा। इस बार जाऊंगी, तो चश्मा बदलवाऊंगी। खुद तो वे यह सब करने से रहे।"

मैंने सुझाव देते हुए कहा, "नहीं नहीं, ऐसे काम नहीं चलेगा। तुम्हारा विचार ठीक है। चश्मा बदलवाएं तो आंखों की जांच करा लें। डाक्टर बतलाते हैं कि कभी-कभी विटामिन 'ए' की कमी से भी आंखों के कई रोग होने लगते हैं। तुम भोजन में ही उन्हें कुछ ऐसी चीजें दिया करो, ताकि विटामिन 'ए' की पूर्ति होती रहे।"

मैं कुछ सफल मनोरथ हुआ। जीजी के मन में उठी हुई वह पीड़ा की अग्निशिखा सम्भवतः बुझ गई, जो इस कारण प्रज्वलित हो उठी थी कि मैंने शास्त्री को 'जीजा' शब्द से क्यों नहीं स्मरण किया था। बोलीं,

"अच्छा, तो यह बात है ? मुझे किसी ने यह सब नहीं बतलाया।"

सुहास ने मुझे जो कुछ बतलाया था, उससे स्पष्ट हो गया था जीजी का दो आदमियों का परिवार तो है, किन्तु अभावग्रस्त है। भला अपनी इस जानकारी को क्यों प्रकट करता, मगर वही सब स्मरण करते हुए मैंने कहा, "और यह विटामिन बहुत महंगा भी नहीं कि मेरे और तुम्हारे जैसा साधारण आदमी उसका सेवन नहीं सकता।"

"क्या बहुत सस्ता मिलता है ?"

"हां, आठ पैसे की दो टिकिया।"

"अरे वाह ! मगर हितू, तुमने मेरे साथ अपने को भी क्यों साधार आदमी मान लिया ? और भगवान् न करे कि तुम्हारी आंखों की ज्यो में कोई कमी आए।"

"मैं साधारण नहीं तो और क्या हूं जीजी !"

जीजी ने बाएं हाथ के अंगूठे की बगल वाली उंगली उठा कर क "नहीं, यह सब न बोला करो। तुम तो खैर दूसरी तरह से बोल गए एकदम बेसाख्ता बोलते हैं। कहते हैं, अपनी वास्तविक स्थिति किसी प संकट में पड़ने के सिवा कभी नहीं छिपानी चाहिए। मुझे अच्छा न लगता, तो इन पर नाराज हो उठती हूं।"—जीजी बोलती गई, " बतलाओ हितू, अपने को धनहीन घोषित कर देने से क्या कोई हमें धनव बना देगा ? और खास कर मैं इनसे सुना करती हूं कि हमारी अपेक्षा धन के पीछे दौड़ते हैं, ज्यादा परेशान रहते हैं। दो रोटियों का छलछद् हीन भोग ही हमें गहरी नींद प्रदान करता है। इनका यह विचार वास में मुझे बहुत अच्छा लगता है। इनके पास कभी बैठो, तो पता चले कि कत्थई रंग के कुरते वाले आदमी के पास कितने ऊंचे विचार हैं।"

"वे तो होंगे ही। विद्वान सादगी-पसन्द होते हैं।" कहते हुए मैं फि मूर्खता कर गया, "जीजी, एक बात पूछूं ?"

"क्यों, एक ही क्यों, हजार बातें पूछो।" कह कर जीजी उठी। दोनों फालसे खा चुके थे। मैंने धन्यवाद देने के इरादे से कहा, फालसों के साथ मेरा बचपन जुड़ा है।"

जी जाती हुई बोलीं, "हां हितू, ठीक कहते हो। फालसे के पास का ड़ा-सा स्थान साफ-सुथरा है, वह हम दोनों की बातचीत का अड्डा या न ?"

"हां, वही तो मैं कहना चाहता था।"

मैंने वचने का मौका देखा—जो प्रश्न करना चाहता था, वह नहीं हुंगा। जीजी नाश्ता लाने चली गई। मैं उनसे कुछ पूछना चाहता था, ह शायद गई। मगर। जरा कल्पना तो कीजिए कि तब कैसा लगता है, व एक ही स्थिति में मनुष्य एक ओर से संभलता और दूसरी ओर से फिसलता है। नाश्ते में जीजी ने कई चीजें खिलायीं, फिर चाय पिलायी। इसके बाद बोलीं, "चलो, थोड़ी देर तुम्हारे साथ फालसे के पास खड़ी हो लूं।"

आंगन से बाहर निकलते हुए मैंने जीजी से पूछा, "चाची अब तक नहीं आई ?"

"आती होंगी।" जीजी ने बड़ी सरलता के साथ कहा और जम्हाई ली।

जब हम फालसे के पौधों के पास आ गए, तो जीजी ने स्मरण दिलाया, "हां हितेन्द्र, तुम क्या पूछने वाले थे ?"

और मेरे मुंह से निकल गया, "जीजा जी कहीं नौकरी क्यों नहीं कर लेते ? क्या तुम भी उन्हें प्रेरित नहीं करतीं ?"

"हां हितू, शुरू-शुरू में जब मैं ब्याह कर आई थी, तब ये नौकरी थे। एक प्रकाशक के यहां ग्रन्थ-सम्पादन का कार्य करते थे। चार रुपए माहवार मिलते थे। उसके चार-छह महीने बाद ही इनके स्वाभि को कुछ चोट पहुंची और इन्होंने फौरन नौकरी छोड़ दी।"

"नहीं छोड़नी चाहिए थी।"

जीजी को शायद अन्यथा लगा। बोलीं, "जाने दो। हम कितने ? घर पर ही काम आ जाते हैं। मुझे भी अच्छा लगता है भर मेरे पास रहते तो हैं! वैसे पैसों के लिए हाय-हाय की बिताना मुझे भी पसन्द नहीं।" फिर वे बायीं ओर मुड़ीं।

"मैंने ऐसे ही कह दिया है जीजी !"

"आओ, चलें कुएं के पास।" कह कर जीजी पश्चिम की ओर बढ़ने लगी। मैं साथ-साथ चला, तो ठिठक गईं और गर्दन घुमाकर बोलीं, "कोई बात नहीं हितू, ऐसे कहो या वैसे कहो, यह मुझे भी मालूम है कि पैसों की दुनिया में तुम्हारे जीजा जी बहुत हल्के पड़ते हैं। लेकिन जैसी भी स्थिति है, भुगतनी मुझे है और उन्हें। सच पूछो, तो हम इसी में मगन हैं।" फिर आगे बढ़ने लगीं।

मैं उनसे मात्र एक कदम पीछे था।

'हम इसी में मगन हैं।' क्या मतलब? भला अभावों के दंश का कहीं इस प्रकार स्वागत किया जाता है? मैं विरोध करने के लिए तैयार होने लगा, मगर चुप्पी साध गया। हम दोनों कुएं के पास पहुंच कर रुके। जीजी अपनी पुरानी सरलता के साथ बोलीं, "देखो, उधर दीवार के पास रसभरी के पांच-सात पौधे हैं। खूब फल लगे हैं। आओ, तुम्हें रसभरी खिलाऊं।"

"खिलाओ।"

"हम पहले भी खाते थे, याद है?"

"खूब याद है।"

हम घासों पर पांव रखते हुए बढ़ते जा रहे थे। जीजी ने कहा, "तुम तो एक बार भी पटना नहीं आए। बिहार वाले रसभरी को 'मकको' कहा करते हैं।"

"अच्छा?"

"हां, मकको कहते हैं। मुझे तो रसभरी बहुत अच्छी लगती है न! ये जब बाजार जाते हैं, तो मेरे लिए ले आते हैं।" कह कर जीजी रसभरी के पौधों पर झुकीं। मैं भी झुकने लगा, तो बोलीं, "ना ना, तुम मत झुको। तुम्हारे पैण्ट की क्रीज खराब हो जाएगी।"

"ओह...!"

"हां, मैं देती हूं।"

मैंने देखा, जीजी रसभरियां तोड़तीं और जो रसभरी अच्छी-खासी पकी और देखने में भी अच्छी लगती, वही रसभरी मेरी हथेली पर रख देतीं और जिस रसभरी का रूप-रंग घटिया किस्म का नजर

ला लेती थीं।

हम थोड़ी देर इसी प्रकार चक्कर लगाते रहे। लौटती बार, पता ं, क्या सोचकर जीजी ने मेरे दाएं कन्धे को एक बार छूकर कहा, ानते हो हितू, तुम्हारे जीजा जी आम लोगों में से नहीं हैं। हालांकि स बात को मैं भी स्वीकार करती हूं कि भौतिक सुखों की दृष्टि से आम लोग हमसे ज्यादा सुखी हैं। किन्तु, हमारा भी अपना एक सुख है और उस सुख को आम आदमी नहीं भोग सकता। जो हमारा सुख है, उसे वह सुख मानने के लिए कदापि तैयार नहीं होगा। क्यों, मानते हो न?"

मैंने जीजी का दिल रखने के लिए कहा, "हां जीजी, बात तो सही है। काव्य और शास्त्र के मन्थन का सुख कुछ और ही होता है।"

मैं पुनः इस स्वीकारोक्ति की पुनरुक्ति करूंगा कि वास्तव में मैं साहित्यिक नहीं था। मैंने साहित्यिक नजर आने का मात्र मुखौटा लगा रखा था और मेरी ही तरह आज भी रेडियो स्टेशनों के विभिन्न केन्द्रों में मेरी तरह के लोग ऊंची-ऊंची कुर्सियों से चिपके हुए हैं। जीजा जी की प्रेरणा से ही सही, मैंने साहित्य की लहरों को उंगलियों से सिर्फ स्पर्श भर किया था। वस्तुतः मैं साहित्य के सागर में न कभी घुसा, न ज्वार के साथ तट की ओर आया और न भाटे के साथ पुनः सागर की मध्य धारा में वापस गया। मेरे साहित्यिक होने का मुखौटा कभी-कभी मेरी बहुत रक्षा करत था। जीजी बोलीं, "लोग कहते हैं, इस सुख से वास्तविक जगत अपेक्षाएं नहीं सधतीं। अरे भाई, इस वास्तविक जगत के सुख को लोग तो साध ही रहे हैं, हम भी उसी सुख को साधने में लग जा उन-जैसे ही न बन जाएं? नैतिक-अनैतिक में कुछ भेद न समझें। व कहीं से आना चाहिए, यही नशा बना रहे।"

"हां, यह तो है।" मैंने कहा और फिर जैसे अच्छी-खासी भा बस किसी खड्ड में उलट गई। मैंने पूछ दिया, "जीजी, इन दि क्या भाव है?"

"पता नहीं। जो खरीदे, वही जाने। अपना दाएं पांव क पिस गया था। वह तो चांदी का है। पिताजी ने कहा है—तुम करो। फैजाबाद से बहू को देखकर आता हूं, तो नया बिछवा

बस, और मुझे कुछ चाहिए भी नहीं।"

'बस और मुझे कुछ चाहिए भी नहीं।' मैंने जीजी के इस वाक्य को बड़े जोरों से पकड़ लिया और अपने ढंग से इसका अर्थ लगाया कि जीजी को आभूषण-मोह नहीं है, अब इनसे इनके बुन्दे के बारे में कुछ कहना अथवा यह जतलाना कि मैं बुन्दे या उसके बदले रुपए देकर ऋणमुक्त हो जाना चाहता हूं, एक वाहियात के सिवा और कुछ नहीं होगा। मगर जीजी ने आगे बड़े उत्साह से पूछा, "क्यों, तुम्हारा विवाह कहीं तय हो गया क्या? इन दिनों जेवरों की डिजाइनें बदल गई हैं। क्या तुम खुद अपनी होने वाली पत्नी के लिए जेवर खरीदना चाहते हो?"

"ना जीजी, ऐसी बात नहीं है।"

"तो फिर यह सोचना-पूछना क्यों? देखो, जमाना बदल गया है। जेवरों की खरीद में घुमा-फिरा कर कन्या की पसन्द जानना जरूरी है। अब कमरबन्द और बाजूबन्द का फ़ैशन चला गया।"—कहते हुए जीजी ने पूछा, "जानते हो, संस्कृत में कमरबन्द को क्या कहते हैं?"

"मुझे नहीं मालूम जीजी!"

"कटिमेखला कहते हैं।"

"कटिमेखला?"

"हां, मैं यह सब पहले थोड़े ही जानती थी! यह सब तुम्हारे जीजा जी की कृपा है। कभी-कभी जब मैं उनके पास जा बैठती हूं, तो वह सब बतलाने लगते हैं।"

"आजकल किस काम में लगे हुए हैं जीजा जी?" मैंने यस योंही पूछ दिया।

"आजकल वे संस्कृत-इंगलिश शब्दकोश बनाने के पीछे दीवाने हैं।"

सुनकर मुझमें बेहद हीनता भर आई।

जीजी ने प्रसंग बदल दिया। कहा, "हितू, अब ब्याह कर लो। मुझसे तुम्हारी बहू मिलेगी, तो मैं उसे समझा दूंगी कि वह तुम्हारा विशेष ध्यान रखे। शुरू-शुरू में ही बतला देना अच्छा रहेगा कि तुम कितने कोमल और भावुक हो। और सुनो, तुम्हारा भी यह कर्तव्य होगा कि उसकी भावनाओं की कद्र करो।"

"हां…।"

मेरा मन इस बात के लिए तैयार होने लगा कि अब जीजी के सामने हृदय खोलकर अपने और मेनका के सम्बन्धों की बात बतला दूं। सिर्फ यह बात छिपा लूं कि उसके गर्भ में मेरा प्रतिरूप आ गया है। इतना साहस कहां कि वह बात खोल दूं! तभी जीजी बोलीं, "चलो, अब हम घर में चलें। बड़ी कमजोरी महसूस होने लगी है। तुम्हारे साथ उत्साह में इतनी देर चलती और खड़ी रही।"

मैं उनके साथ घर में आया और वहीं चलकर बैठ रहा, जहां पहले बैठकर बाहर निकला था। जीजी पास वाली कुर्सी पर आ बैठीं और बोलीं, "खाना तो मैं बनाकर रख दूं, मगर अम्मा मना कर गई हैं।"

"जीजी, तुम आराम ही करो, तो अच्छा।"—इतना कहकर मैं उनकी ओर देखने लगा। मैं मेनका वाली बात शुरू करना चाहता था। अब रहा नहीं जा रहा था। वे पूछ बैठीं, "क्या कोई खास बात कहना चाहते हो हितू? कहो, यहां और कोई तो है नहीं।"

और तब मैंने संक्षेप में मेनका के साथ अपने सम्बन्धों को बतला दिया। अन्त में कहा, "मगर जीजी, वह कायस्थ है, निगम कायस्थ।"

जन्मकुण्डली के साथ अपने को तन-मन से नत्थी कर चुकी जीजी मेरे लिए एकदम से प्रगतिशील हो उठीं। बोलीं, "इसमें अगर-मगर लगाने की क्या ज़रूरत? अगर इस बिन्दु पर तुम्हारे और उसके मन में कोई गांठ नहीं है और आगे न बने, तो मैं नहीं समझती कि इसमें कोई बुराई है। यदि कोई परिवर्तन कल्याण के लिए होता है, तो हमें उस परिवर्तन का स्वागत करना चाहिए।"

जीजी ने मेरा भरपूर समर्थन किया, मगर एक बार भी नहीं कहा कि अपने ब्याह में मुझे बुलाना न भूलना। इतना प्यार, इतना प्रेम और वैसे ही इतनी तटस्थता। शायद मैंने ही तो कहीं उन्हें अपने प्रति तटस्थ नहीं बना दिया? जीजी का भावना-जगत कितना सरल और कितना जटिल रहा? प्रेम-प्यार से किसी के मुखड़े को धो डालना और तटस्थता के सूत्र को नहीं छोड़ना क्या आसान काम है?

सम्भवतः हम अभी कुछ और बातें करते, विशेष कर व्यक्तिगत,

किन्तु, यह सम्भव नहीं हो सका; क्योंकि तभी वेदई की दुलहिन के साथ चाची चली आई। वेदई की दुलहिन के सिर पर एक बड़ी और एक छोटी गठरी थी। चाची के हाथ में सब्जियों से भरा एक झोला। मूली के पत्ते झोले के ऊपर आकर झांक रहे थे।

चाची मुझे देखकर प्रसन्न नजर आईं। बोलीं, "अरे हितू, तू कब आया.? खूब मिलन हो रहा है भाई-बहन का! सुनन्दा, कैसे पकड़ा गया यह? यह तो तुम्हें भूल ही चुका था।"

जीजी ने मेरे सिर पर जैसे बचाव की छतरी तान दी। कहा, "खुद आया है। भूल कैसे जाएगा अपने रिंग मास्टर को?"

वेदई की दुलहिन ने भी मेरी ओर देखा। इसके बाद मैं दस-पन्द्रह मिनट और ठहरा और फिर आने का वादा कर लौट आया।

२१

अब मैं एक पुत्र का पिता बन चुका था। मैंने मेनका से अदालती विवाह किया था। धर्मपाल हमारे ही साथ था। मेरा छोटा-सा परिवार, सब कुछ ठीक-ठाक लगता था। पर, मेनका हरदोई जाने से बार-बार कतराती थी। मैं तो जाया करता। मेनका को मैं छोड़ जाता। वह या तो धर्मपाल पर क्वार्टर छोड़कर बच्चे के साथ मायके चली जाती या रह जाती थी।

मेनका के एक व्यवहार से मैं अक्सर तंग आ जाया करता। उसके मायके वाले आखिर इसी शहर में रहते थे। उसके मायके का कोई-न-कोई मेरे दरवाजे पर खड़ा ही रहता। सप्ताह में एक बार उसके वकील पिता जरूर पधारते। इस रोज-रोज के आने-जाने से मुझे पता चल गया था कि वकील साहब काला कोट पहनकर सिविल कोर्ट रोज जाते तो हैं, मगर उनके काले कोट की जेब बराबर हल्की ही बनी रहती है। बातों को अपने

ढंग से कहने में वे माहिर थे। पता नहीं, उनका कानूनी ज्ञान कितना गहरा था, मगर दूसरे की जेब से पैसे निकलवा लेने का उनके पास सुदीर्घ अनुभव था। वे अपनी अमीरी पर कोई आंच आए बिना मुझसे कुछ-न-कुछ ले ही लेते थे। इतनी बात अवश्य है कि यह देने की क्रिया मेरे हाथों नहीं, मेनका के हाथों सम्पन्न होती थी। मैं भी नई-नई उमंग में था और इंकार नहीं कर पाता था। पर, ज्यों-ज्यों इस अनुभव से मन पकने लगा, त्यों-त्यों मेरी इस उमंग में कमी आने लगी। इस बीच बीसियों बार मुझे हरदोई जाने पर पिताजी से रुपए मांगने पड़े थे। उन्होंने यह बात छोटी मां से भी अवश्य बतलायी होगी। उन्हें आंख लगी।

पिताजी इधर कुछ ज्यादा परेशान नजर आते थे। सेल्स टैक्स और इनकम टैक्स के तीन-तीन मुकदमे चल रहे थे। जिस मकान में अपनी दुकान थी, उसके मालिक ने मकान खाली करवाने का मुकदमा कर दिया था। इस बार हरदोई आया, तो पता चला कि दुकान में चोरी के कुछ बेशकीमती कपड़े पकड़े गए। पिताजी तीन रोज हवालात में रहकर लौटे थे। बड़ी मुश्किल से जमानत हुई थी।

रात-भर तो मैं करवटें बदलता रहा। पिताजी से कुछ लेने के इरादे से आया था। सुबह जब वे दुकान चले गए, तो छोटी मां कुछ भरी-भरी नजर आईं। वे बार-बार मेरी शक्ल देखतीं और चुप रह जाती थीं। मुझे लग रहा था कि वे मुझसे कुछ कहना चाहती हैं, मगर कह नहीं पा रही हैं। मैंने ही इस ओर पहल किया। कचौड़ियां तो उन्होंने खुद बनायी थीं, बाजार से जलेबियां लाने छोटा भाई गया हुआ था। मैं बरामदे में कुर्सी पर जमा हुआ था। मेरे आगे छोटी-सी एक गोल मेज थी। आंगन में महरिन पिताजी के नाश्ता किए हुए बर्तन धो रही थी। उसने एकाएक मेरी ओर घूम कर पूछा, "क्यों हितू भैया, दुलहिन को क्यों नहीं लाते ?"

मैंने बुझे हुए स्वर में कहा, "आएंगी, आएंगी बुआ !"

"इस बार आना तो लेते आना।"

"कोशिश करूंगा।"

महरिन बोली, "इसमें भला क्या कोशिश करनी है ? आदमी नौकरी-चाकरी चाहे जहां करे, आखिर में अपना पुश्तैनी घर ही काम आता है।

क्यों, मैंने गलत कहा ?"

"नहीं बुआ, बात एकदम सही है।"

बुजुर्ग महरिन ने बात जरा आगे बढ़ाते हुए कहा, "दुलहिन को समझा देना, मन में कोई बात न लावें। जात-परजात की कोई बात नहीं। यहां तो दूसरी जाति में खूब शादियां हो रही हैं।"

मुझे यह चर्चा अन्यथा लगी। मैंने बात समाप्त करने की दृष्टि से कहा, "नहीं, उनके मन में ऐसी कोई बात नहीं है। ठहरी तो आखिर लखनऊ की ही न ! यहां मन जरा कम लगता है।"

महरिन ने अन्तिम प्लेट धो डाली थी। उसने सब कुछ उठाकर रसोईघर के दरवाजे पर रख दिए। इतने में भाई जलेबी लेकर लौटा। महरिन ने उसे टोका, "अच्छा, जलेबियां ले आए ?"

छोटी मां ने महरिन के हाथ पर दो जलेबियां रख दीं। उसे शायद जल्दी थी। वह जलेबिया लिए-दिए बाहर निकल गई। छोटी मां ने मेरे आगे उस छोटी-सी गोल मेज पर कचौड़ी-जलेबियां लाकर रखीं। साथ में आम का अचार था। लौटने लगी, तो मैंने टोका, "छोटी मां, कोई खास बात है क्या ? मुझसे कहने लायक हो, तो कहो।"

वह ठिठक गईं, जैसे अवसर हाथ लग गया। बोलीं, "कहने लायक क्यों नहीं है भइया ! तुम तो खुद समझदार हो।"

"मतलब ?"

छोटी मां ने पिताजी के लिए 'वे' का प्रयोग करते हुए कहा, "दुकान जाने लगे, तो कह गए, हितू से समझा कर कह देना—इस समय हाथ एकदम खाली है। बगल में कपड़े की ही एक बहुत बड़ी दुकान खुल गई है। उसके कारण अपने यहां की बिक्री एकदम ठप्प पड़ी है। लिहाजा कुछ दे नहीं पाऊंगा।"

मैंने स्वाभिमान को बचाने के ख़याल से ज्यादा सफ़ाई देते हुए कहा, "ना, ना छोटी मां ! मैं तो बस ऐसे ही मिलने आ गया हूं। मैं पिताजी की परेशानियों से क्या वाकिफ़ नहीं हूं ? पिताजी से तुम कह देना, चिन्ता न करें।" मगर, वास्तव में मेरा मन उखड़ गया। चार बजते-बजते मैं लखनऊ वापस होने को तैयार हो गया। छोटी मां ने एकदम औपचारिकता

वाले शब्दों में मुझे रोकने की कोशिश की, मगर मैंने भी उनके आग्रह को टाल दिया। रात में लगभग आठ बजे लखनऊ अपने क्वार्टर में पहुंचा, तो देखा, मेनका अपनी बहन से बातें कर रही है। रेडियो से फिल्म-संगीत हौले-हौले गूंज रहा था।

२२

आकाशवाणी, इन्दौर का कार्यभार संभाल कर मैं बहुत प्रसन्न था। इसके दो कारण थे। पहला तो यह कि मेनका के परिवार से गला छूटा और दूसरा यह कि मेरे तबादले के साथ मुझे प्रोन्नति मिल गई। मैं स्टेशन डायरेक्टर हो गया। अब इन्दौर से हरदोई आना-जाना एक तरह से बन्द ही हो गया। हां, पिताजी को मैं पत्र अवश्य लिखा करता था।

मैं अपने-आप में जैसे केन्द्रित होने लगा। इसका भी एक कारण था, जो मुझे लगातार कचोटता रहता था। मैंने इस कारण का हवाला भूल कर भी मेनका को नहीं दिया, उल्टे एक और सन्तान का पिता बन बैठा। यह दूसरी वाली सन्तान लड़की थी। मेनका ने इसका नामकरण किया—मोना। यह नाम मुझे पसन्द नहीं था, किन्तु मेनका के सामने मेरी एक न चली। पुत्र का नाम उसने मेरी इच्छा से रखने दिया था। उसका नाम था—पराग। यह लड़का कुछ गम्भीर प्रकृति का था और मेनका की अपेक्षा मुझसे ज्यादा चिपटता था। मोना को मेनका एक तरह से अपनी ओर किए रहती थी। रेडियो स्टेशन के अहाते से लगभग सटे-सटे ही मुझे अच्छा-खासा सरकारी क्वार्टर मिल गया था। पराग मेरे लिए कभी-कभी इतना उतावला हो उठता कि घर से मेरे कार्यालय में मुझे फोन कर कहता, "पापा, मैं आ रहा हूं। मेरा जी नहीं लग रहा है।"

मैं बेमन से कहता, "आओ भाई, आओ।" और रिसीवर को क्रेडिल पर रख देता। वह चला आता और मेरी बगल में एक छोटी-सी जो मेज

पटी रहती, उसी पर बैठ रहता। बैठ रहता और चुप रहता, तो भी एक बात थी। तरह-तरह के प्रश्नों से मेरा ध्यान बंटाने लगता। प्रश्नों के साथ कुछ छोटी-मोटी सूचनाएं भी दिया करता—

—आज मम्मी ने धर्मपाल को डांट पिलायी है।

—मेरे कान उमेठे हैं।

—मेरी टाई खो गई है।

मैं विषयान्तर की ओर मुड़ता चला जा रहा हूं और वह कारण नहीं बतला रहा हूं, जो मुझे लगातार कचोटता रहता था।

अब तो होली के दिन आने वाले थे। मगर सरदी का मौसम शुरू होते-होते एक दिन मुझे जो दो डाकें मिली थीं, उनमें से दोनों की अलग-अलग अहमियत थी, अलग-अलग तासीर थी।

एक रजिस्टर्ड पार्सल : पटना से।

एक रजिस्टर्ड लिफाफा : लखनऊ से।

सुनन्दा जीजी ने पार्सल-पैकेट में मेरे लिए एक स्वेटर बुनकर भेजा था, पूरी बाह का। उसके भीतर एक छोटा-सा पत्र भी था, जिसमें लिखा था—

प्रिय हिट्टू,

शुभ आशीर्वाद ! यहां एक अच्छा मार्केट है, जिसे पटना मार्केट कहते हैं। कुछ दिन पहले इनके साथ वहां गई थी, तो ऊन की दुकानें देखकर तुम बहुत जोर से याद आए। मैंने तुम्हारे स्वेटर के लिए ऊन खरीद लिया। बुन चुका, तो तुम्हें भेज रही हूं। हालांकि ऊन कोई खास नहीं, आर्डिनरी है, मगर इसे पहनना जरूर। बड़े प्रेम से बुना है। तुम तो अब काफी दूर चले गए हो। लेकिन, पत्र डालते रहो। पत्र में आधी भेंट तो हो ही जाती है। 'ये' ठीक हैं और तुम्हें आशीष कह रहे हैं। मेनका और बच्चों को बहुत-बहुत प्यार !

तुम्हारी जीजी

सुनन्दा

अपने चपरासी से रजिस्टर्ड पार्सल का पैकेट तो क्वार्टर में दे आने के लिए कहा और रजिस्टर्ड लिफाफा रख लिया था। इसमें पत्र भेजने वाले

का जो नाम था, उसे मैं नहीं जानता था और न मेनका ने मुझसे कभी इस नाम के व्यक्ति की चर्चा की थी। पता नहीं क्यों, मुझे दाल में कुछ काला नजर आया। लंच का समय हो चुका था और रोज की तरह मुझे उठकर अपने क्वार्टर के लिए चल देना चाहिए था। मगर, मैं अपने चेम्बर में ही बना रहा। पी० ए० को बुलाकर कहा, "आप लंच में जा रहे हों, तो जाएं। मगर लंच का वक्त पूरा होते ही जरा मेरे पास आकर पूछ लेंगे कि कोई काम है या नहीं।"

"जी, अच्छा !" कहकर वह वापस चला गया।

जिस दरवाजे से लोग मेरे चेम्बर में आया करते थे, उठकर मैंने उस दरवाज़े को भीतर से बन्द कर लिया। मन में शंकाएं उठती थीं कि आखिर क्या बात है कि एक अपरिचित ने मेरे नाम यह रजिस्टर्ड पत्र भेजा है। इस नाम का कोई लेखक भी लखनऊ केन्द्र पर नहीं आया-जाया करता था कि उसी ने कोई व्यक्तिगत बात लिख भेजी हो। इस प्रकार अनेक प्रकार की मूल्य शंकाएं उभर और मिट रही थीं। शंका की कोई खास रूपरेखा नहीं बन पा रही थी। कोई शंका यथार्थ निकल आती है, कोई शंका मात्र शंका ही साबित होती है। पर, शंका है तो आखिर किस प्रकार की शंका ? इसी प्रश्न का उत्तर मेरे पास नहीं तैयार हो पा रहा था। मैं तनाव का अनुभव करने लगा था।

कभी अपने किसी फौजी मित्र से नोबेल पुरस्कार विजेता अर्नेस्ट हेमिंग्वे ने मजाक-मजाक में ही कहा था, "सुनो बेटे, किसी हसीन छोकरी को चूमने और शराब की नई बोतल को खोलने में देर नहीं करनी चाहिए। देर करने से सब कुछ बदमजा हो जाता है।" इतना महान् साहित्यकार इतनी हल्की बात कैसे बोल गया ? लेकिन, आखिर वह भी तो एक अदद इंसान था। क्या यह जरूरी है कि आप लोगों से बातें करते समय भी, जबकि मौसम गुलाबीपन से लबरेज हो, वह टकसाल में ढली भाषा से ही काम ले ? मैं भी इस समय हेमिंग्वे की उस सीख से सहमत हो उठा। झट लिफाफे को खोल डाला। पत्र टाइप किया हुआ था और ढाई-तीन पृष्ठों से कम का न था। नीचे हस्ताक्षर अस्पष्ट थे। पत्र लेखक ने जो कुछ लिखा था, उसका यही सारांश था कि मेनका के लिए मैं प्रत्यक्षतः दूसरा पुरु

था। मेरे सम्पर्क में आने से पहले वह एक ऐसे आदमी की प्रेमिका रह चुकी थी, जो धनाढ्य था और लखनऊ में ही अपना टाइप राईटिंग और शार्ट हैण्ड स्कूल चलाता था। वह मेनका को साथ लेकर सरेआम लखनऊ की सड़कों पर घूमता था। बाजारों में नजर आता था। यही नहीं, वह मेनका को लेकर सैर-सपाटे के लिए बड़े-बड़े शहरों में भी जाया करता था। अड़ोस-पड़ोस के सारे लोग इस बात का भरोसा करने लगे थे कि मेनका शीघ्र ही उसकी पत्नी बन जाएगी। वह ऐसा अपने मां-बाप की इच्छा के विरुद्ध छिपकर नहीं, बल्कि उनकी इच्छा से खुलेआम करती थी। पत्र-लेखक ने यह भी बतलाया था कि रमाशंकर निगम लखनऊ सिविल कोर्ट के उन वकीलों में हैं, जिनके पास मुवक्किल धोखे से चले आते हैं और जब चले आते हैं, तो फिर दूसरा धोखा खाते हैं। जीतने वाला मुकदमा भी हार जाते हैं। ये कुछ समर्थ लोगों के आगे अपनी लड़कियां सिर्फ दहेज से बचने के इरादे से ही नहीं, धन खींचने के इरादे से किया करते हैं। मेनका के साथ मेनका की बहनें स्वयं भी पहल करती हैं। जरा आप मेनका से पूछिएगा कि उसकी बड़ी बहन मायके क्यों नहीं आती और उसकी ससुराल का अता-पता क्या है? मेनका से यह भी पूछिए कि यहां हनुमान जी के मन्दिर के पीछे जो नवजात शिशु पाया गया था, उसकी मां कौन थी?

पत्र-लेखक के कुछ अन्तिम शब्द इस प्रकार थे—'मुझे मालूम है कि आप बहुत संघर्ष करके पढ़े-लिखे और आप एक निहायत भले आदमी हैं। मुझे आपके वर्तमान और भविष्य पर बहुत तरस आया और इसीलिए मैंने आपको आगाह किया है।'

शाम तक मैं अपने चैम्बर में बना रहा जरूर, मगर काम कुछ भी न कर सका। कई रजिस्टरों के खास कॉलमों में मात्र लघु हस्ताक्षर करने थे। मैंने इस काम को भी टाल दिया। सब दायीं-बायीं ओर पड़े रहे। यह पत्र मैंने अपने ड्राअर में डालकर छोटा वाला ताला लगा दिया। अब जो लौटने का समय आया, तो घर लौटा ही नहीं जाता था। अहाते से बाहर निकल आया और सोचने लगा कि घर न जाकर किस ओर निकल जाया जाए? लेकिन, दिल ने दूसरी ही सलाह दी। इस तरह भटकने से तो कुछ नहीं होने वाला है। पर, मैंने दिल से झगड़ा मोल लिया और बाजार की

ओर निकल पड़ा। एक रेस्तरां में घुस गया। कोने में जाकर चुपचाप बैठा रहा। बेयरे ने आकर आर्डर मांगा। मैंने फीकी ज़बान से कह दिया, "हॉफ-प्लेट काजू और कॉफी।"

लेकिन, कॉफी-काजू का दबाव क्या मन के भीतर उबल रहे बलबलों को दबा सकता था! मैं उठकर काउण्टर पर चला आया और वहां बैठे आदमी से कहा, "सॉरी! मैंने काजू और कॉफी का आर्डर दे दिया था। मगर, कुछ कारणवश ठहर नहीं सकता!"

वह काउण्टर क्लर्क मुझे बेहद भला जंचा। उसने मेरी ओर देखते हुए कहा, "थैंक यू! कम अगेन!!"

मैंने बाहर निकलते हुए सुना, वह किसी सहयोगी से कहने लगा था, "इन्हें पहचानते हो? ये यहां आल इण्डिया रेडियो में स्टेशन डायरेक्टर हैं।"

उसे क्या पता कि मेरी सारी स्टेशन डायरेक्टरी को मेनका ने अपने रूप-यौवन की खूंटी पर लटका कर बेपरवाह छोड़ दिया था।

एक स्कूटर वाले को इशारा किया और उस पर सवार होकर सीधे अपने क्वार्टर के मुख्य द्वार पर आ पहुंचा। प्रवेशद्वार बन्द था, पर खिड़कियों से रोशनी छन-छन कर बाहर आ रही थी। धर्मपाल अन्दर ही होगा।

मर्यादित भाषा विकृति को भी ध्वनि की चादर में लपेट कर व्यक्त करती है। न जाने पत्र-लेखक का मानसिक संसार कैसा था कि उसने आम भाषा में ऐसी बातें लिख भेजी थीं। मैं बार-बार उसके शब्दों को तौल रहा था। कभी तो मैं उस पर झल्ला पड़ता और कभी सोचने लगता—आखिर क्या करता पत्र-लेखक? ऐसी बातें लिखने के लिए क्या वह किसी अच्छे शब्दकोश से ललित शब्दों की तलाश करता? उसे तो बस तथ्य को यथावत् रख देना था।

स्कूटर वाला पैसे लेकर लौट गया। मेरे क्वार्टर के अहाते में कई प्रकार के फूलों के पौधे लगे हुए थे। उनमें से कइयों में कलियां चिटख रही थीं, कइयों में फूल खिल आए थे। दायीं ओर कोने में लगा केवड़ा भी अपने कुछ फूलों से मोहक-मादक-भीनी सुगन्ध हवा में बिखेर रहा था। मैं

गेट पर ही खड़ा रहा।

मेनका शायद पराग को किसी बात पर डांट रही थी। पराग की आवाज हवा के साथ तैरती हुई मुझ तक आ पहुंची। वह कह रहा था, "मम्मी, नहीं मम्मी, मैंने ऐसा नहीं किया…।"

मगर, क्या इतने से मामला समझ में आ सकता था? नहीं।

हर शाम, मेरे क्वार्टर लौटने से पहले मेनका अपना मेक-अप कर लिया करती थी। मैं लौटकर आता और उसे देखता, तो वह मुझे तरोताजा लगती थी। खड़े-खड़े मैंने कल्पना की कि मेनका ने आज भी मेक-अप किया होगा और बड़ी प्यारी लग रही होगी। फिर भी मैं बिल्कुल दिल के भीतर चीख उठा—मेनका, इतना झूठ बोलने की क्या आवश्यकता थी? तुम्हारे संस्कारों के बहुत सारे पृष्ठ मेरे सामने बिलकुल खुल आए हैं।

सरदी पड़ रही थी, पर इतनी नहीं कि खुले आकाश के नीचे थोड़ी देर ठहरा न जा सके। लेकिन भला कब तक ठहरा जाए? अगल-बगल कई ऊंचे अधिकारियों के निवास थे। उनमें से कोई बाहर आते-जाते पूछ सकता था—क्यों साहब, क्या बात है? एकदम खामोश खड़े हैं? क्या कोई आने वाला है?

रजिस्टर्ड पत्र ने मेरे मन को कोई थोड़ी-बहुत पीड़ा नहीं पहुंचायी थी। यों तो चरित्रहीन पुरुष भी शायद ही चाहता हो कि उसकी पत्नी का अतीत मेनका की भांति हो, मैं तो और भी नहीं चाह सकता था। नारी-देह की उपलब्धि के सन्दर्भ में मैं कोई कुरुचिपूर्ण अथवा बीभत्स मानसिक परिवेश से गुजरने वाला नहीं था। जिसे चाहा अथवा जिसके प्रति मन में एक आकर्षण-बिन्दु बन गया, उसने विवाह कर लिया। मैं अपने प्रथम और अन्तिम प्रेम-निवेदन के फलाफल को पूरी पवित्रता एवं पूरे दायित्व के साथ भोगना चाहता था। यदि पत्र में उल्लेख किए गए सन्दर्भ सच थे, तो मेरा क्लेश अथवा मेरी पीड़ा भी अन्याय-अधैर्य के मार्ग से नहीं आई।

मैं क्वार्टर में जाने को भीतर की ओर मुड़ा। मुझे तब बड़ा ही आश्चर्य हुआ कि मेनका के समक्ष आते-आते मैंने अपने को सामान्य बना लेने में समर्थ पाया। उसे आभास तक नहीं हो सका कि मेरी मानसिक

स्थिति कुछ कठिन-जटिल हो आई है। मेनका ने स्वेटर वाला पार्सल खोल रखा था। कहा, "मैंने स्वेटर देख लिया है, ऊन तो वेहद घटिया है। पता नहीं, धुलने पर इसका क्या हाल हो।"

और तभी अचानक मेरे मुंह से फूट पड़ा, "हां, स्वेटर का ऊन घटिया हो सकता है, स्वेटर भेजने वाली घटिया क़िस्म की औरत कदापि नहीं है।"

"ऐसा मैंने कब कहा ?"

"नहीं, कहा तो नहीं।"

"फिर ?"

"फिर कुछ नहीं। मैंने बस ऐसे ही कह दिया।" मैं बोला। आज मुझे कुछ ऐसा लग रहा था, जैसे मेरी छोटी-सी प्रतिभा के पौधे में नई-नई फुनगियां फूटने लगी हैं। सम्वाद-लेखन की कला में रेडियो नाटककार के मुकाबले, जहां तक मेरा अनुभव है, दूसरे प्रकार के नाटककार हमेशा कमजोर साबित होते अथवा हो सकते हैं। मेरे मन में आ रहा था कि मेनका से बिना प्रत्यक्ष हुए खूब सम्वाद-कथन करूं। मुझे ऐसा अनुभव हो रहा था कि मैं बड़ी आसानी से अपने छोटे-छोटे चुटीले सम्वादों से मेनका की हर स्थापना को निरस्त कर सकता हूं। तनाव ने मेरी प्रतिभा को प्रेरणाजल से सींचना शुरू कर दिया था। कलासृजन की प्रक्रिया में इस प्रकार के तनावों का भी स्यात् अनुपम योगदान होता है।

मैंने मुड़ कर विशेप दृष्टि से मेनका को देखा। लग रहा था कि भय की कोई सूक्ष्म वायु उसके अंग-प्रत्यंग को छूती चली जा रही है। कोई सर्प उसके पांवों में लिपट गया है और वह साहस करके उसके सिर को पकड़ लेने का प्रयास कर रही है।

नारी अपने हृदय के कोपागार की सुरक्षा के प्रति जितना सतर्क रहती है, उतना सतर्क भला वह और किसकी सुरक्षा के प्रति रह सकती है ! उस कोपागार के आसपास किसी के मात्र चरणचिह्न देखते ही उसकी समस्त ज्ञानेन्द्रियां गतिमान हो उठती हैं। किन्तु, यह अन्तिम सत्य नहीं है। इसका दूसरा पहलू भी है। जिस पुरुप के प्रच्छन्न प्रेम पर विश्वास करके उसे यह अपने मन और प्राणों का नैवेद्य अर्पित करती है, उसके

समक्ष अपने हृदय के कोषागार की चाबी भी समर्पित कर देती है। वह पुरुष उसके जीवन-पर्यन्त के लिए प्रथम और अन्तिम पुरुष बन जाता है। किन्तु, मेनका दूसरे पहलू वाली नारी नहीं थी।

मैंने मन को ढाढ़स दिया—यह विवाह किसी ने कराया तो नहीं, जो उसे कुछ कहा जाए। इस शुद्ध अथवा अशुद्ध यज्ञ का नायक और पुरोहित दोनों मैं ही तो था। मैंने फिर अपने पर काबू करते हुए कहा, "अब ऊन चाहे जैसा भी हो, जीजी ने स्वेटर बुन कर भेज ही दिया है, तो पहनूंगा भी।"

"मगर उसे पहन कर दफ्तर मत आना।"

"अब इसके लिए मुझे विवश मत करो।"

"लोग क्या कहेंगे ?"

"जो कुछ कहेंगे, मैं सुन लूंगा। वस्तु से ज्यादा मूल्य भावनाओं का होता है।" मैंने कहा।

"बहरहाल तुम्हारी जैसी इच्छा !"

मैंने तय कर लिया कि मेनका के साथ टकराहट की स्थिति को कतई नहीं छेड़ना है। बस जो है, है। और नहीं तो क्या ? एक वितण्डावाद को जन्म देने में भला कौन सी उपलब्धि हो सकती थी ? दो-दो सन्तानें थीं, समाज में कुछ महत्वपूर्ण स्थान था। यदि विस्फोट होता भी, तो उसके बीच से मेरे नाम लोकनिन्दा की ध्वनियां ही तो गूंजती।

उस रोज लगभग पूरी रात मैं जगा रहा और अपने को समझाता रहा। धर्मपाल कहीं सो रहा था। वह स्मरण हो आया। उसे स्मरण क्या करना था, वह तो हमारे साथ ही था। पर, सन्दर्भगत दृष्टि से उसका स्मरण हो आना कुछ अनोखा न था। वह अपनी मुंहबोली बहन से मिलकर लौटा था। पहले भी मेरे कहने पर दो-तीन बार हो आया था। मेरे मन में आया—क्या मैं दो-चार रोज के लिए सुनन्दा जीजी के पास नहीं हो आ सकता हूं ? हां आना चाहिए, बुरा क्या है ?

संकल्प लिया कि पटना जाऊंगा और उनका भेजा हुआ स्वेटर पहन हुए उनके सामने उपस्थित होऊंगा। दूसरे दिन दफ्तर गया।
सुहास का मिला। वह अभी लखनऊ केन्द्र में ही था।

२३

नई जगह चाहे चहल-पहल वाली भले ही न हो, वहां पहुंचने वाला नया यात्री चतुर्दिक दृष्टिनिक्षेप करता है। मेरी दृष्टि भी इसी क्रिया में व्यस्त थी। मैं दाएं-वाएं और सामने बड़ी उत्सुकता से देखता आगे बढ़ रहा था। सब कुछ नया-नया !

इंजीनियरिंग कॉलेज छात्रावास से ठीक पूरव।

मेरा रिक्शा दक्षिण से उत्तर की ओर मुड़ा था। मैंने रिक्शेवाले से कहा, "अव पूछ लो, तव आगे वढ़ो।"

वह वोला, "हम लोग रास्ते जानते हैं। मैं इसी मुहल्ले में रहता भी हूं। आप चिन्ता न करें।"

"क्या कहते हैं इस मुहल्ले को, जहां मुझे जाना है ?"

"गोलकपुर।"

"गोलकपुर ?"

"जी हां।"

"वस तो फिर ठीक है।"

उसने रिक्शे को एक मोड़ पर आकर पूरव की ओर मोड़ते हुए कहा, "देखिए, यही वायीं ओर है होस्टल।"

"अच्छा, अच्छा।"

भीतर का सम्भ्रम मुझे वाहर से भी भारी किए जा रहा था। डाक की गड़वड़ी तो खूब चल रही है। क्या तीन रोज पहले का डाला हुआ पत्र जीजी को मिल गया होगा ? शायद नहीं ही मिला हो। शासनतन्त्र सम्भवतः कोई भारी भूल अथवा अशोभन कार्य नहीं करता। अभी हाल में ही डाक-तार सप्ताह मनाया जा रहा था और शायद ही किसी डाकखाने में अन्तर्देशीय पत्र अथवा पोस्टकार्ड मिल रहा हो। सुनने में तो यहां तक आया था कि लोगों ने रसीदी टिकटें कालेवाजार से खरीदीं।

एक ओर विशाल इमली के पेड़ नजर आ रहे थे, तो दूसरी ओर दूर तक वढ़ी हुई ऊंची दीवार थी। जिस ओर इमली के पेड़ थे, उसी ओर

पेड़ों के पार्श्व में जंगली पौधों और झाड़ियों से सुशोभित एक मैदान था। मैंने देखा, उसी मैदान में बैठे हुए चार-पांच लोग ताड़ी पी रहे थे। मुझे कुछ अन्यथा अनुभव हुआ—भला कैसी जगह में जीजी रहती हैं!

महेन्द्रू मुहल्ले का एक हिस्सा गोलकपुर!

मुहल्ले के बीच में एक और मुहल्ला उपज आया था क्या?

मेरे पांवों के नीचे मेरी अटैची और बेडिंग थी। बेंत की बनी हुई एक 'बस्केट' भी थी, जिसमें मैंने कुछ फल भर रखे थे। मिठाइयों का एक बड़ा-सा पैकेट था। बहन के दरवाजे भला यों एकदम खाली-खाली कैसे उतरता?

"पूछ लीजिए किसी पढ़े-लिखे बाबू से।" रिक्शे वाले ने कहा।

"क्या पूछ लूं?"

"जिनके घर आपको जाना है।"

मैंने कहा, "यहीं पर कहीं दायीं ओर पीले रंग का मकान है।" और स्वयं भी दायीं ओर देखने लगा। ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे हम दोनों की दृष्टि एक साथ उस हल्के-पीले मकान पर जा पड़ी। रिक्शा वाला बोल पड़ा, "ओह, साहब! तो आप मासतरी जी के यहां आए हैं!"

"हां, शास्त्री के ही यहां।"

"वही तो है मकान। उसी में रहते हैं।"

मुश्किल से बीस-पच्चीस कदम और आगे बढ़ना था। उसने अपनी सीट से उतर कर रिक्शे को हाथ से आगे ले चलना शुरू किया। मैंने उससे पूछा, "तुम शास्त्री जी को कैसे जानते हो?"

उसने फौरन कहा, "जानता हूं साहब! जिस मोदी के यहां से सौदा वे ले आते हैं, वहीं से मैं भी ले आता हूं।"

"मोदी? मोदी कौन?"

उसने बतलाया, "बनिया।"

"ओह! अब समझा।"

रिक्शे वाले को कुछ और बोलने के लिए उत्साह मिल गया। उसने कहा, "मासतरी जी बड़ा गुनी आदमी हैं। दिन-रात किताब पढ़ते रहते हैं। पास को मोदी हुजूर, मोदी नहीं, चमार है।"—उसने मोदी के नाम

पर एक-दो गालियां भी निकालीं और कहा, "एक शाम उसने मेरे सामने सासतरी जी को एकदम से खाली हाथ लौटा दिया।"

"क्यों भला, मैंने समझा नहीं।"

इस बार उसने दायीं ओर रिक्शे को मोड़ते हुए कहा, "हुजूर, पइसा तो हाथ का मैल है। और सुन लीजिए, उधार-पइंच भला कौन नहीं लेता। बाबू कुंवरसिंह का इतना नाम है। अस्सी साल की उमिर में अंग्रेज बहादुर के खिलाफ तेगा लेकर निकल पड़े थे। मगर, उन पर भी बहुत कर्ज था और थे राजा। तब वही कहा गया है न कि बनिये का जी धनिया इतना बड़ा। सासतरी-जैसे गुनी आदमी को लौटा दिया। पहले के कुछ पैसे बाकी थे। इतना बड़ा गुनी आदमी ठहरे! पैसे क्या वे पचा जाते? मगर ए हुजूर···! पैसे वालों के पास पैसे के सिवा कुछ और नहीं होता।"

मकान पास आता जा रहा था और वह अपनी प्रान्तीय शैली एवं ध्वनि में लगातार बोलता जा रहा था। मैं सुनना भी चाहता था और नहीं भी। वह वणिकवर्ग के नाम लगातार अशोभनीय विचारों का प्रयोग कर रहा था और मैं भी एक वणिकपुत्र था। तभी भोलेपन में उसने कहा, "पहले सरदार जी सूद के लिए सासतरी जी को बहुत तंग करता था। मगर, जब से जान गया कि वह गुनी आदमी हैं, बड़ी सहूलियत से सूद वसूलता है। यहीं बी० ए० कोलेज के सामने बाकरगंज में रहता है। सूद पर पैसे लगाता है। और कोई काम नहीं करता।"

"किस हिसाब से सूद लेता है जी?" मैंने पूछा।

उसने बतलाया, "हम लोग पुराने असामी हैं। हम से साढ़े बारह रुपए सैकड़ा और नए असामियों से पन्द्रह रुपए सैकड़ा। उसको बस महीने-महीने सूद से मतलब रहता है। नहीं देने पर या तो घर पर धावा करता है या रास्ते में मिलने पर छेंकता है।"

मेरा मन तिलमिला उठा।

हाय जीजी! तुम तो मधुवन से खींच कर जंगल में छोड़ दी गई।

रिक्शा एकदम जीजी के मकान की सीढ़ी के पास आकर रुक गया। द्वार खुला हुआ था। मैं उतर कर बगल में खड़ा हो रहा। आवाज़ लगाना

ही चाहता था कि तभी पास ही से जीजी की आवाज सुनायी पड़ी—"अरे हितू ? भई वाह, कल से ही मैं देख रही थी कि छत पर काग रट लगाए हुए है।"

मैंने आवाज की ओर अपने को केन्द्रित किया। निश्चय ही यह आवाज मकान के भीतर से नहीं आई थी।"

रिक्शे वाले ने धीमी आवाज में कहा, "यह मालकिन हैं। मास्तरी जी की घर वाली।"

"हां हां…।" मेरा तो जैसे स्वर ही रुंध आया।

जीजी सामने से चली आ रही थीं—हिलती-कांपती। दाएं हाथ में पानी से भरी मंझोले आकार की एक पुरानी बाल्टी थी। उनकी कमर जैसे धीमे-धीमे पीड़ा और भारयुक्त हिचकोले खा रही थी। शारीरिक दृष्टि से तो वे मुझे काफी अस्वस्थ दिखीं, मानसिक दृष्टि चाहे वे जितना सबल हों।

वे पास आईं, तो मैंने हाथ जोड़ दिए और कहा, "जीजी, अब बाल्टी को छोड़ो। मैं इसे भीतर लिए चलता हूं।"

"अरे…यह क्या कह रहे हो हितू ! मेरा तो यह रोज का कारोबार है।" कहकर उन्होंने बाल्टी क्षण-भर के लिए सीढ़ी पर रख दी और रिक्शे वाले से पूछा, "जंकशन से साहब को ला रहे हो न ?"

"हां मालकिन !"

जीजी बाल्टी लेकर भीतर गईं और बड़ी तेजी से हमारे पास आ गईं। उन्होंने डेढ़ रुपए की रेजगारी रिक्शे वाले की ओर बढ़ाते हुए कहा, "लो, डेढ़ रुपए हैं।"

"जीजी, यह क्या कर रही हो ?"

"बस चुप ही रहो।" जीजी ने अधिकारपूर्ण स्वर में कहा।

रिक्शा वाला पैसे लेकर रिक्शे के साथ वापस हो गया। हां, मेरे साथ के सामान उसने बड़े कायदे से उतार कर सीढ़ी के आसपास रख दिए थे। इनमें सबसे ज्यादा भारी मेरी बेडिंग थी। बाल्टी लाने के कारण जीजी अभी भी हांफ रही थीं। मैंने देखा, वे नाक की जगह मुंह से सांसें ले रही हैं। मैंने पूछा, "जीजा जी तो हैं न ?"

"हां, हैं। थोड़ी देर के लिए निकलने वाले हैं।"—जीजी बोलीं; "चलो, अन्दर चलो।"

मैंने कहा, "इस बेडिंग को लेता चलता हूं।" और बेडिंग की ओर झुका। जीजी ने आगे बढ़कर मेरा दायां हाथ पकड़ लिया। उनका मतलब था कि मैं यह सब न करूं।

तब तक ओंकार शास्त्री सामने आकर खड़े हो गए। मेरे नमस्कार का उत्तर देते हुए बोले, "चलो भैया, तुम भीतर चलो। सामान सब आ जाएंगे। चिन्ता करने की कोई बात नहीं।"

इस प्रकार जीजी और उन्होंने बेडिंग पकड़ ली। जीजी ताकत लगा तो रही थीं, मगर मात खा जा रही थीं। शास्त्री जी ने उनसे कहा, "तुम भैया को लेकर भीतर चलो। मैं एक-एक कर सारे सामान भीतर लिए आता हूं।"

मैं जीजी के साथ भीतर आया। शास्त्री जी की गतिमान मूर्ति मेरे हृदय को वेध गई। उनके पांव खाली थे। पुरानी धोती, कत्थई रंग का पुराना कुरता, ऊपर से हल्के हरे रंग का, सरदियों के कई मौसमों से भिड़ चुका पुराना स्वेटर। गर्दन के पृष्ठभाग पर झूमते हुए लगभग चार-चार इंच के बाल, जो बहुलांशतः घुंघराले और लहरीले थे। आंखों की काट-छांट सुन्दर, पर उनके नीचे गड्ढे। अधर पानों के कारण लाल और सामने के दांत हल्के-हल्के मैले। ब्याह में आए थे, तो ऐनक नहीं थीं। अब ऐनक धारण किए हुए। एक छोटी-सी कुर्सी लाकर जीजी ने उनके ही कमरे में उनके पास रख दी। मैं बैठ रहा। मुझे कुछ अच्छा नहीं लगा। यह शास्त्री बालों की काट-छांट क़ायदे से क्यों नहीं कराता? क्या कत्थई रंग के अलावा बाजार में किसी और रंग का कपड़ा नहीं मिलता? क्या किसी ने इन्हें पतलून पहनने से मना कर रखा है? अच्छी-खासी शक्ल को इस आदमी ने बिगाड़ कर रख दिया है।

मुझे वे दिन याद आने लगे, जब जीजी क्वांरी थीं और हमेशा अपने को संवारे रखती थीं। अच्छी धोती पहनतीं। राजस्थानी धोतियां उन्हें खूब पसन्द थीं। राजस्थानी शैली के बेल-बूटे उन धोतियों पर छपे होते थे। हाथ-पांव खूब रगड़-रगड़ कर साफ करतीं। एक बार नहाने चलीं। मैं

आंगन में खड़ा था। उनकी नजर पड़ी। मेरे पांव उन्हें गन्दे और रूखड़े नजर आए। मेरी ओर बढ़ आईं। बोलीं, "चलकर पत्थर पर बैठो। हाय, पांव इतने गन्दे और रूखड़े कर रखे हैं।"

मैं जरा अकड़ा, तो उधर से चाची बोलीं, "सुनन्दा, उस बच्चे को परेशान मत करो। लड़के तो दिन-भर दौड़ते-कूदते-फादते रहते हैं। इनके पांवों का हाल तो कुछ फर्क रहेगा ही।"

जीजी ने प्रतिवाद किया, "ना ना, यह गलत बात है। हाथ-पांव साफ रखने की आदत तो डालनी ही चाहिए।" और मुझे पकड़ कर पत्थर पर बिठा दिया। आधा घण्टा लगा होगा। जीजी ने एक तरह से मेरे हाथ-पांव चमका दिये।

बड़ा अफसोस होने लगा यहां आने का। मैं अपने स्तर और जीजी के क्वांरेपन के दिनों के स्तर से इस परिवार की स्थिति की तुलना करने लगा। मैं कभी अतिशय भावुक हो उठता और कभी अतिशय भौतिक। कभी तो सोचता कि लोग सच ही कहते हैं कि सरस्वती और लक्ष्मी की मैत्री नहीं हो सकती और कभी सोचता कि यों बड़ी आसानी से या जान-बूझ कर दीनहीनावस्था को गले लगाने की कोई सार्थकता, कोई औचित्य भी तो नहीं है।

जीजी ने थोड़ी ही देर में मेरे बैठने-लेटने का प्रबन्ध दूसरे कमरे में कर दिया। यह कमरा ऐसा था, जहां से उस स्थल को बड़ी आसानी से देखा जा सकता था, जहां जीजी रसोई बनाती थीं। वही बर्तन, वही अंगीठी, वही कोयला-उपली। एक ओर सिल-लोढ़ी। वे पश्चिम की ओर रुख करके बैठतीं। दायीं ओर दीवार में एक ईंट काट कर बिना दरवाजे की आलमारी। इस आलमारी में पुराने-धुराने कई डिब्बे रखे नजर आते थे। शायद इनमें जीजी मिर्च-मसाले रखती हों। लेकिन, इतने सारे छोटे-बड़े डिब्बे थे कि सरसरी तौर पर उनकी गिनती नहीं की जा सकती थी।

इस कमरे में एक चारपाई थी और एक खाट। दरवाजा पश्चिम की ओर था। इसलिए यहां से पश्चिम की ओर आसानी से देखा जा सकता था। इस कमरे में बड़ी-बड़ी दो खिड़कियां थीं, जो बाहर की ओर खुलती थीं। इनका कोई भी पल्ला खोलकर बाहर मजे से देखा जा सकता था।

यों सभी दीवारों का हाल खस्ता था। उन पर कब सफेदी की गई थी, पता ही नहीं चलता था। कई जगह से उनकी परतें उखड़ गई थीं। बिजली के तार तो नजर आ रहे थे, मगर लगता था, पावर हाऊस में कोई गड़बड़ी थी। लाइनें कटी हुई थीं।

शास्त्री जी उसी कमरे में कुछ करने लगे थे, जिसमें आते-आते मुझे जीजी ने बिठा दिया था। मेरे सारे सामान जीजी ने अब इस दूसरे कमरे में मेरी चारपाई के इर्द-गिर्द रख दिए थे—बेडिंग, अटैची, बकेट वगैरह-वगैरह। सब ज्यों-के-त्यों।

जीजी मेरे कमरे में आईं। बोलीं, "हितू, स्नान करना चाहो, तो कर लो। पीढ़िया-बाल्टी रखे देती हूं।"

मैंने कहा, "अच्छा।"

उनका भेजा हुआ स्वेटर मैं पहने हुए था। दिन के साढ़े नौ-पौने दस बजने को थे। जीजी ने ठिठक कर पूछा, "यह स्वेटर वही है न, जिसे मैंने तुम्हारे लिए भेजा था ? क्यों, फिट आया ?"

मैं बोला, "एकदम सही नाप है।"—फिर मैंने झूठ-मूठ कहा, "कई बार इसे पहन कर दफ्तर में भी बैठ आया।"

"हाय, यह तो एकदम मामूली है !"

"नहीं जीजी, दोस्तों ने देखते-देखते हाथ लगाकर देखा और खास कर बुनावट की बड़ी तारीफ की।"

"तुम्हारी दुलहिन तो एक-से-एक स्वेटर बुनती होगी।"

मैंने कहा, "हां···मगर छोड़ो भी। तुम्हारे भेजे हुए इस स्वेटर को पहनता हूं, तो अनुभव होता है कि तुम्हारा एक हाथ मेरी छाती पर और दूसरा हाथ मेरी पीठ पर है। यह तो स्वेटर ठहरा जीजी, मैंने तो अपनी कई नींद तुम्हारे आंचल की छाया में गुजारी हैं।"

जीजी की ममता-भरी आंखें फैलीं और क्षण मात्र में वे आंखें आंसुओं से भर आईं। आंसुओं का उतर आना सुखद मनःस्थिति का बोध नहीं कराता। मगर जीजी की आंखों में उभर आए ये आंसू सम्भवतः मेरे प्रति उनकी ममता का शृंगार ही कर रहे थे। मैं बतला नहीं सकता कि आखिर ऐसा क्यों ? मैं यानी हितेन्द्र, जो सालों इस जीजी से मुंह छिपाता रहा,

आज उसी जीजी के पास उस खोये हुए बच्चे-जैसा व्यवहार क्यों कर रहा था, जो मां से बिछुड़ने के बाद एकाएक मिलता और मां की गोद में अपने को डाल देने के लिए बेचैन हो उठता है। कुछ दिनों बाद मैंने महसूस किया कि जीजी के प्रति मेरी तब की अनुगतता का संचालन वास्तव में मैं नहीं, कोई और ही कर रहा था। मैं तो मात्र अपने स्वार्थ से प्रेरित होकर भागा-भागा उनके पास चला आया था।

मैंने कई बार जीजी और शास्त्री जी की फुसफुसाहट सुनी। इसी कारण मैं भांप लिया कि नाश्ते के साथ मेरी प्लेट में जो चार-पांच जलेबियां रखी गई थीं, वे बगल के हलवाई के यहां से उधार आई थीं। जीजी ने अपने पण्डित-विद्वान पति से कहा था, "कम-से-कम सवा सौ ग्राम तो ले ही आओ। हमारी ओर लोग मिठाइयां खाने के शौकीन होते हैं। मेहमानों के आगे तो मिठाइयां खास कर रखी जाती हैं। हम लोग तो गैर ब्राह्मण ठहरे, शेष जाति वाले भी मांस-मछली नहीं के बराबर खाते हैं। तुम पूरी हरदोई का चक्कर लगा डालोगे, तब भी तुम्हें मांस-मछली की दुकानें बहुत कम नजर आएंगी।"

"अच्छा, देखता हूं।"

जीजी बोली थी, "यह मेरे लिए सगे भाई से बढ़ कर है। वैसे यह ज्यादा दिन ठहरेगा नहीं। पहली बार आया है और वह भी बुला-बुला कर मैं थक गई हूं, तब। वैसे उसके बक्से में दो किलो से कम मिठाइयां नहीं हैं। मगर उसकी ही लायी मिठाइयां उसके आगे रखना ठीक नहीं होगा। तुम कहते हो, हलवाई तुम्हें पहचानता है।"

"सुनन्दा, यह अर्थयुग है। लोग आदमी से ज्यादा पैसे को पहचानते है। बहरहाल, देखता हूं। मेरे आने पर तुम नाश्ता लगाना।" कहकर शास्त्री जी एक छोटा-सा झोला लेकर घर से बाहर निकल गए थे। कोई मेरी स्थिति को आसानी से समझ सकता है कि उन जलेबियों को मुंह में डालते समय मेरा क्या हाल हुआ होगा।

उन दो-तीन दिनों की पटना-प्रवास की कई पारिवारिक झलकियां हृदय के क्षितिज पर कौंधती रही हैं। जीजी और शास्त्री जी की दबी-दबी आवाजें और मेरे कानों का सतर्क होना।

जीजी : आज सब्जी लाने जाओगे ?

शास्त्री : क्यों, सब्जी नहीं है क्या ?

जीजी : वैसे सब्जी है, मगर···।

शास्त्री : मगर सिर्फ आलू हैं। और सुनो, थोड़ी लौकी भी तो है।

जीजी : काफी बासी पड़ चुकी है।

शास्त्री : काम चला लो।

जीजी : कल शाम प्रकाशक के यहां गए तो थे, कुछ मिला नहीं क्या ?

शास्त्री : नहीं। न मालिक था, न मैनेजर।

जीजी : (डूबता हुआ स्वर) अच्छा, देखती हूं। मगर, एक बात और है।

शास्त्री : कौन-सी बात ?

जीजी : इसे कोई कपड़ा देना पड़ेगा। छोटा है न ? सुना है, भांग-गांजे की दुकान की बगल में रोहतगी जो कपड़े की दुकान करता है, महाजनी भी करता है।

शास्त्री : हां, करता तो है।

जीजी : मेरे पास एक अंगूठी है। एकदम ढीली पड़ती है। सस्ती के जमाने की सवा सौ रुपए की है। उसे ही उसके हाथ गिरवी रख देना।

सुनकर लगा, मैं नदी में खड़ा हूं और मेरा बायां पैर मगरमच्छ बन कर मेरे दाएं पांव को पकड़कर घसीटने लगा है। यहां रेडियो के नाटक लेखक की शैली में कहना पड़ रहा है—

[करुण संगीत : फेड आउट]

जीजी अपरान्ह में मेरे पास आईं। आते-आते पूछा, "हितू, तुम सोए नहीं ? नींद नहीं आई ?"

मैंने कहा, "आई थी। थोड़ा सो लिया। बात असल यह है जीजी कि दिन-भर तो दफ्तर में रहता हूं। दिन में सोने की आदत नहीं है। बस इसीलिए···।"

"सरदी है। चाय बनाऊं ?" जीजी ने पूछा।

"थोड़ी देर बाद बनाना।"—मैंने कहा, "इस बकेट में कुछ फल और कुछ मिठाइयां हैं, निकाल लो।"

जीजी शायद पहली बार झूठ बोली थी कि हरदोई में मांस-मछली की दुकानें बहुत कम हैं। वे मुझे मिठाइयां खिलाने को आमादा थीं, इसीलिए ऐसा कह गईं। शास्त्री जी को भला क्या पता कि हरदोई में बूचड़खाना भी है ! यत्र-तत्र-सर्वत्र मांसभक्षी तो हैं ही, मुसलमानों का भी अभाव नहीं है। बहरहाल इतनी बात तो सच है ही कि मेरे परिवार में एक प्रकार से वैष्णवपंथी ही थे।

जीजी ने मेरे सामने ही बकेट का ढक्कन खोला। फलों और मिठाइयों को देखकर वे चकित हुईं। बोल पड़ीं, "इतना यह सब भला क्यों ले आए ? पैसे उड़ाने का भूत सवार है क्या तुम पर ? तुमने विश्वविद्यालय की पढ़ाई कैसे पूरी की, क्या सब भूल गए ? हितेन्द्र, रास्ता साफ हो, तब भी हौले-हौले और देख-देखकर चलना चाहिए। सुनो, यहां तो घर में कोई बच्चा भी नहीं है, जो घूम-घूमकर, नाच-नाच कर मिठाइयां खा [illegible]।"

सचमुच, कहां कोई बच्चा था ? नहीं था। था तो मात्र जीजी का दर्द।

जीजी ने उसी दृढ़ता के साथ कहा, "अब तो तुम पैसे फंसा ही आए हो, क्या कहूं ? तुम मुझसे छोटे हो। छोटे होकर बड़े बनने की कोशिश न किया करो। सागर के सामने नदी भला कितनी छोटी होती है ! किन्तु क्या उसकी लघुता उसकी सुन्दरता को कभी कम कर सकी है ? पूरी देह के आकार की अपेक्षा आंखों का आकार कितना छोटा होता है, देखते ही हो, मगर क्या उसकी लघुता के कारण उसकी सुन्दरता को अस्वीकारा जा सकता है ?"

मैंने विनम्र स्वर में कहा, "[illegible] जीजी, तो लेता आया। आगे फिर आऊंगा। देखा [illegible] चलती ही नहीं, मगर [illegible] जाओ।"—और इसी क्रम में मुंह से [illegible] 'तुम मेरी दुर्[illegible] देखने के लिए बेचैन हो। अब [illegible] तीन बार कह चुकी।'

"तो ? तो क्या बुरा हुआ ? [illegible] भड़आई को न देखूं ?"

मैंने धीमे स्वर में कहा, "जीजी, उसकी ओर से देख[illegible]"

हो गया है। मैं तो एक तरह से उतनी दूर से चलकर इसलिए भी यहां आया हूं कि तुमसे अपना दुःख बतला कर दिल को थोड़ा हलका कर सकूं। मेरा मन उसके पास से भागता है। बोलो, आखिर मैं कब तक अपने को समेटता रहूंगा ?"

जीजी कुछ इत्मीनान से नीचे एक पीढ़िया रख कर बैठने लगीं, तो मैंने अनुनय के स्वर में कहा, "नीचे न बैठो जीजी। आओ, ऊपर बैठ रहो।" और पायताने की ओर बड़ी तेजी से खिसक गया। फिर पूछ बैठा, "और जीजा जी कहां हैं ?"

जीजी बोलीं, "अभी आध घण्टा पहले कहीं निकल गए। शाम तक आ ही जाएंगे।"

जीजी जब चारपाई पर आकर बैठ रहीं, तो मैं बोला, "अब हर बात खोद-खोद कर मत पूछना जीजी ! मैंने उसकी मीठी-मीठी बातों में आकर उससे शादी कर ली।"

"ऐसे पत्नी पर नाराज नहीं हुआ करते हितू। मैं यह नहीं कहती कि नारियों को नारी-स्वातन्त्र्य की आड़ में शीलमुक्त हो जाना चाहिए। किन्तु, इतना तो मानोगे ही कि भूलें दोनों पक्षों से सम्भव हैं। कभी एक पक्ष से भूल होती है, तो कभी दूसरे पक्ष से। इसी प्रकार भूलों के सन्दर्भ भी अलग-अलग हो सकते हैं।"

जीजी के इस तर्क से गला छुड़ाना मुश्किल था। पर, मैंने अपने और मेनका के समस्त सन्दर्भ-पृष्ठों को उद्घाटित किये बिना कहा, "बस जीजी, यही समझ लो कि वह पवित्र नहीं है। मैंने यह विवाह स्वेच्छापूर्वक किया, इसलिए किसी को उलाहना भी नहीं दे सकता।"

जीजी देर तक अपने दोनों घुटनों के बीच अपना सिर डालकर कुछ सोचती रहीं। मैं उनकी ओर देखता रहा कि आखिर वे क्या कहती हैं। उन्होंने अपना चेहरा फिर मेरे सामने कर लिया और कहा, "तुम्हें तो मेरी बात शायद बेहद बेतुकी लगे। मगर मुझे कहने दो।"

मैंने जीजी की ओर इस भंगिमा से देखा, गोया उन्हें कहने की स्वीकृति दे रहा होऊं। उन्होंने अपनी आंखों का आकाश बिल्कुल मेरी आंखों के सामने करते हुए कहा, "देखो, प्रकृति और पुरुष अलग तत्त्व हैं

और पत्नी एवं पति असग तत्त्व। हालांकि इसे बहुत सारे लोग स्वीकार नहीं करेंगे। उन्हें मेरा यह कथन बेतुका प्रतीत हो सकता है। और जो तुमने दुलहिन के अपवित्र होने की बात कही, वह भी उदात्तता की पृष्ठ-भूमि में विचार करने वाली बात है। जो चन्दन का लेप करता है, चन्दन उसे सुगन्धायमान कर लेता है। हितेन्द्र, मेरा आदेश मानो।"

"क्या ?" मैंने पूछा।

जीजी सुविचारसिद्ध व्यक्ति की भंगिमा में बोली, "तुम चन्दन वन जाओ। अब यह तुम्हारी शरण में आई है। जिनके ललाट पर अमृत स्वेदकण छलछलाये होते हैं, चन्दन क्या उन्हें अपनी सुगन्ध और शीतलता से वंचित कर देता है ? पुरुष में सहनशक्ति अपेक्षाकृत नारियों से कम होती है, इसीलिए तुम्हारा यह हाल है। मेरे इस कथन को मेरा पूर्वाग्रह न मान लेना, किन्तु औसत लेखा का यही निष्कर्ष अनुभव करने में आता है। मेरा हाल सुनोगे ?"

मुझे समझाते-समझाते जीजी एकाएक उर्जस्वित हो आई। मैंने कहा, "सुनूंगा जीजी !"

जीजी ने तब कहा, "तुम्हारे जीजा जी की प्रथम पत्नी का देहान्त हो चुका था, जब मैं इनसे ब्याही गई। मेरे दिल को चोट न पहुंचे, इसलिए मुझसे यह बात नहीं बतलायी गई। मैं जब ब्याह कर यहां लायी गई, तो उसके कई महीने बाद 'इन्होंने' स्वयं मेरे सामने सचाई प्रकट कर दी। बोले—'सुनन्दा, मुझे यह बात बतलाने से मना कर दिया गया था। मगर, यह रहस्य मैं अधिक दिनों तक नहीं छिपा सकता था।' सुनकर कुछ क्षणों के लिए मेरी मानसिक स्थिति में अन्तर जरूर आया, किन्तु मैंने अपने को संभाल लिया। अपनी इस जानकारी को मेरे मायके में किसी के सामने व्यक्त करते हुए आज तक यह नहीं कहा कि बहुत सारी लड़कियां दुहाजू के साथ ब्याही जाती हैं, मगर मेरे साथ यह छल करने की भला क्या आवश्यकता थी ?"

"अरे···!"

"हां, न मैं उतावली हुई और न मुझसे कोई आक्रोश उभरा।"

मेरे मुह से निकला [illegible] हो!''

"नहीं, ऐसा न कहो हितेन्द्र ! धन्यता ग्रहण करने की अधिकारिणी मैं नहीं हूं। जीवन-यात्रा वैसे अन्तहीन तो नहीं ही है, पर क्या पता, चलते-चलते पथ में कोई भूल हो ही जाए। अनाड़ी हाथों से डाला गया थोड़ा-सा रंग ही किसी चित्रकार की महान् कलाकृति के भाव-संसार को ध्वस्त कर दे सकता है।"

"जीजी, तुम और अनाड़ी···?"

"बिल्कुल ! ज्ञानी होने का बोध भी अनाड़ीपन ही है।" वे बोलीं।

मैट्रिक में पढ़ रही जीजी और आज की जीजी ! मैं तो उनका मुखड़ा ही देखता रह गया। वे इतनी आसानी से मेरे हृदय में फैल चुके विकृत भावों को धो-पोंछकर फेंक डालेंगी, मैंने कल्पना तक नहीं की थी। मैंने तो यही समझा था कि वे मुझे सान्त्वनाएं देंगी और उन सान्त्वनाओं के कारण मेरे मन का अंधेरा मौसम अंशतः प्रकाशमान हो उठेगा। किन्तु, उन्होंने तो तिमिर के मूल स्रोत को ही तिरोहित कर डाला।

बड़े सहज भाव से उठीं। कोई तनाव नहीं। बोलीं, "अब मुझे भी चाय की तलब हो आई है। अभी एक बाल्टी ताजा पानी ले आई हूं। उठो, हाथ-मुंह धो डालो।"

मैं हाथ-मुंह धोने कमरे से बाहर आया। जीजी मात्र उपली सुलगा कर चाय के लिए पानी गर्म करने लगीं। इस कर्म को पूरा करते हुए वे भाव विभोर होकर गा रही थीं—

वंसी वाले पर ये दिल निसार है, हां !
मैं हूं बन्दा वो परवरदिगार है, हां !

यह कण्ठ विषपायी और यह मधुर स्वर !

क्या निष्काम योग कोई और भी होता है क्या ?

पांच दिन रहकर इन्दौर लौटा। सोचकर चला था, तीन दिन ही रहूंगा। वह सोचा न हुआ और इसका कोई खेद भी नहीं। सब कुछ जानते हुए भी मैंने जीजी का दिया पायजामा और सिल्क का कुरता ले लिया। रिक्शे पर सवार होने लगा, तो जीजी ने पांच रुपए नकद थमा दिए थे।

२४

इन्दौर से मेरा स्थानान्तरण पटना केन्द्र के लिए हो गया। मैं ऐसा कदापि नहीं चाहता था। लेकिन, न चाहने से बात बनने वाली नहीं थी। महानिदेशालय में कोई भी बड़ा अफसर मेरा मित्र नहीं था। इन्दौर का असिस्टेण्ट स्टेशन डायरेक्टर पुराना आदमी था। आधे से अधिक बाल सफेद हो चुके थे, तब बेचारा इस पद पर पहुंचा था। इधर-उधर से मुझे मालूम हो चुका था कि वह जमाने के साथ चलने वाला आदमी है। मैंने उसे अपने घर बुलाया और कहा, "तुम्हारी बुद्धि में कोई ऐसी जुगत है, जिससे मेरा ट्रांसफर रुक जाए? कुछ हो, तो बतलाओ। मैं नागालैण्ड, गोआ तक जाने को तैयार हूं, मगर पटना नहीं।"

"ऐसा क्यों सर? मैं तो पटना केन्द्र से ही आया हूं। शहर अच्छा है। पडोसी भी आपको अच्छे ही मिलेंगे।"

मैंने एक प्रकार से तंग आकर कहा, "भई देखो, अपनी-अपनी पसन्द की बात है। सुना है, शहर बड़ा गन्दा है।"

उसने मुझे समझाते हुए कहा, "इसके लिए आप परेशान न हों। स्टेशन डायरेक्टर को जो क्वार्टर मिलता है, वह बड़े रमणीक स्थान पर है। क्वार्टर के लाउंज में कुर्सियां लगाकर बैठ जाइए और शहीद स्मारक को देखते रहिए। काली-काली पिच, चौड़ी सड़कें। खिलौने की तरह कारें सरसराती हुई गुजरती रहती हैं। दायीं ओर बढ़ जाइए, तो सचिवालय मिलेगा, विधान सभा और विधान परिषद् के विशाल भवन उधर ही हैं। समझिए, उस एरिया में सिर्फ वी० आई० पी० रहते हैं। पानी और रोशनी की कोई तकलीफ नहीं होगी। अजन्ता पास ही है। वहां सब कुछ आसानी से मिल जाता है। कपड़े, दवाएं, फल···तीन-तीन सिनेमा हॉल पडोस में ही हैं। इसके अलावा जी० पी० ओ···।"

मुझे लगा, वह मुझे जानबूझ कर तंग कर रहा है। मैंने अपनी झुंझलाहट पर काबू करते हुए कहा, "बड़े भाई, मैं पटना जाने को किसी प्रकार भी तैयार नहीं हूं।"

उसने एक लम्बी सांस छोड़ते हुए कहा, "तो फिर किसी मन्त्री को पकड़िए। सूचना एवं प्रसारण मन्त्री ही हो, कोई ज़रूरी नहीं है। वहां का कोई खास नियम नहीं है कि दूसरे विभाग का मन्त्री नहीं कह सकता या उसकी बात नहीं सुनी जाएगी।"

"भई, मेरी पहुंच तो किसी मन्त्री तक नहीं है।"

"तो फिर जाइए पटना। कुछ रोज रह लीजिए। जीवन भर तो एक स्टेशन पर रहना नहीं है।"

मैंने अपने को विल्कुल निरुपाय पाया। लाचार होकर पटना आना पड़ा। लगभग बीस दिनों के बाद क्वार्टर मिल गया, मगर वह क्वार्टर नहीं, जिसका उल्लेख उस असिस्टेण्ट स्टेशन डायरेक्टर ने किया था। यह क्वार्टर रेडियो स्टेशन के अहाते के पास ही था—उत्तर की ओर। रहते-रहते पता चल गया कि यहां भी आसपास सरकार के उच्च-पदाधिकारी रहते हैं। एक तरह से यह आफिसर्स कॉलोनी थी।

धर्मपाल मेरे साथ आया, मगर मेनका बच्चों के साथ एक माह के लिए लखनऊ चली गई। भारी सामान रेलवे से आए थे। यथास्थान उनके रखरखाव में मैंने परेशानी का अनुभव किया, हालांकि स्टेशन के आधा दर्जन लोगों ने मेरी सहायता की। महीने-भर से कुछ ज्यादा समय मायके में गुजार कर मेनका ने लिखा—'तुम छुट्टी लेकर एक-दो दिनों के लिए यहां आ जाओ। फिर मैं तुम्हारे साथ चल दूंगी।'

और, अब वही स्थिति थी, जिसका वर्णन प्रारम्भ में ही कर चुका हूं। बहुत सोचा, कई तरह से साहस किया कि जीजी के घर जाऊं, मगर अन्ततः संकल्पों से च्युत होता गया। मेनका के साथ बाजार भी गया था। उस बहाने इधर-उधर के चक्कर लगा आया। दो महीने के और 'सेकण्ड सैटरडे' और झांसा देकर निकल गए। उस दिन के बाद 'शास्त्री जी' नाम का विद्वान जब नजर नहीं आया, तो मैंने हिंगोरानी को बुलाया और पूछा, "संस्कृत कार्यक्रमों में आप कोई हेरफेर करने जा रहे हैं क्या ?"

उसने कहा, "चाहता तो था।"

"तो फिर कीजिए।"

"अच्छा, एक दिन शास्त्री जी के घर जाऊंगा।"

हिंगोरानी के इस कथन से जैसे मुझे वह सूत्र मिल गया, मैं जिसकी तलाश में था। मैंने पूछा, "कौन शास्त्री जी ?"

"डॉ० ओम्प्रकाश शास्त्री नहीं, ओंकारनाथ शास्त्री।"

"वही तो मैं पूछ रहा था।"

हिंगोरानी ने ओंकारनाथ शास्त्री के प्रति जैसे अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हुए कहा, "ओम्प्रकाश शास्त्री यों ही अध्यापक हैं, कॉलेज में छात्रों को पढ़ाते और पाठ्यक्रम से मिलती-जुलती किताबें लिखकर प्रकाशकों को दिया करते हैं। मगर, ओंकारनाथ शास्त्री साहित्यसाधक और अनुसन्धायक हैं।"

"वही तो मैं भी कहने वाला था।"

मेरे मुंह से इतना सुनते ही हिंगोरानी का चेहरा खिलता हुआ नजर आया। उसने कहा, "सर, परीक्षाएं तो मैंने भी पास की हैं, डाक्टरेट की उपाधि भी प्राप्त कर ली, पर सब व्यर्थ।"

"सब व्यर्थ, क्यों भाई ?"

हिंगोरानी जैसे किसी गम में डूब गया। वह एकदम गोरा-चिट्टा था। उसके बाल छोटे-छोटे थे और अभी-अभी उसने पीछे की ओर बाल संवारने का इरादा बनाया था। मगर, इतने छोटे-छोटे बाल भला संवर कैसे सकते थे? शायद इसी कारण उसके ललाट का वास्तविक व्यास दृश्य नहीं था। उसने मेरे प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा, "रोटी, दाल, मकान और सैर-सपाटे की भूख सबसे बड़ा अथवा गन्दा काम यह करती है कि वह मनुष्य के ज्ञानोन्मेष की जड़ कुतर डालती है। मैं मामूली आदमी ठहरा। अपनी ही स्थिति पर विचार करता हूं। मैंने संस्कृत साहित्य की जिस विधा में डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त की, उसका भला इस नौकरी में क्या उपयोग हो रहा है? यानी रोटी के चक्कर ने मेरे अर्जित ज्ञान को रद्दी की टोकरी में डाल दिया। मैं सर, यह कहना चाहता था कि क्रमबद्ध शिक्षा लेनी चाहिए अवश्य, किन्तु अध्ययनविषय की दृष्टि से ही उसका उपयोग होना चाहिए।"

हिंगोरानी जैसे यह सब कहने के लिए पहले से
वह आगे भी बोलता चला गया, "हालांकि मैं प्रसंग से

कह रहा हूं। इन ओंकार शास्त्री को ही देखता हूं। सुखसाधन से लगभग एकदम वंचित जीवन बिताते हैं और जिसे हम 'सुख' कहते हैं, हालांकि वह कुएं के मेंढकों का सुख है,...।"

मैंने टोक दिया, "कुएं के मेंढकों का सुख ?"

"और भला कौन-सा सुख ? पेट पालने का सुख, शरीर ढंकने का सुख !"

"किन्तु, हिंगोरानी ! यह भी तो सुख है ?"

"मैं इस सुख को नकार नहीं रहा हूं। मैं उस सुख को नकार रहा हूं सर, जो मनुष्य के भीतर ज्ञानपिपासा जगने ही नहीं देता। हम हर पहली तारीख को नोट गिनते हैं, मगर ओंकार शास्त्री के सामने जाते ही बौने बन जाते हैं। मैं उन्हें 'श्रीमान्' शब्द से सम्बोधित करता हूं और लगता है, विद्वानों के सम्बोधनार्थ किसी और आदरसूचक शब्द का उपयोग करूं। लेकिन भय लगता है कि वे कुछ और अर्थ न लगा लें। शास्त्री जी, साहित्य-सुमेरु हैं।"

श्रीमान् ! सर !! साहित्यसुमेरु !!!

मेरे जी में आया कि हिंगोरानी को डपट दूं—बदमाश ! नामाकूल, मैं भी सर और वह झोले वाला भी सर ? और यह श्रीमान् और साहित्य-सुमेरु कौन बला है ? ये थोथे शब्द हैं, भग्नावशेष के तल से झांक रहे शब्द !! मैं चाहूं, तो तुम्हारा अहित कर सकता हूं, वह तुम्हारा तथा-कथित साहित्यसुमेरु तुम पर नाराज होकर तुम्हारा नहीं, अपना अहित करेगा। उसका रेडियो से बोलना बन्द हो जाएगा, उसकी आमदनी का एक स्रोत सूख जाएगा।

मैंने अपने आक्रोश के अधरों पर अपनी हथेली रखते हुए प्रत्यक्ष तौर पर कहा, "भाई ऐसा करो कि संस्कृत कार्यक्रमों का पूरा ले आउट मुझसे दिखला लिया करो।"—मैं सरासर झूठ बोला, "अब नाम तो नहीं बतलाऊंगा, मगर एक-दो लोगों ने मुझसे फोन पर कहा कि संस्कृत कार्य-क्रम कुछ ठीक नहीं हो रहे हैं। क्या करूं, आखिर उत्तरदायित्व तो सब मेरे नाम ही आते हैं।"

हिंगोरानी मन-ही-मन मेरे संस्कृत ज्ञान पर सम्भवतः व्यंग्य कस रहा

था, पर प्रत्यक्षतः उसकी मुखाकृति पर जैसे स्याही फिर गई। हाईस्कूल की फाइनल परीक्षा मे मैं प्रथम अवश्य आया था, मगर संस्कृत मे तो बस नाप-तौल कर ही अंक मिले थे।

हिंगोरानी ने साहस से काम लिया। एकाएक बोला, "जी, अवश्य दिखला लूंगा। आखिर आप स्टेशन डायरेक्टर हैं।"

उसका दूसरा वाक्य मुझे आहत कर गया, लगा, उसने पत्थर का एक भारी टुकडा बिल्कुल पास से मेरे वक्षस्थल पर दे मारा।

उसका वह पाषाणखण्ड या यह दूसरा वाक्य—'आखिर आप स्टेशन डायरेक्टर है।' मतलब यह कि आप चाहे और कुछ भी नहीं हैं, मगर स्टेशन डायरेक्टर तो है ही। इस नाते मुझ-जैसे लोग आपके अधीनस्थ हैं।

मैंने उसकी ओर विवशतासूचक दृष्टि डाली, पर वह मेरी विवशता को समझ नहीं सका। सम्भवतः उसकी आंखों से भी विवशता ही झांक रही थी। हृदय के स्पन्दनों की भाषा समझने वाला उसके हृदय पर हाथ रख कर बतला सकता था कि स्पन्दन साफ कह रहे हैं—अगर आज मैं इस नौकरी मे न होता, तो इस बात के लिए हरगिज न तैयार होता कि संस्कृत कार्यक्रमो के ले आउट आपको दिखला लूं।

तभी मेरा पी० ए० मेरे आगे एक लिफाफा रख गया। यह लिफाफा आकाशवाणी, इन्दौर मे रि-डायरेक्ट होकर यहां आया था। मैंने सबसे पहले यह देखना चाहा कि इस पत्र को भेजने वाला कौन है और जो देखा, तो तलवों और हथेलियों मे एक सनसनी फैल गई। यह पत्र मेरे नाम सुनन्दा जीजी ने डाला था। मैंने अब हिंगोरानी को यह जतलाया कि बातें हो चुकी और वह अपनी जगह पर चला जाए। मैंने कहा, "स्टेशन डायरेक्टर होने मे क्या रखा है? कुछ साल बाद इस कुर्सी पर तुम भी आ सकते हो। आदमी आता-जाता रहता है, पद वाली कुर्सी बरकरार रहती है। मैंने जो कुछ कहा है, सद्भावना से कहा है।" मगर अपनी इस इच्छा को वापस नहीं लिया कि संस्कृत कार्यक्रमों के ले-आउट वह मुझे दिखला ले।

"अच्छा सर!" कह कर वह चला गया।

रि-डायरेक्ट होकर आए और देर से मिले जीजी के पत्र को खोल कर जब मैंने पढ़ा, तो दुःख, ग्लानि और घृणा से भर उठा।

दुःख ! मैं जीजी की इस परेशानी में किसी भी तरह हाथ न बटा सका।

ग्लानि ! ! आदमी को इतना नहीं बदल जाना चाहिए कि उसी से कट कर रहना पसन्द करने लगे, जो अतीत से वर्तमान तक उसके हित का मार्ग प्रशस्त करता रहा।

घृणा ! ! !

इसका पात्र बन कर यह साहित्यसुमेरु ओंकार शास्त्री मेरी दृष्टि के आमने-सामने आ खड़ा हो गया था।

जीजी ने बड़ी सरलता से लिखा था—

इस बार यदि पटना आओगे, तो मुझे बहुत आसानी से नहीं पहचान सकोगे। कलाई से नीचे तक दायां हाथ और आधे से ज्यादा चेहरा जल गया। आंखें बच गईं, यह न कहो ! वरना अंधी ही हो जाती। जले हुए अंश सफेद पड़ गए हैं। 'ये' दिन-रात मेरी सेवा में लगे रहे। रात-रात-भर जागे।

अवसर हाथ लगे, तो आना। बहुत याद आते हो।

क्या कुछ दिनों के लिए तुम्हारा तबादला पटना नहीं हो सकता ? हो सकता है, तो कराने की कोशिश करना। हरदोई से माताजी का पत्र आया है। वहां सब सकुशल हैं। तुम्हारे घर का भी हाल-चाल उन्होंने लिखा है। वहां भी सब राजी-खुशी हैं।

कुछ निश्चित रूप से नहीं कह सकती कि मैं हरदोई कब जा सकूंगी। वैसे दिल बहुत कर रहा है कि हरदोई जाऊं। नुमाइश का लगना शुरू हो गया होगा। देखो, ईश्वर की क्या इच्छा है। अगर मैं हरदोई गई और संयोगवश तुम भी उधर से आ गए, तो मिलना हो जाएगा। नुमाइश में तुम्हारे साथ छोले-बटोरे खाने की याद आ जाया करती है। तुम बड़े शैतान थे। दुकानदार को खूब छकाते थे। देखते-देखते बताशे मुंह में डाल लेते और उससे कहते थे कि तुमने तो दिए ही नहीं। दुकान से अलग हटने पर मैं तुम्हें डांटती थी और तुम फिर ऐसी शरारत न करने की क़समें

खाते थे।

दुलहिन के समाचार देना। बच्चे आनन्दपूर्वक हैं तो। 'ये' तुम्हें आशीष कहते हैं। दुलहिन को नमस्ते तथा बच्चों को प्यार!

पत्र का उत्तर शीघ्र दोगे।

तुम्हारी बहिन
सुनन्दा।

मैं अपने को उन लोगों में शुमार करता हूं, जो वास्तव में धूर्त होते और अपने को सरल-सहज बतलाते हैं। पिछली बार जब मैं इन्दौर से पटना जीजी के पास आया था, तो अपनी मनःस्थिति ऐसी थी कि मैं चाह रहा था—मेनका से अलग हो जाऊं। उस अनाम पत्र लेखक के पत्र के आधार पर गोपनीय ढंग से मेनका के विषय में जांच-पड़ताल करूं-कराऊं और फिर तलाक लेने के लिए अदालत की शरण लूं। मगर यह जीजी ही तो हैं, जिन्होंने मेरे हृदय के तिमिराच्छन्न क्षितिज के विस्तार-बिन्दु पर एक प्रकाश का विस्फोट किया था। मेरा छोटा-सा परिवार टूटने से साफ बच गया।

जीजी ने धधकते हुए अग्निकुण्ड में अजस्र धारा वाली स्रोतस्विनी को उंडेल दिया; अन्यथा अब तक जाने मैं कितनी उंगलियों का मकेन-केन्द्र बन चुका होता। दुःख हुआ कि जीजी ने जीवन में कुछ भी तो नहीं पाया। ऊपर से जैसा कि लिखा था, शक्ल बिगड़ गई। ग्लानि अब तक उनके पास नहीं पहुंच पाने के कारण हुई। किन्तु, मैंने इन दोनों को अपने दिल के चौखट पर ही धक्का दे दिया—आग में जलने पर जला हुआ अंश विकृत होगा ही और नहीं मिल पाने के लिए भला इतनी ग्लानि क्यों? इतनी सी बात पर इन्दौर से यहां पहुंच पाना आसान भी नहीं था। आज आदमी अपने आप में इतना व्यस्त है कि वह चाहे भी, ज्यादा सामाजिक नहीं बन सकता। आदमी का एक-एक कदम सवालों की भीड़ से होकर गुजर रहा है। बड़े-बड़े शहरों में तो लोग पड़ोसी तक को ठीक से नहीं जानते। कई मंजिल के मकान, जैसे माचिस की डिब्बियां एक-पर-एक करके रख दी गई हों। नीचे वाली डिब्बी में कौन रहता है, ऊपर वाला जानने की कोशिश नहीं करता। वह अपने धन्धे से लौटता और धड़धड़ाता

ऊपर चला जाता है। लेद मशीन से पैसे निकालने वाला भगवान से रोज मनाता है कि लोगों की मशीनों के पुर्जे घिसें, तो अपना काम बने। वह इस बात पर ध्यान भी नहीं देता कि बगल वाला भाटिया जो दमे से परेशान है। आजकल उसे रोज दौरा आता है। भगवान् जाने उसका क्या होगा। बच्चे तो हैं, मगर सब छोटे-छोटे। मोटर पार्ट्स की दुकान करने वाला सोचता है—रोज दस-पांच बसों के चालक अपने मालिकों के साथ यह शिकायत लेकर पहुंचें कि बस का क्राऊन एकदम बेकार हो गया है। कम्पनी से क्राऊन की सप्लायी बहुत कम हो रही है। मनमाना दाम वसूलने का यही मौका है। किरानी फाइलें दाबता है कि जरूरतमन्द चुपके से मरोड़े हुए नोट जेब में डाल जाए, तो फाइल पर से पेपरवेट हटाया जाए। मिनिस्टर बड़े-बड़े अफसरों के ट्रांसफर, पोस्टिंग और सस्पेंशन की फाइल पर पहले हाथ लगाना चाहता है, बशर्ते कि चमचे ने इशारा कर दिया हो कि इन-इन मामलों के लिए सौदा तय हो चुका है। कालेबाजारिये काले बाजार में नकाब डाले चक्कर लगाते होते हैं। लगता है, कोई बेकार नहीं है। और जब बेकारी नहीं है, तो फिर इन औपचारिकताओं के लिए फुर्सत कहां? मैं भी रोज महानिदेशक की डाकें खोला करता हूं। मैं क्या कोई चैन की जिन्दगी बिता रहा हूं?

इस प्रकार मैंने बहुत सारे हालातों के चित्र बनाए और तब लगा कि मेरा ग्लानिग्रस्त होना निरर्थक है। और बच गया आक्रोश, तो वह टिका रह गया। उसके निराकरण का मैंने कोई आयाम भी नहीं ढूंढा। इसका कारण? कारण था—ओंकार शास्त्री का व्यक्तित्व, जो बाहर और भीतर—दोनों ओर से मुझे सालता था, काटता था। मेरे आक्रोश का एक अंश जीजी की ओर भी उन्मुख हुआ। क्या जीजी का अस्तित्व मात्र उस आदमी को सुख-सुविधा पहुंचाने के ही निमित्त है? जीजी के पास क्या वाणी नहीं है, क्या दुःख-सुख को अनुभव करने वाला मस्तिष्क नहीं है या स्वयं जीजी ने ही उसे सायास अनुभूतिशून्य कर रखा है?

मन को हल्का करने के लिए दूसरा सरकारी लिफाफा खोलता हूं और इस सूचना से अवगत होता हूं कि सुहास लखनऊ से पटना आ रहा है और अब वह गजटेड अफसर हो गया है—प्रोग्राम एक्जिक्यूटिव-कार्यक्रम

अधिशासी ! आओ भाई, आओ ! मन कह उठा।

मैंने अप्रत्याशित मानसिक भार को टालना चाहा—अब सुहास यहां आ जाए, तो उसके साथ ही जीजी के पास जाऊंगा। और हां, जाने से पूर्व ही उसे बतला दूंगा कि ओंकारनाथ शास्त्री की पत्नी का मायका हरदोई में बिल्कुल मेरे घर के पास ही है। जब मैं छोटा था, तब वे मुझे बहुत प्यार करती थीं और उन्होंने पूरे दिल से मुझे अपना अनुज बना लिया था। साथ ही यह भी कहने का संकल्प किया—अब शास्त्री जी चाहे जैसे भी हों, मेरा मतलब तो बस जीजी से है।

सुभाषी सुहास जब कई दिनों तक केन्द्र में नहीं पहुंचा, तो मैंने यह अनुमान लगाया कि वह आवागमन के लिए मिली छुट्टी का उपयोग कर रहा होगा। अच्छा है, यह जीजी से मिलने की स्थिति जब तक टल सके, टलती रहे।

मेनका के गर्भ में तीसरी सन्तान आ गई थी। पर, अभी उस स्थिति में महीनों का विलम्ब था, जब प्रसवकाल के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। लेकिन, वह अभी से थकी-थकी नजर आती थी। घरेलू कार्यों में रुचि कम लेने लगी थी। वह आरामकुर्सी या पलंग पर लेटी रहने के बहाने ढूंढा करती थी। धर्मपाल का ही शरीर नोचती थी। वह बहुत थोड़ी देर के लिए रसोईघर में जाती थी। मैं भी कुछ नहीं बोलता था। कोई कष्ट होने लगे, तो सारी जिम्मेवारियां मेरे ही सिर ठुक जाएं।

एक रविवार को मैंने मेनका से कहा, "चलो, आज हम खुद सब्जियां ले आएं। तुम्हारा थोड़ा जी भी बहल जाएगा।"

"सब्जियां तो स्टेशन से धर्मपाल भी ले आएगा।" वह बोली।

पौने चार बजने को थे। मैंने कहा, "वह तो बराबर ले ही आता है। चलो, आज हम चलें और दूसरी जगह।"

"दूसरी जगह, कहां ?" उसने पूछा।

मैंने बतलाया, "उस जगह को यहां वाले अटा घाट कहते हैं। सब्जियों का बड़ा भारी बाजार लगता है। गंगा के पार से किसान नावों पर आते हैं और अपनी सब्जियां थोक भाव से सब्जी विक्रेताओं के हाथ बेच जाते हैं। चलो, दस मिनट में तुम्हें गंगा किनारे की सैर करा दूंगा।"

"गंगा किनारे ?"

"हां, गंगा किनारे। लॉन के उत्तर कलेक्टरेट है। ठीक उसी से सटे गंगा का किनारा। महेन्द्रू घाट भी देख लेना। स्टीमरें वहीं रुकती हैं। बड़ा ही आकर्षक स्टेशन बन गया है। दो मंजिला है। दूसरी मंजिल पर शानदार होटल है और नदी की ओर बना एक सुन्दर लाउंज भी। वहां खड़ी होकर देखोगी, तो गंगा की धारा बड़ी प्यारी-प्यारी लगेगी।"

"मगर बच्चे पीछा करेंगे।"

"उन्हें मैं ठग-फुसला लूंगा।"

'क्या कहोगे आखिर ?"

"कहूंगा, तुम लोग यहीं रहो। मैं सिनेमा का टिकट लेने जा रहा हूं। हम लौट कर आएंगे और तुम्हें ले चलेंगे। टिकटघर की खिड़की पर भारी भीड़ होती है। इसीलिए तुम्हारी मम्मी को लिए जा रहा हूं। फिमेल काउण्टर पर कोई खास भीड़ नहीं होती। ये आसानी से टिकट ले लेंगी।"

मेनका मुस्करायी। बोली, "खूब जुगत सूझी तुम्हें।"

मेरे पास नया स्कूटर था। उसकी डिकी में मैंने प्लास्टिक का एक थैला भी डाल लिया। बच्चों को जैसे फुसला देने का तय किया था, वैसे ही उन्हें फुसला दिया। सिनेमा देखने की आशा में वे खुशियों से भर उठे। धर्मपाल पर उन्हें और क्वार्टर छोड़कर हम स्कूटर पर सवार हो अंटा घाट के लिए चल पड़े। मुश्किल से आठ मिनट का समय लगा। मेनका ने गंगा तट की शोभा का आनन्द जी भर कर लिया। प्रशंसा करती हुई बोली, "हमारी ओर लोग गंगादर्शन को तरसते हैं।"

मैंने भी कुछ शब्द जोड़े, "हरदोई से भी बड़े-बड़े पर्वों के अवसरों पर कानपुर के लिए बसें छूटती हैं। कार्तिक पूर्णिमा के अवसर पर तो बस वालों के रंग ही कुछ और होते हैं। ड्योढ़ा भाड़ा वसूलते हैं। इसी शोषण से बचने के लिए कई गंगास्नानार्थी परिवार मिलकर बस रिजर्व करा लेते हैं। दो-ढाई बजे रात से ही बसें खुलने लगती हैं।"

"अरे वाह ! अब तो जी यही चाहता है कि हर रविवार को शाम यहां आया करूं।" प्रसन्न होकर मेनका बोली।

मैंने कहा, "हर रविवार को तो नहीं, मगर यदाकदा जब कहोगी,

तुम्हें ले आया करूंगा। वैसे तुम धर्मपाल को लेकर भी आ-जा सकती हो।"

"हां, यह भी हो सकता है।"

अब हम सब्जियों के बाजार में चले आए। मैं स्कूटर घसीटता चलता और मेनका सब्जी वाले या सब्जी वाली से मोल-भाव करती। जो चाहती, अपने हिसाब से खरीद लेती और मैं डिक्की में डाल लेता। यह बाजार जैसे सब्जियों का मीना बाजार था। मौसम की शायद ही कोई सब्जी हो, जो उपलब्ध न हो। बहुत-से लोग जी० पी० ओ० के सामने से भी सब्जियां ले आया करते थे। मगर दाम में अन्तर होता था। पालक का साग स्टेशन पर चालीस पैसे किलो तो यहां पच्चीस पैसे किलो। मूल्यों में कमी होने के कारण भी यह बाजार लोगों के आकर्षण का केन्द्र था। खरीदारों के कन्धे एक-दूसरे से खूब टकराते थे। कोई साईकिल थामे होता, तो कोई स्कूटर घसीटता होता, कोई पैदल। बीच-बीच में जहां-तहां सब्जियों के टोकरों में मुंह मारते गायों-बैलों और सांडों को भी बड़ी आसानी से देखा जा सकता था। इनके कारण 'बचो-बचो' की ऊंची आवाजें खूब सुनने को मिला करतीं। अभी कुछ ऐसा ही हुआ। मेनका हरी धनिया की पत्तियां और नीबू डिक्की में डाल ही रही थी कि एक कद्दावर सांड पूरब की ओर से झूमता हुआ आता दिखा। वह बिल्कुल हमारी ओर ही बढ़ता चला आ रहा था। मैंने मेनका को बचाने की कोशिश की और खुद भी बचना चाहा। संयोगवश बीच में ही किसी कुंजड़े ने सांड के घूमने पर किसी मोटे डण्डे से प्रहार किया और सांड एक तरह से फुफकारता हुआ अर्द्धचन्द्र-सा वृत्त बनाकर विपरीत दिशा की ओर निकल गया। अब उधर भगदड़ मची।

इसी समय मैंने एक ऐसी महिला को देखा, जो हूबहू सुनन्दा जीजी लगी। सचमुच दाएं हाथ और चेहरे पर जल जाने के चिह्न थे—सुफेद-सुर्फेद! वही कद, वही चलने का ढंग, भावभंगी पर वही सौम्यता। बाएं हाथ में मंझोले आकार का एक झोला। वे उसी ओर थीं, जिधर सांड इधर से अभी-अभी भागा था।

मैं चंचल हो उठा।

मुझे सन्देह नहीं रहा कि वह महिला कौन है ? सन्देह देखते-देखते विश्वास में परिवर्तित हो चुका था। हम दोनों को कुछ और खरीदने के लिए उसी ओर बढ़ना था। किन्तु, मेरा व्यक्तित्व चाहे जैसा भी रहा हो, वह चीत्कार कर पीछे की ओर भागा। मैंने फौरन मेनका से कहा, "चलो, अब तो दो-तीन रोज के लिए सब्जियां हो गईं। और कुछ क्या खरीदोगी। बासी सब्जी पकाने का इरादा हो, तो वह दूसरी बात है। चलो-चलो, इससे बेहतर है कि हम मेन रोड पर चलकर एक-एक कप कॉफी का मजा लें।"

मैं इतने सारे वाक्य जैसे एक सांस में और जल्दी-जल्दी कह गया और मेनका की प्रतिक्रिया जाने बिना स्कूटर को पीछे की ओर मोड़ने लगा। मैंने भीड़ से आगे निकलते हुए कहा, "मुझे पता नहीं था कि यहां ये आवारे सांड-बैल भी चौकड़ी भरा करते हैं। पता होता, तो इतना अन्दर आता भी नहीं।"

मुझे बड़ी जल्दी थी। मुझे डर लगने लगा था कि कहीं बाजार से बाहर निकल जाने में मैं चूक गया, तो जीजी की नजर हम पर जरूर पड़ जाएगी और वे आवाज लगाना शुरू कर देंगी—हितू, ऐ हितू, हितेन्द्र···?

मेनका के मन में जाने क्या आया कि उसने पूछ दिया, "क्यों जी, तुम इस क़दर परेशान क्यों हो रहे हो ?"

मैं बोला, "यहां जान पर आफत है और तुम पूछ रही हो कि इस क़दर परेशान क्यों हो रहे हो ?"

अब मेनका ने कुछ नहीं पूछा। वह स्कूटर पर मेरे साथ चल पड़ी। मैं उसे लेकर मुश्किल से तीन-चार मिनट में भारत कॉफी हाऊस आ पहुंचा। स्कूटर सामने लगा दी।

भारत कॉफी हाऊस का रुख उत्तर की ओर था। बीच में बस स्टैंड के पास से मुख्य विशाल जनपथ पश्चिम की ओर से आता और पूरब की ओर निकल जाता था। पटना-निवासी इस पथ को 'अशोक राजपथ' कहते हैं। कॉफी हाऊस के ठीक सामने सड़क के उस पार बिहार नेशनल कॉलेज है और इसी कॉलेज के पिछवाड़े वाली सड़क के दोनों किनारे यह सब्जीमण्डी है, जिसमें मैंने जीजी को देखा था।

मैंने मेनका के लिए उड़द की दाल से तैयार खास प्रकार के मद्रासी पकौड़े मंगवाए। मैंने पकौड़े को हाथ तक नहीं लगाया। सच तो यह है कि मेनका को मात्र खुश रखने के लिए मैंने किसी तरह कॉफी पी ली। मेनका ने अब स्वयं लौट चलने का पहल किया। बोली, "चलो, बच्चे परेशान होंगे।"

हम लौट पड़े।

खाना खाकर सोने चले। हम दोनों के पलंग आसपास पड़े होते। बीच में काफी स्थान होता। धर्मपाल सो गया, दोनों बच्चे सो गए, मेनका सो गई, मगर मैं जागता रहा। यह जागरण कुछ सामान्य न था। आँखें स्वयं झपकने को तैयार न थीं। जीजी अपनी पूरी शक्ति के साथ स्मृतिपटल पर उभरती रहीं। निस्तब्ध रात्रि में मन के इस वन में मात्र एक पंछी जाग रहा था। शरीर के डैने नहीं, मन के डैने फड़फड़ा रहा था और वह अकेला पंछी मैं यानी हितेन्द्र था। अनुमान यह भी किया जा सकता है कि यदि जीजी बिल्कुल मेरे पास आ जाती, तो मैं उनके प्रति विनम्र हो उठता, पर अभी तो मैं उनके प्रति उद्दण्ड ही हो आया था। मैं शास्त्री जी को एक ओर हटाकर उन पर ही अपना एकान्त क्रोध व्यक्त करने लगा। उसी सूरत-शक्ल में, आकृति-मुखाकृति में उनकी अनुकृति मेरे पास थी। मैं चाहे जिस ओर करवट बदलता, वह बाएं हाथ में झोला लिए खड़ी हैं। मैं उनसे बार-बार एक ही प्रकार के दो-तीन प्रश्न करता—जीजी, तुम यह झोला लिए क्यों बाजार में भटक रही हो? तुमने ऐसी जीवनशैली को किस स्वर्णिम भविष्य की आशा में अपनाया है और यह कि तुमने अब तक अपने आदमी को इस बात के लिए क्यों नहीं प्रेरित किया कि वह एक लगी-बंधी आमदनी वाली नौकरी पकड़ ले?

मुझे उस रात यह भान होने लगा कि इन सारी परिस्थितियों के लिए शास्त्री नहीं, बल्कि मुनन्दा जिम्मेवार है। शादी हो जाने के बाद एक से बढ़कर एक आलसी पुरुष कर्मशील हो उठता है। पत्नी उठकर कुछ करने की प्रेरणा देती है। जीजी कैसी पत्नी निकली भला। खूंटा पहले में जहां गड़ा हुआ था, वहां से उसे टस-से-मस न होने दिया।

इस बात का मुझे सख्त अफसोस होने लगा कि इतनी आसा-

पटना के लिए अपना स्थानान्तरण क्यों स्वीकार कर लिया ? न काम बनता, न सही, एक बार दिल्ली जाकर महानिदेशालय के दरवाजे पर धक्के तो लगा आता। एक और शंका ने मन में बसेरा बना लिया। जीजी ने वास्तव में कहीं हमें देख न लिया हो और कुछ सोचकर न बुलाया हो, न पुकारा हो। इस शंका के कारण लगने लगा कि उनकी पुकार मेरे कानों में पड़ने ही वाली है। सोचा—भागने की अपेक्षा ज्यादा अच्छा यही रहेगा कि पुकार सुनने से पहले ऊंची आवाज़ में कहूं—अच्छा, आ रहा हूं।

२५

यह चराचर विश्व क्या है, क्यों है और इसके अस्तित्व का मूल सूत्र किसके हाथों में है ? यह प्राणिजगत क्यों गतिमान है, इसकी गतिमानता की क्या सार्थकता है, इस जगत में क्यों इतनी लीलाएं होती हैं, उन लीलाओं का सूत्रधार कौन है ? एक या अनेक अथवा एक भी है और अनेक भी ? एक अनेक से स्पन्दित होता है अथवा अनेक से एक ? या एक और अनेक परस्पर आश्रित हैं ? जन्म, जरा, मरण और पुनर्जन्म—ये सब इस जगत के कौन सारे झमेले हैं ? प्रेम-विछोह, विरह-मिलन, कुण्ठा और आत्मत्रास, आत्मप्रवंचना और आत्मकुण्ठा—इन शब्दों और स्थितियों का नियमन और सम्पादन अन्ततः किसके द्वारा होता है ? ये सारे प्रश्न आज तक विचारणीय ही हैं। एक समाधान कर देता है, तो दूसरा उसके समाधान का खण्डन कर देता है। लीजिए—जाल का चक्कर। उछलो-कूदो, चौकड़ी भरो और फिर थक कर दम मारने लगो। बहुत झंझट है इन बातों में। सीधी-सी बात कि कुछ ऐसा करो कि रोजी-रोटी का डौल लगे। मस्तिष्क को ज्यादा खपाने से इस मामले में कोई अन्तर नहीं पड़ सकता। गृहस्थाश्रम में रहते हुए तपःपूत, साधक, ऋषि और तपस्वी कहलाने का सुख कुछ वैसा ही तत्त्व है, जिसके नाम से तो हम अवगत

होते हैं, पर जिसे न तो स्पर्श कर सकते, न देख सकते और न जिसमें मनोनुकूल परिवर्तन कर सकते हैं। तो फिर इस ऊहापोह के वन में क्यों इस पार से उस पार तक चक्कर लगाया जाए? जैसे मेरे कानों में कोई चुपके से कह गया—इन सभी खुराफातों की जड़ यह ओंकार शास्त्री तो है ही, तुम्हारी जीजी भी बस वैसी ही हैं। अच्छी-खासी जोड़ी है।—और उसने बड़े जोरों का ठहाका लगाया।

कई बार जी में आया, जीजी से मिल लूं। जो लोग रेडियो स्टेशन के कार्यक्रमों में भाग लेते हैं, उनके पते रेडियो स्टेशन में होते हैं। फिर एक-दूसरे विचार ने इस इच्छा पर प्रहार किया—आना-जाना शुरू करके देखो कि आए दिन जीजी खड़ी रहेंगी। जीजी के साथ शायद ओंकार शास्त्री भी, जो भाषा और साहित्य के उद्यान में आकाश के समस्त नक्षत्रों को ला उतारने के लिए शास्त्रवासना में लिप्त हैं। जीजी तुमसे अधिकार-पूर्ण स्वर और भावभंगिमा में बोलेंगी और तुम यहां जिन लोगों के बीच रहते हो, वे पीठ-पीछे तुम्हारा उपहास करेंगे। हृदय से जीजी का सम्मान करो, व्यवहार में अपने को उनसे पृथक् बनाए रखो।

मिसेज चड्ढा, मिसेज बाबा, मिसेज सहगल, मिसेज नाज, मिसेज चौधरी, मिसेज बनर्जी, फिर इनके अलग-अलग मिस्टर। सभी बड़ी आन-बान-शान से रहते हैं। झूले, पेराम्बुलेटर, लाउंज में जड़ी हुई विविधवर्णी छतरी, उसके नीचे लगी कुर्सियां, इनके सुहाने-मन-भावने बच्चे कितने प्यारे हैं। लाउंज या बरामदे में खड़े रहते हैं, तो गुड्डे-जैसे लगते हैं। मेरे मन में आया—इस माहौल में भला जीजी की उपस्थिति कैसी लगेगी। ये बच्चे तो जानते ही नहीं कि 'मां' अथवा 'पिताजी' अथवा 'चाचीजी' सम्बोधन हमारी भारतीय संस्कृति के प्रतीक हैं। 'माताजी' कहकर बच्चे पुकार दें, तो मां समझेंगी कि बच्चा उन्हें गाली दे रहा है। मेरा दिल तो नहीं था, मगर मेनका ने बच्चों का पूरा यूरोपीयकरण कर दिया था। मैंने भी सुलह कर ली थी कि हां भई चलने दो। बगुला तूफान में उड़ेगा, तो धराशायी होगा।

सुहास लखनऊ से आ चुका था और अब बाकायदे एक विभाग का प्रभारी बन गया था। आचार से मेरे प्रति उसकी जो विनम्रता पहले

पटना के लिए अपना स्थानान्तरण क्यों स्वीकार कर लिया ? न काम बनता, न सही, एक बार दिल्ली जाकर महानिदेशालय के दरवाजे पर धक्के तो लगा आता। एक और शंका ने मन में बसेरा बना लिया। जीजी ने वास्तव में कहीं हमें देख न लिया हो और कुछ सोचकर न बुलाया हो, न पुकारा हो। इस शंका के कारण लगने लगा कि उनकी पुकार मेरे कानों में पड़ने ही वाली है। सोचा—भागने की अपेक्षा ज्यादा अच्छा यही रहेगा कि पुकार सुनने से पहले ऊंची आवाज़ में कहूं—अच्छा, आ रहा हूं।

२५

यह चराचर विश्व क्या है, क्यों है और इसके अस्तित्व का मूल सूत्र किसके हाथों में है ? यह प्राणिजगत क्यों गतिमान है, इसकी गतिमानता की क्या सार्थकता है, इस जगत में क्यों इतनी लीलाएं होती हैं, उन लीलाओं का सूत्रधार कौन है ? एक या अनेक अथवा एक भी है और अनेक भी ? एक अनेक से स्पन्दित होता है अथवा अनेक से एक ? या एक और अनेक परस्पर आश्रित हैं ? जन्म, जरा, मरण और पुनर्जन्म—ये सब इस जगत के कौन सारे झमेले हैं ? प्रेम-विछोह, विरह-मिलन, कुण्ठा और आत्मग्रास, आत्मप्रवंचना और आत्मकुण्ठा—इन शब्दों और स्थितियों का नियमन और सम्पादन अन्ततः किसके द्वारा होता है ? ये सारे प्रश्न आज तक विचारणीय ही हैं। एक समाधान कर देता है, तो दूसरा उसके समाधान का खण्डन कर देता है। लीजिए—जाल का चक्कर। उछलो-कूदो, चौकड़ी भरो और फिर थक कर दम मारने लगो। बहुत झंझट है इन बातों में। सीधी-सी बात कि कुछ ऐसा करो कि रोजी-रोटी का डौल लगे। मस्तिष्क को ज्यादा खपाने से इस मामले में कोई अन्तर नहीं पड़ सकता। गृहस्थाश्रम में रहते हुए तपःपूत, साधक, ऋषि और तपस्वी कहलाने का सुख कुछ वैसा ही तत्त्व है, जिसके नाम से तो हम अवगत

होते हैं, पर जिसे न तो स्पर्श कर सकते, न देख सकते और न जिसमें मनोनुकूल परिवर्तन कर सकते हैं। तो फिर इस ऊहापोह के वन में क्यों इस पार से उस पार तक चक्कर लगाया जाए? जैसे मेरे कानों में कोई चुपके से कह गया—इन सभी खुराफातों की जड़ यह ओंकार शास्त्री तो है ही, तुम्हारी जीजी भी बस वैसी ही हैं। अच्छी-खासी जोड़ी है।—और उसने बड़े जोरों का ठहाका लगाया।

कई बार जी में आया, जीजी से मिल लूं। जो लोग रेडियो स्टेशन के कार्यक्रमों में भाग लेते हैं, उनके पते रेडियो स्टेशन में होते हैं। फिर एक-दूसरे विचार ने इस इच्छा पर प्रहार किया—आना-जाना शुरू करके देखो कि आए दिन जीजी खड़ी रहेंगी। जीजी के साथ शायद ओंकार शास्त्री भी, जो भाषा और साहित्य के उद्यान में आकाश के समस्त नक्षत्रों को ला उतारने के लिए शास्त्रवासना में लिप्त है। जीजी तुमसे अधिकार-पूर्ण स्वर और भावभंगिमा में बोलेंगी और तुम यहां जिन लोगों के बीच रहते हो, वे पीठ-पीछे तुम्हारा उपहास करेंगे। हृदय से जीजी का सम्मान करो, व्यवहार में अपने को उनसे पृथक् बनाए रखो।

मिसेज चड्ढा, मिसेज बावा, मिसेज सहगल, मिसेज नाज, मिसेज चौधरी, मिसेज बनर्जी, फिर इनके अलग-अलग मिस्टर। सभी बड़ी आन-बान-शान से रहते हैं। झूले, पेराम्बुलेटर, लाउंज में जड़ी हुई विविधवर्णी छतरी, उसके नीचे लगी कुर्सियां, इनके सुहाने-मन-भावने बच्चे कितने प्यारे हैं। लाउंज या बरामदों में खड़े रहते है, तो गुड्डे-जैसे लगते हैं। मेरे मन में आया—इस माहौल में भला जीजी की उपस्थिति कैसी लगेगी। ये बच्चे तो जानते ही नहीं कि 'मां' अथवा 'पिताजी' अथवा 'चाचीजी' सम्बोधन हमारी भारतीय संस्कृति के प्रतीक हैं। 'माताजी' कहकर बच्चे पुकार दें, तो मां समझेंगी कि बच्चा उन्हें गाली दे रहा है। मेरा दिल तो नहीं था, मगर मेनका ने बच्चों का पूरा यूरोपीयकरण कर दिया था। मैंने भी सुलह कर ली थी कि हां भई चलने दो। बगुला तूफान में उड़ेगा, तो धराशायी होगा।

सुहास लखनऊ से आ चुका था और अब बाकायदे एक विभाग का प्रभारी बन गया था। आचार से मेरे प्रति उसकी जो विनम्रता पहले थी,

वह कभी भी बरक़रार थी। उसने मुझे बतलाया था कि उसे दो कमरों का एक छोटा-सा घर मिल गया है। वह मुहल्ला लॉन के काफी पूरब जाने पर बायीं ओर पड़ता है। मुहल्ले का नाम है—फकीरवाड़ा। मैं जीजी के पास जाने और न जाने के दोराहे पर अभी खड़ा ही था कि सुहास मेरे पास कोई फाइल लेकर आया। चेम्बर में मैं था और वह। मैंने उससे कहा, "सुहास, पांच मिनट बैठ रहो। अभी तुम्हारी फाइल देखता हूं।"

"जी अच्छा सर, देखा जाए।"

मैं अपने सामने पड़े कुछ महत्त्वपूर्ण पत्रों को देख रहा था, जो महानिदेशालय से आए थे। सुहास पहले से मेरे मुंह लग चुका था। लेकिन, एक बात स्पष्ट कर दूं कि वह मात्र बौद्धिक स्तर पर ही मेरी बातों को कभी-कभार काटता था। आफिसियल कामों में वह ऐसा रुख नहीं अपनाता था। कुछ कहना भी होता, तो विनम्रतापूर्वक ही कहता था। मैं लाल पेन्सिल से पत्रों के कोनों पर कुछ खास शब्द लिखकर बायीं ओर पलट कर दाबता चला जा रहा था। तभी सुहास ने एकाएक कहा, "शास्त्री जी फकीरवाड़ा में ही रहते हैं।"

"अरे!"

"हां, मैं एक गली के इस छोर पर हूं, वे दूसरे छोर पर।"

मैं भीतर से गम्भीर हुआ, पर बड़े सहज भाव से बोला, "अच्छा, अच्छा! लगता है, उन्होंने मकान बदल लिया।"

"आप कहते हैं दिल्ली, कलकत्ता और बम्बई में मकानों की किल्लत होती है, मगर यहां तो वही हाल देखने को मिल रहा है। शास्त्री जी वाला मकान, मकान नहीं सर, दरबा है। तब यह है कि दो प्राणी हैं, गुजर कर लेते हैं।"

मेरे मुंह से निकल पड़ा, "अच्छा है कि बेचारे दो ही प्राणी हैं। तीसरा-चौथा होता, तो जाने क्या स्थिति होती।" इन शब्दों के माध्यम से मैंने एक प्रकार से व्यंग्य कसा था। पर, शीघ्र ही अफसोस होने लगा कि सुहास बुरा न मान ले। शास्त्री के प्रति वह श्रद्धावान् है, इसे मैं जानता था। किन्तु, स्थिति संभल गई। शास्त्री जी के विषय में मैंने जो कुछ कहा था, सुहास ने उसे सुन कर समझा कि मैंने सहानुभूति व्यक्त की है। और,

फिर मुझसे इसी क्षण एक भूल यह हो गई कि मैंने सुहास से कह दिया, "सुहास, चलो, एक दिन हम उनके घर चलें।"

सुहास सहम कर बोला, "चला जाए।"

मैंने पूछा, "क्यों, चलना ठीक नहीं रहेगा? अरे भई, यह फाइलों का उलटना-पलटना और डी० जी० की डाक देखना तो लगा ही रहेगा। थोड़ी देर किसी चोटी के विद्वान के पास बैठा जाए, तो क्या हानि है?"

सुहास ने कहा, "हानि क्या है? इसे सौभाग्य ही समझना चाहिए। लेकिन, सर, वे तो यहां कभी-कभार स्वयं आते हैं। संस्कृत कार्यक्रमों में उनकी बुकिंग होती रहती है।"

मैंने अनजान बन कर पूछा, "होती रहती है?"

"जी हां, होती रहती है। मुझसे सीधा परिचय तो नहीं, मगर पहचानता तो हूं ही। फिर हम डॉ० हिंगोरानी को कह दे सकते हैं। शास्त्री जी आते हैं, तो उनके ही पास बैठते हैं।"

"क्यों उनके घर चलने में क्या हर्ज है?" मैंने पूछा।

सुहास बोला, "एक तो शास्त्री जी के पास समय का अभाव है, दूसरे आपको बिठाने में उन्हें परेशानी होगी।"

मैंने जैसे मुखौटा पहन लिया। कहा, "मेरी ओर शहर में शायद ही कोई आदमी धोती पहनता हो। मगर, मैं शास्त्री जी के घर धोती पहन कर चलूंगा। चटाई पर बिठाएंगे, चटाई पर बैठूंगा। चाय-नाश्ते की पूछेंगे, हाथ जोड़कर विनम्रतापूर्वक क्षमा मांग लूंगा।"

पिछली बार जब मैं जीजी के पास इन्दौर में आया था, देखा था कि घर में बिछावन का अभाव है। कमरे के एक कोने में दो चटाइयां बिछी थीं और उन चटाइयों पर मैंने कई खटमलों को टहलते-मचलते भी देखा था। जीजी ने दोपहर में खुली धूप में शायद इसीलिए उन्हें फैलाकर रख दिया था कि खटमल नष्ट हो जाएं। तब मैंने अपने से यह प्रश्न भी किया था कि इन स्थितियों को लेकर जीजी में किसी प्रकार की हीनानुभूति क्यों नहीं आती? चटाई फैलाकर वे मेरे पास आई थीं। आकर कहा था, "खटमलों ने बहुत परेशान कर रखा है। खाट और चारपाई में तो खटमल मारने वाला पाउडर डाल दिया था। मगर इन चटाइयों में न डाल सकी।

हद यहां तक हो गई कि इनकी कुर्सी-मेज तक में खटमलों ने वसेरा बना लिया था।"

"अच्छा, यह बात है ?"

"हां हितू, ये बड़े ही चिरजीवी होते हैं।" जीजी ने कहा था।

उधर मेरी बातें सुनकर सुहास ने कहा, ठीक है सर, कभी चला जाए।"

मैं बोला, "मगर अभी यह बात किसी से न कहना भाई।"

"क्यों सर, इसमें भला कौन-सी हानि है ?"

मैंने उससे फाइल लेने के लिए अपना बायां हाथ बढ़ाते हुए कहा, "शास्त्री जी के मान-सम्मान की बात है। अगर शास्त्री जी को आगे कुछ ज्यादा प्रोग्राम मिले, तो यहां कानाफूसी शुरू हो जाएगी कि स्टेशन डायरेक्टर अपने दोस्तों को खुश करने के लिए···।"

सुहास ने फाइल मेरी ओर बढ़ा दी। फिर वह बोला, "शास्त्री जी को लेकर ऐसी कानाफूसी नहीं होनी चाहिए। वे हमारे कार्यक्रमों में सहयोग देते हैं, इसे हमें सौभाग्य ही मानना होगा। तब यह रेडियो स्टेशन है—टके सेर भाजी, टके सेर खाजा वाला बाजार। अपना ड्रामा प्रोड्यूसर कैसा है ? लगातार पांच मिनट खड़ी बोली बोलने में उसके होश फाख्ता होने लगते हैं। फौरन भागलपुर की बोली अंगिका पर उतर आता है। चौपाल में बातचीत का आलेख लिखा करता था और देखिए कि ड्रामा प्रोड्यूसर हो गया। बड़े-बड़े लेखकों के लिखे नाटक पर विचार करता है।"

बात सच थी। मगर मैंने कहा, "यह अराजकता सरकार के हर विभाग में है। बड़े-बड़े पदों पर ऐसे लोग बैठे हुए हैं। मंत्रिस्तर तक जिसकी पैरवी है, समझो, काबलियत के अखाड़े का वह हीरो है। मैं प्रोड्यूसर की सारी कमजोरियां जानता हूं, मगर कुछ बोल नहीं सकता।"

कौशिक अब तक स्टेशन छोड़ चुका था। वह प्रोग्राम एक्जिक्यूटिव था और नाटक विभाग का प्रभारी भी। वह लखनऊ से यहां आया था और फिर अहमदाबाद चला गया था। विभिन्न विभागों में प्रोड्यूसरों की नियुक्ति हो रही थी। उसी हो-हल्ला में यह प्रोड्यूसर की कुर्सी पर आ

जमा था। प्रोड्यूसर अपने विभाग के कार्यों के विशेषज्ञ माने जाने लगे थे। अजीब हवा चल गई थी। कई खोटे सिक्के अपना ड्योढ़ा दाम वसूलने लगे थे और कई खरे सिक्के रस्सी तुड़ा कर भाग रहे थे। भगवतीचरण वर्मा, विष्णु प्रभाकर और अमृतलाल नागर जैसी साहित्यिक हस्तियां आकाशवाणी की सेवा को एक ओर जहां अलविदा बोल रहे थे, वहीं दूसरी ओर बहुत सारी औसत प्रतिभा वाली हस्तियां पिछले दरवाजे से घुसी आ रही थीं। चुपके-चुपके ये जाली सिक्के रेडियो स्टेशन में घुसने के लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक कर रहे थे और प्रत्यक्षतः कहते थे—हम भला रेडियो की नौकरी में जाने वाले थे ? मुझे तो वहां धकेला जा रहा है।—इधर-उधर से इन दोमुंहे सांपों के बयान मुझे भी सुनने को मिल जाया करते थे।

इस प्रकार पटना केन्द्र में भी दो-एक खोटे सिक्के बतौर प्रोड्यूसर के आ गए थे। इनमें से सब-के-सब किसी-न-किसी राजनीतिक वी० आई० पी० से जुड़े हुए थे। एक-दो बार इस बात की ओर भी मेरा ध्यान गया कि क्यों नहीं महानिदेशालय ओंकारनाथ शास्त्री को आकाशवाणी की सेवा में आने के लिए प्रस्ताव भेजता ? किन्तु, मेरा यह ध्यान फौरन ही ऊंघने लगता था।

वह नौकरी नहीं करेगा और आकाशवाणी में तो हरगिज नहीं आएगा।

जीजी जितने सारे कष्ट झेल रही हैं, उन सबों के मूल में यही कत्थई रंग का कुरता धारण किए रहने वाला ओंकारनाथ शास्त्री है।

सुहास मेरे चेम्बर से चला गया। हम दोनों की वह बात एक तरह से अधूरी ही रह गई कि जीजी के पास यानी शास्त्री जी के घर में कैसे और कब जाऊं या यहां रेडियो स्टेशन में ही मिल लेना ठीक रहेगा। वैसे मुझे अफसोस भी होने लगा था कि सुहास से यह बात मैंने व्यर्थ ही छेड़ दी। शास्त्री भूले-भटके तो रेडियो स्टेशन आ ही जाएंगे और यह आदमी उन्हें लेकर शायद एकाएक मेरे चेम्बर में घुस आएगा। फिर बातें खुल जाएंगी। लेकिन, कुछ देर बाद मैंने दिल को ढाढ़स बधाया कि बात खुल ही जाएगी, तो सर पर कोई पहाड़ तो आकर गिर नहीं जाएगा। मुंहबोली बहन और

मुंहबोले बहनोई की सीमा ही कितनी बड़ी होती है ! मानो तो देव, नहीं तो पत्थर !

दफ्तर से छुट्टी पाकर क्वार्टर लौटा, तो मेनका मेरे पास आकर खड़ी हो गई। बड़ा वाला लड़का उचक-उचक कर अपने हाथों से मेरी टाई खोलने का यत्न करने लगा। छोटी वाली स्प्रिंग के बल पर दौड़ने वाले खिलौने खरगोश को लेकर पास आ खड़ी हुई। धर्मपाल उधर आंगन की ओर किसी काम में व्यस्त था। मेनका कहने लगी, "मैंने पड़ोस में कह दिया है कि मुझे एक नौकरानी चाहिए, जो मेरे बतला-समझा देने पर खाना बना ले, साथ ही कुछ छोटे-मोटे काम भी कर ले। हां, सिर्फ़ चोर न हो। चोर-चमार से मैं सख्त नफ़रत करती हूं···।"

मैं जानबूझ कर कुछ झुक गया, ताकि पराग मेरी टाई खोल सके। मोना खरगोश के बारे में कुछ बतलाना चाहती थी। उसकी छोटी-सी बायीं हथेली मेरे दाहिने घुटने पर आ टिकी थी। लेकिन, मैंने उसकी ओर ज्यादा ध्यान न देकर मेनका से कहा, "तो फिर ?"

मेनका ने बतलाया, "मिसेज बावा ने कहा है कि जो नौकरानी उनके यहां काम करने आती है, उसकी सास दिन-भर बैठी ही रहती है। वे उसे बुला देंगी।"

"ठीक है।"

"क्यों, क्या सोचते हो तुम ?"

"जो तुम सोचती हो !"

"अरे वाह !"—वह बोली, "तुम तो आज एकदम हां-में-हां मिला रहे हो। अजी, ऐसी क्या बात है ! तुम्हारी सहमति नहीं मिलेगी तो भला मैं कैसे रख ले सकती हूं !"

मैंने जैसे कुछ ऊब कर कहा, "यह तुम्हारा सेक्शन है और अपने सेक्शन को तुम ज्यादा समझ सकती हो, बजाय मेरे।"

"मतलब ?" उसने पूछा।

मैं बोला, "मेरा मतलब यह कि इन घर-गृहस्थी के छोटे-मोटे मामलों में मेरे एक अदद छोटे से दिमाग का इस्तेमाल न किया करो।"

"तो फिर मैं मिसेज बावा को फोन करती हूं।"

"किसलिए ?

'कह दूं कि मुझे नौकरानी नहीं चाहिए।"

मेनका का इस प्रकार आवेश में आना मुझे अच्छा नहीं लगा। फिर भी मैंने कहा, "भला यह कौन-सी बात हुई ? मेरा मतलब तो बस यही था कि घर-गृहस्थी की सुविधा की दृष्टि से तुम जो उचित समझो, करो। मैं जो हस्तक्षेप करूं, तो कहो। मैं जानता हूं कि तुम्हें नौकरानी चाहिए और तुम उसके लिए प्रयत्न कर रही हो, तो भला क्या बुरा कर रही हो ? मैं घर में जब रहता हूं, तब यह मत समझो कि एकदम 'फ्री' रहता हूं। दफ्तर के बहुत सारे कामों के बारे में सोचता रहता हूं। मिसेज बावा तुम्हें नौकरानी दिलवा देती हैं, तो अच्छी ही बात है।"

इस प्रकार मैंने मेनका से समझौता किया और उस शाम से अगले दिन सुबह के साढ़े-साढ़े सात तक का समय मजे-मजे गुजर गया। किन्तु, ठीक इसके बाद एक घटना हुई। मैं स्नान-ध्यान करके मेनका और बच्चों के साथ नाश्ते की मेज पर पहुंचा ही था कि धर्मपाल ने आकर सूचना दी, "कोई औरत मिलना चाहती है।"

मेनका ने पूछा, "जाओ, उससे पूछो कि किससे मिलना चाहती है ? और सुनो, वह कहां से आई है ?"

"मैंने पूछा नहीं।"

मैंने धर्मपाल को रोक कर कहा, "अभी थोड़ी देर उसे बाहर ही रोक लो। जब हम नाश्ता कर लें, तो मेम साहब से मिला देना।"

धर्मपाल चला गया। मोना और पराग—दोनों कभी मेरी प्लेट से कुछ लेते और कभी अपनी मां की प्लेट से। बच्चे जैसी शैतानियां इस मौके पर करते हैं, वे वैसी सारी शैतानियां कर रहे थे। मैंने कुछ पहले ही चाय पी ली और हाथ-मुंह पोंछ लिया। न जाने दिल में क्या आया कि इसके बाद उठकर मैं ड्राइंग रूम में चला आया। मेनका अपने बच्चों में उलझी रही।

ड्राइंग रूम में आया, तो ऐसा आभास हुआ कि धर्मपाल बाहर बरामदे में किसी से धीरे-धीरे बातें कर रहा है। मुझे खयाल आया, यह उसी औरत से बातें कर रहा है, जो हमसे मिलने आई है। जिज्ञासावश मैंने ब

की ओर खुलने वाली दो खिड़कियों में से एक खिड़की खोल दी, खूबसूरत परदे को एक ओर से जरा खिसकाया और बरामदे की ओर झांका। औरत को पहचानते ही लगा कि अब मैं कहीं का न रहा। नाश्ता करते समय मेनका ने कहा था, "लगता है, मिसेज बावा ने नौकरानी भेज दी। अच्छा है, तुम भी घर में हो। तुम्हारे सामने बातें हो जाएं, तो मुझे बड़ा सन्तोष होगा।"

"ठीक है।" मैंने कह दिया था।

यह औरत कोई नौकरानी नहीं, सुनन्दा जीजी थीं। उनके बाएं हाथ में एक साफ-सुथरा झोला था, जिसमें वे कुछ रखे हुए थीं। मैं आड़ में हो गया।

२६

मेनका के विषय में मेरी राय जुदा है, मगर अपने बारे में तो कह ही सकता हूं कि जीजी उस सवेरे आईं और मुझे शिकस्त देकर चली गईं। मेरा हाल उस सेनानायक-जैसा था, जो लड़ाई में मोर्चे-पर-मोर्चा हारता जाता और यह मानता है कि उसने बड़ी बहादुरी के साथ लड़ाई लड़ी और बहादुरी के साथ ही अगले मोर्चे छोड़कर पिछले मोर्चे पर चला आया है। जीजी का हाल दूसरा था। वे हमला करतीं और मुझे शिकस्त देकर पास आ खड़ी होतीं। पूछतीं, "कहो हितेन्द्र, मिजाज अच्छे तो हैं?"

कनपटी से थोड़ा ऊपर चोट लगी थी। एक-दो गुल्ले निकल आए थे। एक जगह से खून और खून में वहां के बाल तर हो आए थे। जीजी की दो उंगलियां, अंगूठे के बाद वाली, खून से गीली हो आई थीं। उन्होंने मेरे सिर के उस खून को धोया-पोंछा था और पेनिनसिलीन की ट्यूब वाला मलहम लगाया था।

आज मेरा सिर सही-सलामत था। बाल सुगन्धयुक्त ब्रील क्रीम से

तर थे और खून का नामोनिशां न था—गुल्ले निकल आना तो बहुत दूर की बात। मैं ड्राइंग के कोने वाली कुर्सी पर चिपका रहा। मुझे आवाज़ सुनायी देने लगी। भीतर बुलवा कर जीजी से मेनका ने पहला सवाल किया था, "क्या तुम्हें मिसेज वावा ने भेजा है, जिनके यहां तुम्हारी वह काम करती है ?"

मैं कोने वाली कुर्सी से उठ गया और दरवाज़े के पास आकर खड़ा हो रहा। मुझे आसानी से नहीं देख लिया जाए, इसलिए दरवाज़े मैंने ज़रूर भिड़वा दिए। अब कान उधर ही लग गए। जीजी ने मेनका के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा, "कौन मिसेज वावा, मैं नहीं जानती। तुम शायद हितू की दुलहिन हो। मेरा नाम सुनन्दा शास्त्री है। मैं-मैं हितू की बहन हूं। तुम सबों से मिलने आई हूं।"

"ओह…!"

पता नहीं, मेनका क्या कह-पूछ बैठे। नहीं चाहते हुए भी मैं फौरन बाहर निकल गया। मैं अपनी और जीजी की स्थिति का बचाव करना चाहता था। मैं पहुंचा, तो जीजी की पीठ मेरी ओर थी। वे खड़ी थीं और मेनका ने अब तक उन्हें पास वाली कुर्सी पर बैठ जाने तक का संकेत नहीं किया था। मैं आगे बढ़कर बायीं ओर मुड़ा और जीजी के सामने हो आया। मैंने हाथ जोड़े। जीजी ने जैसे मुझे अपने कलेजे से लगा लिया। आगे बढ़कर मेरी पीठ थपथपायी, मेरे सिर पर हाथ फेरे। हंसती हुई बोली, "अरे हितू, तू इतना बड़ा चोर बन गया है, मैं नहीं जानती थी। और देखो कि आखिर मैंने तुम्हें पकड़ ही लिया।"

"जीजी, मैं तो मिलने ही वाला था।" इस प्रकार मैंने झूठ बोलने का शुभारम्भ किया।

"झूठे !"

"नहीं जीजी, सच।"—मैंने आगे कहा, "मैं तुम्हारे पहले वाले घर पर गया था। कोई मिला नहीं। एक पड़ोसी ने बतलाया कि वह मकान खाली करके तुम कहीं और चली गई हो। हां, अब पता लग रहा था कि तुम कहां रह रही हो। मैं तो आता ही।" और पास वाली कुर्सी पर जीजी से बैठ जाने के लिए अनुरोध किया।

मेनका विस्मय से जीजी के साथ मुझे भी देखने लगी। जीजी का चेहरा और हाथ—दोनों जैसे मेनका की आंखों में चुभ रहे थे। छींट की एक पुरानी धोती, मगर साफ-सुथरी, वह पहने हुए थीं। सिर पर आंचल। आंखें बड़ी-बड़ी, आकर्षक और निश्छल ! मैं इशारा करना चाहता था कि मेनका जीजी के पांव स्पर्श करे, मगर यहां तो बस मेरा अपौरुषेय व्यक्तित्व ही उजागर हो रहा था। पॉलिश उतरी हुई, एकदम पुरानी साधारण चप्पल, जिसे जीजी पहन कर आई थीं, वैसी चप्पल पहन कर तो मेनका शायद बाथरूम में भी नहीं जा सकती थी। हाथों में चार-चार काही रंग की चूड़ियां। उनकी क़ीमत आठ-दस आने से हर्गिज ज्यादा नहीं होगी। मैंने मेनका के हाथों की ओर देखा। उसकी कलाइयों में साढ़े नौ रुपए की चूड़ियां थीं। मगर हीन भावनाएं तो सम्भवतः जीजी के सबल व्यक्तित्व के सामने स्वयं हीन बन जाती थीं। कुर्सी पर बैठते हुए उन्होंने मेनका की ओर झोला बढ़ाते हुए कहा, "लो दुलहिन, बच्चों के लिए थोड़ी-सी मिठाई ले आई हूं।"

धर्मपाल आसपास शायद कुछ खोज रहा था। वह बार-बार जीजी की ओर आदरसूचक दृष्टि डालता। मेनका ने स्वयं झोले को न पकड़कर धर्मपाल से कहा, "यह झोला रख लो धर्मपाल !"

जीजी ने एक हल्का-सा ठहाका लगाया, "मिठाइयां रख लो दुलहिन ! झोला तो मैं ले जाऊंगी।"

मैंने भी इस ठहाके में हल्की-सी हंसी के साथ जीजी का साथ दिया और बगल की कुर्सी पर आ बैठा। पराग अपनी बहन मोना के साथ दूसरे कमरे में था। मैंने मेनका से न कहकर धर्मपाल से कहा, "पराग और मोना को बुलाना तो। बुआ जी के पांव तो छुएं।"

"हां ! हां, बुलाओ। उनको देखने के लिए तो जी अलग से मचल रहा है।"

मेनका ने स्पष्ट निषेध किया, "वे स्वयं आ जाएंगे। अभी छोड़ दो। खेलने में लगे हैं। आ जाएंगे, तो ऊधम मचाएंगे।"

मुझे मेनका की अभद्रता खली। उसने न तो स्वयं जीजी को नमस्कार किया था और न जीजी के पास बच्चों को आने देना चाहती थी। जीजी

ने सहमी-सहमी आँखों से मेरी ओर देखा। कुछ पल्ले तो पड़ ही गया उनके। बोली, "ठीक है। अभी तो मैं बैठूंगी।" फिर मेरी ओर देखकर कहने लगीं, "हां हितू, मैंने घर बदल लिया है। अब फकीरबाड़ा में रहती हूं। इधर से जाओ, तो दायीं ओर पटना कालेजिएट स्कूल मिलेगा। फकीरबाड़ा मुहल्ला ठीक बायीं ओर। उस्मान मियाँ का घर है। वहां जिससे पूछ लोगे, वही बतला देगा। जब सुविधा हो आ जाओ, दुलहिन और बच्चों को भी ले आओ।"

तब मैं किस कदर परेशान हो रहा होऊंगा, इसका अनुमान करना कुछ कठिन काम नहीं है। जीजी मेरे हृदय के एक-एक महादेश पर जैसे विजय प्राप्त करके कह रही थीं—"लो, अब मैं चली। यह महादेश तुम्हारा ही है। मैंने तो केवल शक्ति-परीक्षण किया था।"

देश नहीं, महादेश ! कई महादेश ! !

अलिखित समर्पण ! अलिखित सन्धि ! ! अव्यक्त कृतज्ञता ! ! !

लेकिन क्या मैं आसानी से यह बात कह सकता हूं कि मेरी समस्त झनझनाएं छलहीन थीं ? मुझे कहना चाहिए कि मैं विवश तो कुछ कम ही था, छलयुक्त अधिक था। सुनन्दा जीजी की तलवार की धार पर रक्त की एक बूंद तक नहीं नजर आती थी। तलवार की धार से मेरे प्रति उनका असीम प्रेम, प्यार झनझना रहा था। मैंने कहा, "हम अब तो आना ही है।"

बच्चे अब तक हमारे बीच नहीं आ सके थे। मेज की दूसरी तरफ मेनका बैठ गई थी। उसकी दृष्टि बराबर जीजी के जले हुए चेहरे और हाथ पर जा रही थी। वह देर से पलक गिराती और उठाती थी। जीजी ने बड़े उत्साह से पूछा, "मगर मुझे पक्का बतलाओ कि कब आ रहे हो ?"

मैं जीजी के इस प्रश्न का उत्तर देने ही वाला था कि मेनका ने उनसे पूछ दिया, "आपको हमारे घर आने का पता कैसे मिला ?"

जीजी फिर हंसी, एकदम मुक्त हंसी। बोलीं, "लो यह, तुमने भी खूब पूछा। मेरा भाई क्या कोई मामूली आदमी है ? ऐसे बड़े लोग क्या छिपाए छिपते हैं।"

"अरे नहीं जीजी, बड़ा आदमी क्या हूं !" कहकर मैंने मेनका को

क्षुद्रता को ढंकना चाहा। उसके बेतुके प्रश्न ने मुझे आहत कर दिया था। भला यह प्रश्न करने की क्या आवश्यकता थी ?

मुझे खूब स्मरण है कि जीजी के इस आगमन के प्रति उसने न तो मौखिक रूप से, न भावभंगिमा से और न व्यवहार से ही जीजी के प्रति कोई प्रसन्नता व्यक्त की थी। ऐसा प्रतीत हो रहा था, जैसे इस अनामन्त्रित मेहमान को वह किसी भी प्रकार ग्रहण करने को तैयार न थी। कभी-कभी वह कुर्सी छोड़कर उठ भी आती और टहलने का बहाना कर जीजी को सिर से पांव तक उपेक्षाभरी दृष्टि से देख लेती थी। कभी-कभी वह मुझसे भी आंखें मिलाती, मानो कहना चाहती हो—तो यही हैं तुम्हारी जीजी ? बड़ी समझदारी से इस औरत को जीजी बनाया था। भई वाह !

और तभी कुछ गिरने का स्वर सुनायी पड़ा। मेनका उठकर बोली, "जरा देखूं। लगता है, दोनों बच्चों ने कुछ सत्यानाश किया।"

"देख लो।"

उसने मुझसे कहा, "तुम्हारी बालिश्त भर की मोना को गृहस्थी करने की खूब सूझती है। पराग साहब भी साझेदार बन गए होंगे।"

मेनका के जाते ही जीजी ने मुझसे कहा, "ये नाम तुम्हारे बच्चों के हैं ? बड़े प्यारे नाम हैं। उनसे मिलवाओ भाई !"

मैंने कहा, "बस वे आ ही रहे होंगे।"

जीजी ने अपनी कुर्सी जरा और मेरी ओर खिसकाते हुए कहा, "तुम दुलहिन को मत बतलाना। मैंने तुम्हें अण्टाघाट सब्जी बाजार में देख लिया था। वह बदमाश सांड ऊधम मचा रहा था। तुम स्कूटर पकड़े बहू के साथ थे। थे न ?"

"हां था।"—और मैं फिर झूठ बोला, "तो वहां तब तुम भी थीं ? जीजी, तुमने तो गजब किया।"

"क्या गजब किया भैया ?"

मैंने कहा, "मुझे पुकारा होता।"

"नहीं, तब पुकारना कतई ठीक नहीं होता।"

"क्यों ?"

जीजी ने मेरी आंखों को निहारते हुए बड़े प्यार से कहा, "हितू,

तुम्हारी मुलाकात अक्ल से तो है नहीं। देखा ही होगा कि वह मतवाला साड किस प्रकार धमाचौकड़ी मचा रहा था। मैं तुम्हें आवाज देती, तो तुम मेरी ओर दौड़ते और पता नहीं, उस भीड़ मे वह साड फिर तुम्हारी ओर अगर पलट जाता, तो भला तुम्हारी क्या दशा होती ? क्या मैं तुम्हें उस साड से मार खिलवाती ?"

"तो क्या मैं उससे बचते हुए तुम्हारे पास न चला आता ?"

जीजी ने कहा, "इतनी अकल तुम्हारे पास कहा है भला !"

रुपहले, सुनहले रगो के अलावा एक और रंग मेरे खयाल से होता है। उसे मैं 'दुपहला' रंग कहूंगा। जीजी के समक्ष मैं अभी दुपहले रंग वाला व्यक्ति बन गया था। मैं अनैतिक होकर भी अपने को अनैतिक मानने को तैयार नही था। होता, तो क्या स्वीकार न करता कि हा जीजी, मैंने भी तुम्हें देखा था। तो फिर आगे की भयातुर स्थिति का सामना भी करना पड़ता। सम्भवतः जीजी तब पूछ बैठती, "शैतान, तब भी तुमने मुझे क्यो नही पुकारा ?" तब भला मैं उनके इस प्रश्न का क्या उत्तर देता। आकाश भी तो मेघाच्छादित नहीं था कि कह देता, "जीजी, बादल इस कदर छाये हुए और गरज रहे थे कि बस भागने के सिवा और कोई विकल्प नही था।"

मैंने जीजी से बस यो ही, शायद औपचारिकतावश, पूछा, "और सुनाओ जीजी, हमारे जीजा जी मजे मे हैं ?"

जीजी की आखें चमक आई। मैंने उनके पण्डितपति का कुशलक्षेम तो पूछा। बोली, "हा मजे मे ही हैं। उनकी क्या पूछते हो ? दिन-रात पढने-लिखने मे लगे रहते हैं। न उनके जीवन मे कोई परिवर्तन होता और न वे जीवन की चंचलता को आमन्त्रित करते हैं।"

"क्या मतलब ?"

जीजी बोली, "वे जीवन की कर्मठतापूर्ण गतिमानता मे विश्वास करते हैं, असार्थक चंचलता में नही। परिवर्तन यदि महन् उद्देश्य की ओर उन्मुख नही है, उनका कहना है, तो वैसा परिवर्तन दूर से ही नमस्कार देने के योग्य है।"

मैंने आधे दिल से समर्थन देते हुए कहा, "हा जीजी, यह तो है। मुझ-

जैसे लोग तो रिटायरमेण्ड के बाद सड़क पर आ जाएंगे···।"

जीजी अपना उत्साह न दबा सकीं। बोलीं, "मगर वे सड़क पर नहीं आएंगे। सच पूछो, तो ऐसे लोग कभी रिटायर नहीं होते।"—फिर वे जरा रुक कर कह पड़ीं, "बाजार से लौटकर मैं जब घर गई, तो मैंने उनसे तुम्हारे बारे में बतलाया।"

"अच्छा····?"

"उन्होंने ही कहा कि तुम यहां महीनों से आए हुए हो। मैंने उनसे ही तुम्हारे घर का पता पूछा और उन्होंने बतला दिया।"

"ठीक, बिलकुल ठीक जीजी!"

जीजी ने एकाएक पूछा, "क्या जीजा जी से तुम्हारी भेंट नहीं हुई?"

"नहीं, कहां हुई!"

"वे तो कभी-कभी रेडियो पर बोलने आते हैं।"

"आते होंगे।"

"तब भी तुम दोनों नहीं मिले?"

मैं मार पर मार खाता जा रहा था, मगर अपना मुखौटा उतारने को तैयार नहीं था। इस जमाने के आदमी के लिए यह मुखौटा ही तो महारथी कर्ण वाला कवच है। मुझ-जैसे कायरों की मुल्क में कमी नहीं, जो इस कवच के भरोसे जीवित हैं। मैंने कहा, "बात ऐसी है जीजी कि मेरी नौकरी परदे के पीछे रहने वाली नौकरी है। साहित्यकारों-कलाकारों से मेरा सीधा सम्पर्क शायद ही या बहुत कम पड़ता है। किसी विशेष अवसर पर इनसे मिलने का सौभाग्य अवश्य प्राप्त होता है। नीचे के अफसरों से ही इनका काम चल जाता है।"

"तो फिर सारी गलती 'इनकी' ही है। ये चाहते तो क्या तुमसे नहीं मिल ले सकते थे?" जीजी के स्वर में भावावेश था। अपने प्राणप्रिय पति के प्रति भी उनकी आंखों में क्षण-भर के लिए रोषचिह्न परिलक्षित हुए।

मैंने देखा, इस बार की बाजी मेरे हाथ आ रही है। मृत सिंह को घेर कर गीदड़ भी तो खड़े हो जाते हैं। मैंने कहा, "हां, जीजा जी चाहते, तो मेरे पास एक बार चले आते। यों नियम तो मैंने अपराह्न तीन से चार बजे तक का समय लोगों से मिलने का बना रखा है। मगर, जीजा जी के

लिए भला मैं यह नियम चला सकता था? वे तो यदि चपरासी से पूछे बिना मेरे चेम्बर में चले आते, तो मैं खुश होता और उठकर उनके चरण-स्पर्श करता।"

"अरे हिदू, भला यह भी कहना है।...अच्छा, लौट कर जाऊंगी तो इन्हें आड़े-हाथों लूंगी। मेरे भाई की इतनी उपेक्षा उन्होंने कैसी बुद्धि से की?" जीजी फिर जीजा जी उर्फ शास्त्री के प्रति सरोष बोली।

मैंने देखा, मेरा सिक्का सवाई मूल्य में चल गया। हालांकि मैं सब कुछ झूठ बोल रहा था, मुझे शर्म लगनी चाहिए थी, मगर मुझ जैसे लोग कुछ इसी तरह जिन्दा रहा करते हैं। मैंने ऊपरी मन से जीजी के सामने शास्त्री जी का पक्ष लेते हुए कहा, "नहीं जीजी, मैं तुम्हारे हाथ जोड़ता हूं। जीजाजी से किसी प्रकार की कैफियत तलब करने की जरूरत नहीं। वे असाधारण विद्वान् हैं। विद्वानजन प्राय: विचारों में खोये रहते हैं। मैं ऐसा नहीं मानता कि उन्होंने मेरी उपेक्षा की। मुझ-जैसे मामूली लोग जब सही समय पर सही व्यक्ति की खातिर नहीं कर पाते, तो फिर उन-जैसे लोगों की तो बात ही कुछ और है। जीजी, मैं तो यही कहूंगा कि अपराधी वे नहीं, मैं हूं। यह मेरा फर्ज था कि अधीनस्थ अफसरों से कहता कि अगर ओंकारनाथ शास्त्री यहां आएं, तो आप लोग उनसे मुझे मिलवा दीजिएगा। वे मेरे बहनोई होते हैं।"

तो फिर यह क्या हुआ? लगा, मेरा सिक्का गड़बड़ हो गया। मेरे ही कुछ शब्दों ने मेरे चातुर्य-सिक्के का अवमूल्यन कर दिया। शास्त्री जी के प्रति जीजी का रोष जैसे एकदम तिरोहित हो गया। वे एक दीर्घ निःश्वास छोड़कर बोलीं, "अब समझी, तो यह सारी कारस्तानी तुम्हारी है।"

"मैं खुद कह रहा हूं जीजी! जीजाजी को तुम एक शब्द न कहना।" विनम्र होकर बोला। मुझे आशा बंध गई थी कि अब मेरे चातुर्य-सिक्के का मूल्य सवाई भले न हो, मगर यथावत् तो रह ही जाएगा।

जीजी की भृकुटीवक्रता शीघ्रता से गायब होती जा रही थी। मैंने सोचा—थोड़ी और विनम्रता प्रकट करनी चाहिए। इसीलिए आगे कहा, "जीजी, सबसे बड़ी बात तो यह है कि मैं तुम दोनों से छोटा ठहरा।

यह फ़र्ज मेरा था कि तुम लोगों की तलाश करने में इतनी देर न करूं।"

जीजी ने तब भी मेरे प्रति कठोर रुख नहीं अपनाया। वे तो कहने लगीं, "भई तुम तो यहां के लिए परदेसी ठहरे। टोले-मुहल्लों को जानने में पराधीन! कोई-कोई ही तो सही पता बतला पाता। इन्हें तुमसे मिल लेना चाहिए था। खैर, जभी जागे, तभी सवेरा!"

तभी धर्मपाल एक प्लेट में जीजी के लिए नाश्ता ले आया—थोड़ी सेव-दालमोठ, दो बिस्कुट, पेठे की एक मिठाई। उसने मेरी ओर देखते हुए पूछा, "जीजी कॉफी लेंगी या चाय?"

"जीजी से पूछो।" मैं बोला।

जीजी ने मुस्कराकर प्लेट की ओर देखते हुए कहा, "हाय, इतना सारा नाश्ता मेरे लिए? इतना मैं भला किस पेट में खाऊंगी? पेट ठीक नहीं। आयुर्वेदिक इलाज चल रहा है। परहेजी खाना चलता है। दिन में तो बस चने के सत्तू का घोल और रात में मूंग की दाल डाल कर सफेद खिचड़ी। लेकिन एक बात है।"

"क्या जीजी?"

वे बोलीं, "भाभी ने इतनी खातिर की है इस गरीब ननद की। प्लेट अनछुए कैसे वापस कर सकती हूं? यह तो मेरा सौभाग्य है।"

"तो फिर खाओ न।"

उन्होंने पेठे वाली मिठाई उठा ली और मुझसे कहा, "हितेन्द्र, तुम जरा अपना मुंह खोलो।"

"जीजी, मैंने अभी-अभी नाश्ता कर लिया है।"

"तो क्या हुआ? बूढ़े तो नहीं हो गए। खोलो, खोलो।"

मैं···ना-ना करता रहा और जीजी ने तब तक मेरे मुंह में पेठे की मिठाई ठूंस दी। फिर उन्होंने शायद चुटकी भर से ज्यादा नहीं, सेव-दालमोठ और एक बिस्कुट लेकर धर्मपाल से कहा, "भइया, अब इसको रख आओ। चाय अथवा कॉफी कुछ नहीं। बस एक गिलास पानी पिला दो।"

मैं बहुत आग्रह करता रहा, पर जीजी ने आगे कुछ नहीं लिया। उन्होंने नाश्ते की प्लेट उठाकर धर्मपाल के हाथ में पकड़ा दी और कहा,

"इसे रख आओ। एक-दो दाने छिटक कर इसमे पड जाएंगे, तो सब कुछ जूठा हो जाएगा।"

धर्मपाल प्लेट लेकर गया और फौरन ही रंगबिरंगे बेल-बूटे पड़े शीशे के गिलास मे पानी लेकर लौटा। जीजी ने पानी पीकर गिलास मेज पर रख दिया और एक प्रकार से विश्राम कर लेने के बाद की प्रसन्नता के स्वर मे धीरे से पूछा, "सुनो हिनू, इसमें लजाने की कोई बात नहीं। क्या दुलहिन खुशी लाने वाली है ?"

मैं निमेषभर को रुका। फिर बोला, "हां, आसार तो ऐसे ही हैं।"

"कहती क्या है ?"

"जो तुम चाहती हो यानी खुशी लाने वाली हैं।"

जीजी आनन्दामृत से नहा उठीं। बड़े हुलास से बोलीं, "देखो, तुम जो मेरे घर आओ, तो साथ मे अपने नौकर को भी लेते आओ। मैं दुलहिन की सेवा करूंगी। जब कुछ दिक्कत महसूस करना, नौकर को भेज कर सूचना देना। मैं फौरन चली आऊंगी।"

"शास्त्री जी को असुविधा होगी, सो ?"

जीजी ने अप्रस्तुत. शायद मुझे टोका कि मुझे उनके पति को रिश्ते के पदनाम से सम्बोधित करना चाहिए। बोली, "ना, तुम्हारे जीजा जी ऐसे नही हैं। और मैं भी व्यर्थ न किसी के घर जाती हू और न वे मुझे टोकते हैं। हम दोनो परस्पर विश्वास और दायित्व के साथ चलते हैं। कोई किसी की नीयत मे गैरजिम्मेदारी नही देखता। वे बहुत कम जरूर बोलते हैं, इसका अर्थ यह नहीं कि वे क्रूर-कठोर हैं। अजी क्या बतलाऊ तुमसे ! सही स्थिति जान जाएगे, तो खुद याद दिलाया करेंगे कि जाओ, बहू को देख आओ।"

मैंने बनावटी हसी के साथ कहा, "अच्छा···?"

"और नहीं तो क्या !"—जीजी बोली, "यह नीतिकथन बिल्कुल सत्य पर आधारित है कि महान् जन नारियल के समान बाहर से कठोर और भीतर से कोमल होते है।"

"वही मैं भी सोच रहा था।"

जीजी ने फुसफुसा कर पूछा, "गृहस्थी ठीक-ठाक चल तो रही है !

मुझे मेनका से अन्तरमनःस्तर पर कम पटती थी, सो वह वास्तव मुझ पर एकाएक छा गया। मैंने भी बहुत धीमी आवाज़ में कहा, "कोई खास परेशानी नहीं है। फिर यहां अमर होकर कौन रहने आया है। बस निभा कर चलता हूं। फिर तुम्हारी बातें भी तो गुरुमन्त्र की तरह याद हैं।"

जीजी ने कहा, "नहीं, घुल-घुलकर जीना ठीक नहीं। उसे खुश रखो और खुद खुश रहो, तब तारीफ! जिस मनोवृत्ति से कल्याणघातक स्थिति बने, उस मनोवृत्ति को त्यागना ही श्रेयस्कर है। त्याज्य और ग्राह्य का अन्तर नहीं समझोगे, तो भीतर से टूटते जाओगे। यह टूटना मुझे पसन्द नहीं।"

अभी जीजी सम्भवतः कुछ और कहतीं, किन्तु तभी मेनका अपने साथ दोनों बच्चों को लिए आ पहुंची। जीजी आनन्दातिरेक से भरी नजर आई। उठकर उन्होंने बच्चों को गोद में चिपटाना चाहा, मगर न जाने क्यों, जीजी के बार-बार प्रयास करने पर भी वे उनसे छिटकते रहे। मैंने दोनों को सम्बोधित करते हुए आदेशसूचक स्वर में कहा, "ये तुम लोगों की बुआ जी हैं। इनके पांव छुओ।"

बच्चे इसके लिए तैयार नहीं थे। दोनों अडिग रहे। मेनका ने गम्भीरता बरतते हुए कहा, "अभी शरमा रहे हैं। दो-चार बार मिलने के बाद अपने-आप चिपटने लगेंगे।"

लाचार जीजी ने उन्हें थपथपाकर सन्तोष किया।

मुझे तभी लगी, वे कुछ उखड़ गईं। लौट कर खड़ी हो रहीं, बैठीं नहीं। मेनका के हाथ में ग्यारह रुपए और पराग तथा मोना के हाथ में पांच रुपए का एक-एक नोट थमाती हुई बोलीं, "अच्छा, सबको देख लिया। मन प्रसन्न हो उठा। अब चलूं।"—फिर उन्होंने मेनका से कहा, "तुम्हें पहली बार देखा है। कोई एक जेवर मेरे यहां तुम्हारा 'ड्यू' रहा।"

बदले में मेनका रुपए लौटाने लगी। बोली, "जीजी, भला इस औपचारिकता की क्या जरूरत है! आपने इन्हें बहुत प्यार किया है। मैं उसी से उपकृत हूं।"

मुझे खूब याद है कि मेनका ने 'उपकृत' शब्द के बदले 'ओबलाइज्ड'

शब्द का उपयोग किया था। यह मुझे कुछ ज्यादा बुरा नहीं लगा। मैं अब जिस वर्ग का एक अंग बन चुका था, उस वर्ग वाले तो आधी इंगलिश और आधी हिन्दी बोलने के अभ्यस्त होते ही हैं। कभी-कभी जो बात हम हिन्दी, उर्दू या हिन्दुस्तानी में बोलते हैं, फौरन उसका इंगलिश अनुवाद भी बोल देते हैं। हां, इतनी बात अवश्य अच्छी लगी थी कि मेनका ने अपनी ओर से विनम्रता का एक भाव जीजी की ओर खिसकाया था।

जीजी ने कहा, "रुपए लौटाओ नहीं। इतने रुपयों से भला तुम्हारा कौन-सा काम हो जाएगा! पहली बार मिली हूं। मुझे और कुछ देना चाहिए था। पर, मैं लज्जित नहीं हूं। यथाशक्ति, तथा भक्ति!"

जीजी ने इस बार मेनका को भी पहले ही मोर्चे पर निपटा दिया। वे मुश्किल से तीन-चार मिनट और रुकीं। हम बार-बार अपने यहां आने के लिए निमंत्रित करती रहीं। जाते समय उन्होंने फिर आगे बढ़कर पराग और मोना की पीठ थपथपायी।

अन्त में एक बात अखर गई। आधुनिक चमक-दमक की जिन्दगी ने मुझे और सिरे पर गिरा दिया। मैं अभी-अभी तो स्वयं मेनका के प्रति दुखी था कि उसने जीजी के चरणस्पर्श क्यों नहीं किए, मगर जब जीजी भीतर से निकलने लगीं, तो मैं उनके साथ बाहर नहीं आया। मैंने धर्मपाल से इतना जरूर कहा, ये जा रही हैं। जरा देखो। कोई रिक्शा हो, तो बुला लाओ।"

धर्मपाल बाहर जाने को हुआ, तो जीजी सहज भाव से बोलीं, "ना, छोड़ो। मैं आगे रिक्शा ले लूंगी और जो रिक्शा नहीं मिला, तो पैदल निकल जाऊंगी। है ही कितनी दूर?"

धर्मपाल से भी बोलीं, "भइया, तुम परेशान न होओ। देखो, घर में भी तो काम पड़े होंगे।"

और जीजी निकल गईं। न जाने क्या मन में आया कि उनके बाहर निकल जाने के पांच-सात मिनट बाद ही मैंने कपड़े बदल लिए और उन्हें देखने के इरादे से निकल पड़ा। देखा, बाएं हाथ में लट्ठ लिए हुए झोले को दबाये जीजी लम्बे-गोल गांधी मैदान को पैदल लांघती चली जा रही थीं। पूरे मैदान में उगी हुई दूबों और गोलाकार किनारों पर सजाये गए पौधों-

फूलों पर धूप फैल चुकी थी। इस मैदान को पार करने के बाद वे बहुत ज्यादा ओझल हो गई। मैं इस पार खड़ा था। मेरे अगल-बगल से बसें, कारें और रिक्शे बड़ी तेजी से गुजर रहे थे।

क्वार्टर में लौट कर मैंने मेनका से कहा, "तुम तो मुझे तलाश रही होगी कि कहां गया। क्या करूं, एकाएक याद आ गया। अपने स्टेशन इंजीनियर कुछ बीमार हैं। भले आदमी ठहरे। सोचा, जरा झांक आऊं, नहीं तो कहेंगे—जरा दो मिनट के लिए पूछने भी नहीं आए।"

मेनका को मालूम था कि रेडियो स्टेशन के इंजीनियर यहीं कहीं पास ही रहते हैं, हालांकि उनसे मेरा केवल दफ्तर के स्तर पर सम्बन्ध था। मेनका बोली, "लेकिन बतला तो गए होते। मैं परेशान थी।"

"चलो, लौट तो आया भाई!"

मेनका मेरे पास चली आई। मैं अभी खड़ा ही था। सोच रहा था कि सूट बदल लूं और रेडियो स्टेशन चला जाऊं। थोड़ी देर पहले पहुंच जाने में कोई हर्ज नहीं, बल्कि काम अधिक निबट जाएगा। मेनका ने तभी मुझसे ससंकोच कहा, "सुनो भाई, वह तुम्हारी जीजी की लायी हुई मिठाइयां तो बस ऐसी ही हैं। हम तो उन्हें खाने से रहे। कहो, तो मैं धर्मपाल को थोड़ी-थोड़ी करके दे दूं।"

"क्यों, क्या बुराई है उन मिठाइयों में?"

मेनका ने कहा, "एक तो बहुत बासी लगती हैं, दूसरे सस्ते किस्म की हैं और···।"

मेनका रुकी तो मैंने टोका, "और···?"

"देखा ही होगा। उनका हाथ कैसा था, मेरा तो जी नहीं लेता।"

"हाथ में कोई रोग नहीं है भाई। हाथ और चेहरा जल गया था।"

"नहीं, नहीं, वह ल्यूकोडरमा है।"

"हरगिज नहीं। तुम्हें शक है।"

"अब जो कहो।"

मेनका किसी तरह अपनी बात से डिगने वाली नहीं जान पड़ी। मेरे मन में आया, इस झमेले में पड़ना व्यर्थ है। कह दिया, "ठीक है, तुम जैसा ठीक समझो, वैसा करो। मैं तो अब दफ्तर चला।"

"सूट बदल लो."

"हां, दे दो।"

साफ-स्वच्छ परिधान में भारतीय यूरोपियन बनकर दफ्तर तो आ गया, किन्तु हृदय का जलाशय गंदलेपन से भरा था। कहीं तल में पड़ी सड़ी-गली पत्तियां नजर आतीं, तो कहीं गलता हुआ सेवार। फाइलें खोलता और फिर एक ओर रख देता। एकाएक मैं जीजी पर ही खीझ उठा—वे मेरी मनःस्थिति को क्यों नहीं समझने की कोशिश करतीं? मरे हुए को मारने में भला उन्हें किस आनन्द की उपलब्धि हो जाती है? क्या यह आवश्यक है कि जगत का हर मानवचरित्र सबल और उदात्त हो?

२७

मीटिंग खत्म हो गई, तो मैंने सुहास से कहा, "थोड़ी देर बाद अपने प्रारम्भिक काम निपटा कर जरा मेरे पास आ जाना।"

वह बोला, "बहुत अच्छा।"

मैंने पूछा, "किसी को समय तो नहीं दे रखा है?"

"किसे?"

"किसी आर्टिस्ट को, किसी वार्ताकार को।"

उसने कहा, "जी नहीं।"

"क्या लंच आवर में बाहर भी निकलना है?"

शायद उसने मेरी सुविधा की दृष्टि से कह दिया, "जी नहीं सर! मैं तो घर से लंच बॉक्स ले आता हूं।"

"बहुत अच्छा करते हो।"—मैंने कहा, "आज मैं भी रेस्त्रां में नहीं जाऊंगा। यहीं कुछ मंगवा लूंगा। वैसे घर पर कह आया हूं।"

"जी अच्छा सर!"

जीजी को मेरे घर कुछ देर के लिए आए पन्द्रह-बीस रोज से कुछ ज्यादा समय ही बीत चुका था। इस बीच शास्त्री पर मेरी नजर एक बार और पड़ चुकी थी। वे अपनी एक वार्ता की रेकार्डिंग कराने आए थे। मैंने फिर अपने को उनसे छिपा लिया। जब वे चले गए, तो मैंने डॉ० हिंगोरानी को अपने पास बुला कर पूछा था, "संस्कृत वार्ता की रेकार्डिंग कर ली आपने ?"

मैंने उसे 'आपने' शब्द से सम्बोधित किया, तो वह कुछ चौंका। मेरे प्रश्न का उत्तर देने के बदले उसने पूछा, "सर, आप मुझसे नाराज तो नहीं हैं ? मैं भूल-सुधार के लिए तैयार हूं।"

मैंने कहा, "हिंगोरानी, मेरे विषय में कदापि ऐसा न सोचा करो। रोटी-दाल के लिए नौकरी से चिपका हुआ हूं, बस। कुछ निश्चित काम होते हैं, जिन्हें अंजाम देना ही होता है। तुम यकीन करो, इसके बाद मैं भी एक आदमी हूं। मुंह से तुम्हारे लिए यह आदरसूचक शब्द निकला, कुछ बुरा नहीं हुआ। सच तो यह है कि दूसरे को सम्मान देकर हम अपने को सम्मानित करते हैं। फिर तुम्हारी योग्यताएं मुझसे कहीं ज्यादा हैं। प्रोमोशन तो एक सीढ़ी है। तुम मुझसे एक या दो सीढ़ी नीचे हो, इससे क्या तुम्हारी योग्यता पर आंच आती है ?"

"नहीं।"

"तो फिर मन से यह बात निकाल दो। हम सभी मित्र हैं और सभी मिलकर इस रेडियो स्टेशन के कार्यक्रम चलाते हैं।"

"फिर भी मैं आपका अधीनस्थ हूं।"

"तो क्या अधीनस्थों का कोई अस्तित्व नहीं होता ?"

"होता है। किन्तु···।"

"नहीं, किन्तु-विन्तु कुछ नहीं। यह बतलाओ कि वार्ताकार कौन थे ?"

मेरे इस प्रश्न के उत्तर में उसने उसी व्यक्ति का नाम लिया, जिसे मैं जानता था और फिर हिंगोरानी झूठ भी क्यों बोलता ? उसने कहा, "ओंकारनाथ शास्त्री।"

"वार्ता का शीर्षक क्या है ?"

डॉ० हिंगोरानी ने बतलाया, "कालिदास का साहित्यबोध।"

मैंने हिन्दी-टीका के माध्यम से कविकुलगुरु कालिदास की कुछ रचनाएं पढ़ी थीं। मैंने कहा, "इस बार उनसे कालिदास के उपमासौन्दर्य पर कुछ बोलवाइए।"

"जी अच्छा!"

इसके बाद कुछ इधर-उधर की बातें करने के बाद मैंने हिंगोरानी से कहा, "अच्छा, अब जाओ। मगर, इस बात का जरा ध्यान रखना कि यह हिनेन्द्र भी थोड़ा भावुक है।"

डॉ० हिंगोरानी ने समर्थनसूचक मुस्कान दी और मेरे चेम्बर से निकल गया।

दूसरों के सामने अपना समग्र चित्र प्रस्तुत करने में मुझ-जैसे लोग भला कितने माहिर होते हैं! मुझे तो लगता है कि भावुकता से मेरा सम्बन्ध दूर का भी नहीं रहा। हां, उन दिनों मैं कुछ भावुक रहा होऊंगा, जब सौतेली मां के अपमानदंश सहने पड़ते थे और मैं भागा-भागा जीजी के पास पहुंचता था। फिर भी मैं पूर्ण आत्मविश्वास के साथ नहीं कह सकता कि वास्तव में हम किन क्षणों में भावुकता के ज्यादा समीप होते हैं, स्यात् दुख के क्षणों में हम ज्यादा भावुक हो उठते हैं और वह भी निकटवर्ती जनों की करुणाप्राप्ति के लिए। तब हमारी सबसे बड़ी मांग यह होती है कि कोई हमारा सहभागी हो जाता। वेदना और दारिद्र्य भरे पथ पर सहयात्री का अभाव ज्यादा गहराई से खटकता है।

सुहास सही समय पर मेरे चेम्बर में दाखिल हुआ। आते-आते उसने कहा, "आज्ञा कीजिए सर!" जैसे मैं उसे किसी प्रकार का आदेश देने के लिए पहले से तैयार होऊं।

"आज्ञा-वाज्ञा कुछ नहीं देनी है। बैठो।"

वह मेरी मेज के उस पार, ठीक मेरे सामने वाली कुर्सी पर बैठ रहा। मैंने पूछा, "भई, तुम तो शहर के भीतर रहते हो।"

"जी हां। बतला चुका हूं, फकीरवाड़ा मुहल्ले में।"

"उस ओर मकान आसानी से मिल जाते हैं क्या?"

उसने बतलाया, "नहीं सर, आसानी से छोटी-मोटी नौकरी मिल जा

सकती है, मगर मकान नहीं।"

"साधारण लोगों का क्या होता होगा ?"

"इसे तो बस वे ही जानते हैं। उनके बच्चे रात-भर दरबेनुमा कमरे में सोते और दिन में गलियों में पलते हैं। एक साधारण अच्छे कमरे का किराया लगभग सौ रुपए…। खस्ता हाल वाले कमरे चाहिए, तो सत्तर-अस्सी रुपए में।"

सुन कर मैं हैरत में पड़ गया। उसने आगे बतलाया, "अगर जो आप राजेन्द्रनगर में चले जाइए, तो लगभग पौने दो सौ रुपए में एक कमरा मिल सकता है।"

मैंने पूछा, "शास्त्री जी का घर कैसा है ?"

मेरे इस प्रश्न के सुनते ही उसका मुंह लटक आया। वह बेचारा लगभग रुआंसा हो आया। बोला, "उसकी स्थिति के लिए भी 'खस्ता हाल' कहना ही उपयुक्त होगा। ऐसा लगता है, जैसे चोरों के छिपने अथवा चोरी-छिपे जुआ खेलने का अड्डा हो। मगर, इसमें शास्त्री जी का भला क्या दोष ? राष्ट्र के समस्त भौतिक सुख को दो वर्गों ने आपस में बांट लिया है। एक वर्ग है पूंजीपतियों का और दूसरा वर्ग है जाली नेताओं का। सुख का कुछ अंश छिटक कर इधर-उधर आ भी गया है, तो उसे नौकरशाहों ने अपने दामनों में भर लिया है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि इन तीनों वर्गों के लोग आदमी हैं, बाकी लोग जानवर हैं।"

मेरे मुंह से निकला, "भाई, कान सामने से पकड़ो या पीछे से, पकड़ोगे तो आखिर कान ही। इस ख़याल से हम भी तो नौकरशाह ही हैं। तब बात यह रही कि कोई बड़ा नौकरशाह होता है, कोई छोटा नौकरशाह।"

"जी सर ! हम छोटे नौकरशाह अपने बड़े नौकरशाहों की झण्डियों को ऊंचे लहराते हैं, ताकि अपनी सूबेदारी बनी रहे। पुराने जमाने के सूबेदारों में कुछ पंचहजारी, कुछ दसहजारी कहलाते तो थे।" सुहास ने कहा।

मैंने उसकी शक्ल पर भीतर समा जाने वाली नजर डाली और कहा, "सुहास, तुम्हारे विचार बड़े क्रान्तिकारी हैं।"

वह बोला, "कुछ नहीं सर ! मैं तो टेबुल पर यह छोटी-मोटी बात

बोल दिया करता हूं। जो लोग भाषणों के अलावा कुछ कर सकते हैं, वे भी इस सड़ी-गली व्यवस्था के विरोध में अपनी आवाज बुलन्द नहीं करते। इनमें से आज जो व्यवस्था के खिलाफ कुछ बोलता है, वही कल अवसर देख कर किसी राजनीतिक वी० आई० पी० का चमचा बन जाता है।"

मैंने जैसे उसे समझाने की कोशिश की। कहा, "यह तो है। अगर ऐसा न होता, तो देश का चित्र ही कुछ और होता। लेकिन भले आदमी, हम लोग सरकारी चमचे हैं। हमें सरकार की आंखों के इशारे पर चलना होता है। इसलिए इस तरह की बातें हर जगह न बोला करो। पता नहीं कौन तुम्हारे इन क्रान्तिकारी विचारों को ऊपर तक पहुंचा दे और तुम्हारे पीछे खुफिया विभाग वाले लग जाएं।"

"तब देखा जाएगा।"

मैंने कहा, "नहीं, तब देखने से अच्छा है कि पहले ही [illegible] सरकार चाहे किसी पार्टी की हो, हमें हर पहली तारीख को [illegible] रकम तो मिल ही जाती है। हम अपने बहुत सारे काम [illegible] सकते और पहली तारीख का वादा कर सकते हैं।"

उसने जैसे व्यंग्य कसा, "कभी-कभी पहली तारीख को [illegible] जाता है।"

प्रसारित करते हैं, पर जब कोई द्वितीय श्रेणी का सत्ताधारी नेता कुछ बोलता है, तो हम इतने खुशामदी बन जाते हैं कि कोशिश यही होती है कि सारे समाचारों को दबा कर उसके पूरे भाषण को ही प्रसारित कर दिया जाए···।"

मैंने एक प्रकार से हस्तक्षेप करते हुए कहा, "भाई, यह तो मोटी-सी बात है कि जिसके पास सत्ता होती है, रेडियो का माइक्रोफोन उसके ही हाथों में होता है। सरकारी नौकरी में, चाहे वह जिस प्रकार की सरकार हो, पहली शर्त यही होती है कि हम सरकारी नीतियों के प्रति वफ़ादार रहें।"

तभी जाने कैसे उसके मुंह से एकाएक यह बात निकल आई, "मैं शास्त्री जी को देखता हूं, तो उनसे ईर्ष्या होती है।"

"ईर्ष्या, कैसी ईर्ष्या ?"

"वे बौद्धिक स्तर पर एकदम दासतामुक्त हैं।"

"किन्तु मजबूरियां कितनी हैं उनकी जिन्दगी में ? अभी तुम ही तो बतला रहे थे कि उनका घर···।"

सुहास ने मेरे कथन को काटना चाहा। कहा, "इस दुःख की अपेक्षा उनका सुख ज्यादा आनन्ददायक और स्थायी है। उनके सामने साहित्य और संस्कृति के परिमार्जन-परिशोधन का उद्देश्य है, मगर हम अच्छे मकानों में रहकर भला कौन-सा उद्देश्य पूरा कर रहे हैं। हम चपातियां खा रहे, सूट पहन रहे और प्रतिपल मानवजीवन की सार्थकता के अंशों को काट रहे हैं।"

बातें कहां-से-कहां चली गईं। मैं उसे खींच कर मुख्य बिन्दु की ओर ले आया। आकाशवाणी की ओर से बालमण्डली विभाग का वार्षिकोत्सव मनाया जाने वाला था और पूरे कार्यक्रम में बच्चों के चाचा पण्डित नेहरू के व्यक्तित्व को उछालना था। महानिदेशालय से आया निर्देश मेरी मेज पर था।

२८

नैतिकता जिस संकल्प का नियमन करती है, उसमें शक्ति और ओज होता है। उसके सहारे मनुष्य चाहे तो हिमालय को हथेली पर उठा सकता है, आपदाओं से जूझ सकता है, निराशाओं-बाधाओं को नकार सकता है। किन्तु नैतिकताविहीन संकल्प में कर्मठता नहीं होती। ऐसा संकल्प करने वाले क्षण-क्षण पर उठकर खड़े होते और गिरा करते हैं।

मैंने जीजी के घर जाने का कई बार संकल्प किया, मगर चूंकि मुझमें नैतिकता समर्थित शक्ति का अभाव था, इसलिए मैं न जा सका। उनके घर तक जाने की तस्वीरें ज़रूर बनाता रहा। इधर मेनका व्यर्थ ही छेड़-छेड़कर जीजी की चर्चा चलाती और यह साबित करने की कोशिश करती कि उनका समाज हमारे समाज से भिन्न है। हम न तो उनमें खप सकते हैं और न वे हम में खप सकती हैं। मुझे मेनका की ये बातें प्रायः अच्छी नहीं लगती थीं। एक दिन मैंने चिढ़कर कह दिया, "खैर, इसमें तुम्हें किसी प्रकार परेशान नहीं होना चाहिए। कौन वे रोज-रोज तुम्हारे घर आ रही हैं? जिसके आचरण से हमें कोई हानि नहीं, उसके आचरण या उसकी स्थिति का लेखा-जोखा लेना व्यर्थ है।"

तो क्या मेनका पूर्वनियोजित ढंग से जीजी को गिराना चाहती थी? लगा तो कुछ ऐसा ही, क्योंकि उसने बगैर कुछ सोचे-समझे कहा "क्यों, आई तो थीं।"

"आई थीं? कब? क्या हुआ जो आई थीं?"

मेनका बोली, "बुरा न मानो। तुम्हारी यह एक बहुत बुरी आदत है कि तुम्हें अपनी बातों के सिवा दूसरों की बातों में कोई सार ही नज़र नहीं आता।"

मुझे फिर अन्यथा लगा। मैंने कहा, "ओह...तो इसका मतलब यह कि घर के बाहर मैं जितने लोगों से मिलता-जुलता, बातें करता हूं, वे सब मेरे विषय में यही धारणा रखते होंगे।"

मेनका निडरता के स्वर में बोली, "अब पता नहीं वे कैसी धारणा

रखते होंगे। मगर तुम हो तो बस ऐसे ही। हो सकता है, वे ऐसी धारणा न भी रखते हों; क्योंकि तुम्हारे साथ मुझे निकट से भुगतना पड़ता है और वे दूर से भुगतते हैं। मैं तुम्हारी जीजी में अगर थोड़ा-सा भी चिपक जाती, तो अब तक उनके कई चक्कर लग चुके होते। पड़ोसिनें पूछतीं कि ये कौन हैं और मैं जवाब देते-देते परेशान होती। जवाब क्या देती, एक तरह से सफाई ही देनी पड़ती; क्योंकि सबों को इस बात पर आश्चर्य होता कि इस सूरत-शक्ल, पहनावे-ओढ़ावे की औरत को तुमने बहन कैसे बना लिया? आखिर यहां कुछ खास लोग रहते हैं।"

"रहें, मेरी बला से!" मैं जैसे थक कर बोल पड़ा।

गर्मियों का मौसम आ गया था। शायद फरवरी में जीजी आई थीं और अब मई का प्रारम्भ था। पराग स्कूल चला गया था। मोना पड़ोस में अपनी ही उम्र की गुजराती सहेली के साथ खेल रही होगी। धर्मपाल रसोईघर में कुछ कर रहा था। सुबह के साढ़े सात या पौने आठ बज रहे होंगे। मेनका और हम—दोनों ड्राइंग रूम में थे। पहले तो चर्चा दूसरी ही छिड़ी थी। और वह भी यह कि मेनका का एक भाई, जिसने साल भर पहले बी० ए० की डिग्री ली, अब तक बेकार बैठा हुआ है और मैं उसे रेडियो स्टेशन की नौकरी में चिपका दूं। मैंने कहा था, "रेडियो स्टेशन की नौकरी मेरी आलमारी में तो रखी नहीं है कि एक नियुक्तिपत्र निकाल कर थमा दूं और कहूं कि जाओ, ऐश करो।"

मेनका बोली थी, "इतनी अकल मुझे भी है कि नौकरी किसी की आलमारी में नहीं रखी होती, लेकिन तुम शायद उसके लिए प्रयत्न भी नहीं करना चाहते। इस विभाग में हो, इसलिए कह रही हूं, वरना वह भी नहीं कहती। सोचा—साधारण लोगों की अपेक्षा तुम ज्यादा सहायक सिद्ध हो सकते हो।" और, फिर उसने मेरी ओर इस क़दर देखा था, जैसे उसके मुंह का स्वाद कड़वा हो उठा हो। मैंने मेज पर से आज का ही पढ़ा हुआ अखबार उठा लिया और उसके दूसरे पन्ने को इस प्रकार खोला, जैसे वह पढ़ने से रह गया हो। मेनका कुछ तिलमिला गई थी और अपनी तिलमिलाहट दूर करने के इरादे से ही उसने जीजी की चर्चा छेड़ दी थी। मैंने बहुत सामान्य ढंग से कहा था, "उसे लिख दो। विज्ञापन देखता रहे। जिस पद

के लिए अपने को ठीक समझे, उसके लिए आवेदनपत्र भेज दे। बाद की बात पीछे देखी जाएगी।"

"कहने में कह देना तो आसान है।"—मेनका ने कहा, "मगर भगवान् के लिए यह क्यों नहीं सोचते कि तुम्हारे साथ मेरी इज्जत भी जुड़ी हुई है।"

मैंने चतुर सिद्धहस्त रेडियो नाटक लेखक की नाट्यनिरपेक्ष शैली में एक छोटा-सा डायलॉग कहा, "और तुम्हारे साथ मेरी भी।"

मेरा ऐसा कहना मेनका को जैसे छू गया। वह पुनः तिलमिला उठी। अब तक वह मेरी ठीक बगल वाली कुर्सी पर बाएं पांव पर दायां पांव चढ़ाए बैठी हुई थी। अब उसने दायां पांव उतार कर फ़र्श पर रख दिया और लम्बे शाब्दिक युद्ध के लिए सन्नद्ध होते हुए कहा, "हां, यह भी ठीक है। मगर मेरे या मेरे मायके वालों के भला किस कारनामे से तुम्हारी इज्जतहतकी हुई या हो रही है? तुम्हारे पिता कुछ और धन्धा करते हैं और मेरे पिता कुछ और।"

मैंने मेनका की ओर गर्दन घुमा ली और कहा, "हां, कहो तो मैं पड़ोस के कुत्ते तक से कह दूं कि मेरे पिता कपड़े की दुकानदारी करते हैं और मेरी मिसेज़ के पिता वकील हैं। इससे मुझे फ़र्क नहीं पड़ने वाला है। व्यापार ही तो ठहरा। कोई कपड़ा बेचता है, कोई बिस्कुट बेचता है। कोई कोयला बेचता है, कोई लोहा बेचता है। कोई सोना बेचता है, कोई जवाहरातों का सौदागर होता है। बस ईमानदारी और इज्जत बेचना छोड़ कर कुछ भी खरीदना-बेचना गुनाह नहीं है।"

"तुम क्या कहना चाहते हो? क्या मेरे मायके वाले ईमान और इज्जत बेचते हैं?"

"ऐसा मैंने कब कहा? मैंने तो बस एक लोकनीति की बात कही।"

इस पर मेनका ने कहा, "लोकनीति में यह बात भी आती है कि किसी की शख्सियत को जानना चाहते हो, तो उसके संस्कारों को समझो। उसके रहने-सहने के माहौल को परखो। उससे मिलने-जुलने वाले कौन हैं, वह कैसे-कैसे लोगों के साथ उठता-बैठता है—इन बातों पर निगाह डालो।"

"ठीक है भाई, ठीक है। जीजी तुम्हारे घर आकर रहने वाली नहीं हैं।

वे तुम्हारे घर में कभी शरण मांगने आएं, तो कहना। जीजी और शास्त्री जी जैसे लोग शरण देना जानते हैं, शरण मांगना नहीं।"

"हां, इसका पता मुझे भी है। उस दिन जिस रूप में आई थीं, उसी से पता चल गया।"

"है, तो अच्छा ही है।" मैं बोला।

इस कटाक्ष और व्यंग्य को मैं सह नहीं सका। लेकिन खुलकर विरोध करने के लिए आगे भी नहीं बढ़ा। थोड़ी देर बाद पेटदर्द का बहाना किया। जाकर बेडरूम में लेट रहा। कलाई में घड़ी बंधी थी। करवटें बदलते हुए घड़ी देखता रहा और जब दफ्तर जाने का समय हो आया, तो मेनका को बिना पुकारे कपड़े बदल कर जाने को तैयार हो गया। वह धर्मपाल के साथ रसोईघर में व्यस्त थी। मैंने इधर से ही आवाज लगायी, "यह दरवाजा और बाहर का गेट बन्द करवा लो। मैं चला।"

"अरे!" मुझे मेनका की आवाज सुनायी पड़ी। उसने धर्मपाल से कहा, "देखो जी, साहब चले जा रहे हैं क्या?

धर्मपाल फौरन बाहर निकला। उसने मेरी ओर देखा।

मैंने उससे बड़े भोलेपन के साथ कहा, "दरवाजा और गेट बन्द कर लो।"

"दफ्तर जा रहे हैं साहब?"

"हां, समय हो चुका है।" मैं बोला।

तब तक मेनका निकल कर मेरी ओर आती हुई दिखी। मैंने उसकी ओर से मुंह फेर लिया। वह बढ़ती हुई बिल्कुल मेरे करीब चली आई। उसने मेरी ओर अतिशय ममता से देखते हुए कहा, "हाय, तुम ऐसे ही चले जा रहे हो? सब कुछ तैयार है। बस लगाने भर की देर है।"

"अब समय नहीं है मेनका!"

"है कैसे नहीं? सीधी-सी बात कहो कि तुम नाराज हो।

"नहीं, कतई नहीं। देखो, दोपहर में आ जाने की कोशिश करूंगा।"

"मैं अब चुप ही रहूंगी। तुम जब क्रोधित होते हो, ऐसे ही गुमसुम हो जाते हो। मैं कुछ ज्यादा बोलूंगी, तो तुम बौखला पड़ोगे। मगर, शायद दोपहर तक तुम्हारा क्रोध कुछ कम हो जाए। आ जाना, जरूर। नहीं

आओगे, तो मैं फोन करूंगी।" मेनका सहमी-सहमी कह रही थी कि मैंने कहा, "नहीं, फोन मत करना। एक आवश्यक मीटिंग है। शायद देर तक चले। पता नहीं, मेरे आसपास कैसे-कैसे लोग बैठे हों।"

मेनका एकटक मुझे देखती रही और मैं दरवाजे को पार करके निकल आया। गर्मी के दिन थे। बाहर चतुर्दिक छाव-छाव कर रही धूप की चांदनी नाच रही थी। बाहर सड़क पर आकर मैंने एक बार अपने क्वार्टर की ओर जरूर देखा था।

दिन भर दफ्तर में मन न लगा। खाना खाने भी नहीं गया। शाम लगभग साढ़े तीन बजे कि मेनका ने फोन किया और बतलाया कि बहुत इन्तजार कर लेने के बाद वह फोन कर रही है। उसने इस बात पर बहुत ही चिन्ता व्यक्त की कि मैं दोपहर में खाना खाने नहीं आया। मैंने कहा, "बस, अब तो मात्र डेढ़ घण्टे बाद आ ही रहा हूं।" और रिसीवर को क्रैडिल पर रख दिया। उधर से फिर डायल किया गया। घण्टी बज उठी और मैंने रिसीवर को उठाकर बगल में ही मेज पर रख दिया।

क्या बतलाऊं अपने दिल का हाल! मैंने मेज पर ही सिर झुका लिया और न चाहते हुए भी आधी निद्रा की स्थिति में आ गया। मेरा पी० ए० अपने कमरे में कुछ टाइप कर रहा था। क्या पता, किसी कार्यवश वह भीतर आया भी हो और मुझे इस अवस्था में देखकर चुपचाप वापस चला गया हो। इस अर्द्धनिद्रा की स्थिति में आने से पहले मैंने फिर एक झूठा ताजमहल बनाया था। सोचा था कि मेनका को मजा सिखलाने के लिए गृहद्रोह का सूत्रपात कर दूं, जाकर जीजी के पास रहने लगूं। वहीं से दफ्तर आने-जाने लगूं। माना कि जीजी के यहां आर्थिक परेशानी है। जीजी खिलाने-पिलाने के लिए कुछ न भी लें। लेकिन, मैं यह अतिरिक्त भार उन पर नहीं पड़ने दूंगा। एक बार उनसे यह कहूंगा, "जीजी, तुम मेरा मरा हुआ मुंह ही देखो, जो ये रुपए न रख लो।"

जीजी ऐसी बात बर्दाश्त नहीं कर पाएंगी। वे तो कल्पना भी नहीं कर सकतीं कि इस हितेन्द्र की मृत्यु की खबर भी उनको सुननी पड़ेगी। उनके तो रोंगटे खड़े हो उठेंगे। वे एकदम लाचार हो जाएंगी और ढेर सारे नोट कांपते हुए हाथ से थाम लेंगी।

मेरी नींद धीरे-धीरे गहराती चली गई। आंखें खुलीं, तो घड़ी पर नजर डाली। छह बज रहे थे। मेरा पी० ए० चला जा चुका था। निकल कर बाहर आया। दफ्तर वाले भी जा चुके थे। इक्के-दुक्के लोग नजर आ रहे थे। लाउंज में उतर आया। बाहर वाले गेट की ओर दृष्टि डाली। ड्रामा प्रोड्यूसर किसी लड़की आर्टिस्ट को लिए बाहर निकला जा रहा था। इस पर मन में कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। रेडियो स्टेशन में यह सब चलता है। बस अपना ध्यान रहता था कि अपने क़दम काजल की कोठरी में न पड़ें। पहली बार अपने आफिस के बाहर दीवार में लगे नल के पानी से मुंह धोया, आंखें धोयीं। शरीर को बेहद थकावट महसूस हो रही थी। 'बड़े साहब' कहलाने का यही आलम था कि इक्के-दुक्के जो आर्टिस्ट इधर-उधर नजर आ रहे थे, उनमें से एक भी मेरा हालेदिल पूछने के लिए मेरी ओर नहीं बढ़ा।

मैंने अपने ताजमहल में एक ईंट और जोड़ी कि जीजी से अपनी इस परेशानी को भी बतलाऊंगा। वे ममताभिभूत होकर मेरे सिर पर हाथ फेरने लगेंगी।

रेडियो स्टेशन के मुख्य प्रवेश द्वार को पार कर जब जनपथ पर आ खड़ा हुआ, तो एक रिक्शे वाले ने मेरी ओर बड़े ग़ौर से देखा और अपनी सीट छोड़कर उतर पड़ा। उसके खयाल से मैं कहीं जाने वाला था। मैं जब उसकी ओर मुख़ातिब नहीं हुआ, तो वह अपना रिक्शा लेकर आगे बढ़ गया और एक वृक्ष की छाया में खड़ा हो रहा।

मेरा नैतिकताविहीन अपौरुषयुक्त संकल्प एक बार पुनः चरमरा उठा। मन के कोने-कोने में एक प्रश्न चक्कर लगाने लगा—सुनन्दा जीजी तुम पर बलिहारी जा सकती हैं, क्या ओंकारनाथ शास्त्री को भी तुम उसी परिप्रेक्ष्य में ले सकते हो ?

एक ठेस-सी लगी—घर चाहे जैसा भी है, वास्तविक स्वामित्व तो शास्त्री का ही है। तुम रहना चाहोगे वहां और जीजी अपने स्वामी की सहमति चाहेंगी। यदि स्वामी ने इस बिन्दु पर मौन धारण कर लिया या कहा—'अब तुम जैसा समझो, करो। मैं क्या कह सकता हूं सुनन्दा ? तुम अपने घर की परिस्थितियों से अनजान हो, ऐसी बात तो है नहीं।' तो

फिर क्या होगा ? मैं पशोपेश में पड़ा। दिल यही कहने लगा कि जीजी मेरे लिए बहुत कुछ अवश्य कर सकती हैं, लेकिन अपने स्वामी की इच्छा के विरुद्ध कोई कदम नहीं उठा सकतीं। वैसे तो शास्त्री जी पण्डितराज ही हैं, वे ऐसा न होकर यदि सामान्य पुरुष भी होते, तो जीजी उस सामान्य पुरुष की भी अनुगता होतीं। जन्मकुण्डली ने जिस पुरुष के साथ जुड़ने की स्वीकृति दे दी, वही पुरुष उनके लिए महापुरुष है।

जी में आया, सुहास के पास चल दूं। अभी वह घर पर ही होगा। लेकिन हृदय ने इसका निषेध किया। सुहास कई प्रकार की कल्पनाएं कर बैठेगा—सब कुछ होते हुए बड़े साहब ने ऐसा निर्णय आखिर क्यों लिया ? पारिवारिक जीवन में अवश्य ही कोई अनुपेक्षणीय विरोध है।

मैं अभी खड़ा ही था कि बायीं ओर से धर्मपाल आता दिखा। मैंने उससे छिप जाना चाहा, किन्तु वह इतना सामने और समीप आ चुका था कि यह उपक्रम एकदम असफल हो जाता। मैं जानबूझ कर उसकी ओर यानी अपने क्वार्टर जाने के रास्ते पर मुड़ा। धर्मपाल से आंखें मिलीं। उसकी आंखें उदास थीं और उसका चेहरा उतरा हुआ था। मैंने पास पहुंचते-पहुंचते पूछा, "क्यों धर्मपाल, कहां चले ?"

वह बोला, "कहीं नहीं, आपको ही देखने आया हूं। पर चलिए न। मेम साहब परेशान हैं। आपने आज खाना भी तो नहीं खाया।"

"मैं तो आ ही रहा था।"

इस प्रकार ताश के बावनों पत्ते बावन ओर बिखर गए। मैं क्वार्टर में आ गया। मेनका विनम्र प्रतीत हुई और दोनों बच्चे मुझसे चिपक गए। मेनका ने कहा, "तुम नाराज होकर चले गए। मुझे बड़ा अफसोस हुआ कि मैंने व्यर्थ ही तुम्हारी जीजी की चर्चा छेड़ दी।"

मैंने कुछ व्यंग्य-सा कसा, "ठीक कहती हो। जीजी और उनके पति-जैसे लोगों की चर्चा करने से अपनी ही जबान का स्वाद बिगड़ता है। चर्चा करनी ही हो, तो किसी अच्छे खाते-पीते आदमी की करनी चाहिए।"

मेनका भांप गई। बोली, "छोड़ो, अपने मन को दुखी न करो।"

मैंने, चाहे जिस प्रकार, अपने को संभाला। लेकिन, मेरा व्यवहार सोने के समय तक कुछ असामान्य अवश्य बना रहा। रात भीगती गई और हम

मेरी नींद धीरे-धीरे गहराती चली गई। आंखें खुलीं, तो घड़ी पर नजर डाली। छह बज रहे थे। मेरा पी० ए० चला जा चुका था। निकल कर बाहर आया। दफ्तर वाले भी जा चुके थे। इक्के-दुक्के लोग नजर आ रहे थे। लाउंज में उतर आया। बाहर वाले गेट की ओर दृष्टि डाली। ड्रामा प्रोड्यूसर किसी लड़की आर्टिस्ट को लिए बाहर निकला जा रहा था। इस पर मन में कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। रेडियो स्टेशन में यह सब चलता है। बस अपना ध्यान रहता था कि अपने क़दम काजल की कोठरी में न पड़ें। पहली बार अपने आफिस के बाहर दीवार में लगे नल के पानी से मुंह धोया, आंखें धोयीं। शरीर को बेहद थकावट महसूस हो रही थी। 'बड़े साहब' कहलाने का यही आलम था कि इक्के-दुक्के जो आर्टिस्ट इधर-उधर नजर आ रहे थे, उनमें से एक भी मेरा हालेदिल पूछने के लिए मेरी ओर नहीं बढ़ा।

मैंने अपने ताजमहल में एक ईंट और जोड़ी कि जीजी से अपनी इस परेशानी को भी बतलाऊंगा। वे ममताभिभूत होकर मेरे सिर पर हाथ फेरने लगेंगी।

रेडियो स्टेशन के मुख्य प्रवेश द्वार को पार कर जब जनपथ पर आ खड़ा हुआ, तो एक रिक्शे वाले ने मेरी ओर बड़े ग़ौर से देखा और अपनी सीट छोड़कर उतर पड़ा। उसके खयाल से मैं कहीं जाने वाला था। मैं जब उसकी ओर मुख़ातिब नहीं हुआ, तो वह अपना रिक्शा लेकर आगे बढ़ गया और एक वृक्ष की छाया में खड़ा हो रहा।

मेरा नैतिकताविहीन अपौरुषयुक्त संकल्प एक बार पुनः चरमरा उठा। मन के कोने-कोने में एक प्रश्न चक्कर लगाने लगा—सुनन्दा जीजी तुम पर बलिहारी जा सकती हैं, क्या ओंकारनाथ शास्त्री को भी तुम उसी परिप्रेक्ष्य में ले सकते हो?

एक ठेस-सी लगी—घर चाहे जैसा भी है, वास्तविक स्वामित्व तो शास्त्री का ही है। तुम रहना चाहोगे वहां और जीजी अपने स्वामी की सहमति चाहेंगी। यदि स्वामी ने इस विन्दु पर मौन धारण कर लिया या कहा—'अब तुम जैसा समझो, करो। मैं क्या कह सकता हूं सुनन्दा? तुम अपने घर की परिस्थितियों से अनजान हो, ऐसी बात तो है नहीं।' तो

'फिर क्या होगा ? मैं पशोपेश में पड़ा। दिल यही कहने लगा कि जीजी मेरे लिए बहुत कुछ अवश्य कर सकती हैं, लेकिन अपने स्वामी की इच्छा के विरुद्ध कोई कदम नहीं उठा सकतीं। वैसे तो शास्त्री जी पण्डितराज ही हैं, वे ऐसा न होकर यदि सामान्य पुरुष भी होते, तो जीजी उस सामान्य पुरुष की भी अनुगता होतीं। जन्मकुण्डली ने जिस पुरुष के साथ जुड़ने की स्वीकृति दे दी, वही पुरुष उनके लिए महापुरुष है।

जी में आया, सुहास के पास चल दूं। अभी वह घर पर ही होगा। लेकिन हृदय ने इसका निषेध किया। सुहास कई प्रकार की कल्पनाएं कर बैठेगा—सब कुछ होते हुए बड़े साहब ने ऐसा निर्णय आखिर क्यों लिया ? पारिवारिक जीवन में अवश्य ही कोई अनुपेक्षणीय विरोध है।

मैं अभी खड़ा ही था कि बायीं ओर से धर्मपाल आता दिखा। मैंने उससे छिप जाना चाहा, किन्तु वह इतना सामने और समीप आ चुका था कि यह उपक्रम एकदम असफल हो जाता। मैं जानबूझ कर उसकी ओर यानी अपने क्वार्टर जाने के रास्ते पर मुड़ा। धर्मपाल से आंखें मिलीं। उसकी आंखें उदास थीं और उसका चेहरा उतरा हुआ था। मैंने पास पहुंचते-पहुंचते पूछा, "क्यों धर्मपाल, कहां चले ?"

वह बोला, "कहीं नहीं, आपको ही देखने आया हूं। घर चलिए न। मेम साहब परेशान हैं। आपने आज खाना भी तो नहीं खाया !"

"मैं तो आ ही रहा था।"

इस प्रकार ताश के बावनों पत्ते बावन ओर बिखर गए। मैं क्वार्टर में आ गया। मेनका विनम्र प्रतीत हुई और दोनों बच्चे मुझसे चिपक गए। मेनका ने कहा, "तुम नाराज होकर चले गए। मुझे बड़ा अफसोस हुआ कि मैंने व्यर्थ ही तुम्हारी जीजी की चर्चा छेड़ दी।"

मैंने कुछ व्यंग्य-सा कसा, "ठीक कहती हो। जीजी और उनके पति-जैसे लोगों की चर्चा करने से अपनी ही जबान का स्वाद बिगड़ता है। चर्चा करनी ही हो, तो किसी अच्छे खाते-पीते आदमी की करनी चाहिए।"

मेनका भांप गई। बोली, "छोड़ो, अपने मन को दुखी न करो।"

मैंने, चाहे जिस प्रकार, अपने को संभाला। लेकिन, मेरा व्यवहार सोने के समय तक कुछ असामान्य अवश्य बना रहा। रात भीगती गई और हम

मेरी नींद धीरे-धीरे गहराती चली गई। आंखें खुलीं, तो घड़ी पर नजर डाली। छह बज रहे थे। मेरा पी० ए० चला जा चुका था। निकल कर बाहर आया। दफ्तर वाले भी जा चुके थे। इक्के-दुक्के लोग नजर आ रहे थे। लाउंज में उतर आया। बाहर वाले गेट की ओर दृष्टि डाली। ड्रामा प्रोड्यूसर किसी लड़की आर्टिस्ट को लिए बाहर निकला जा रहा था। इस पर मन में कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। रेडियो स्टेशन में यह सब चलता है। बस अपना ध्यान रहता था कि अपने क़दम काजल की कोठरी में न पड़ें। पहली बार अपने आफिस के बाहर दीवार में लगे नल के पानी से मुंह धोया, आंखें धोयीं। शरीर को बेहद थकावट महसूस हो रही थी। 'बड़े साहब' कहलाने का यही आलम था कि इक्के-दुक्के जो आर्टिस्ट इधर-उधर नजर आ रहे थे, उनमें से एक भी मेरा हालेदिल पूछने के लिए मेरी ओर नहीं बढ़ा।

मैंने अपने ताजमहल में एक ईंट और जोड़ी कि जीजी से अपनी इस परेशानी को भी बतलाऊंगा। वे ममताभिभूत होकर मेरे सिर पर हाथ फेरने लगेंगी।

रेडियो स्टेशन के मुख्य प्रवेश द्वार को पार कर जब जनपथ पर आ खड़ा हुआ, तो एक रिक्शे वाले ने मेरी ओर बड़े ग़ौर से देखा और अपनी सीट छोड़कर उतर पड़ा। उसके खयाल से मैं कहीं जाने वाला था। मैं जब उसकी ओर मुख़ातिब नहीं हुआ, तो वह अपना रिक्शा लेकर आगे बढ़ गया और एक वृक्ष की छाया में खड़ा हो रहा।

मेरा नैतिकताविहीन अपौरुषयुक्त संकल्प एक बार पुनः चरमरा उठा। मन के कोने-कोने में एक प्रश्न चक्कर लगाने लगा—सुनन्दा जीजी तुम पर बलिहारी जा सकती हैं, क्या ओंकारनाथ शास्त्री को भी तुम उसी परिप्रेक्ष्य में ले सकते हो ?

एक ठेस-सी लगी—घर चाहे जैसा भी है, वास्तविक स्वामित्व तो शास्त्री का ही है। तुम रहना चाहोगे वहां और जीजी अपने स्वामी की सहमति चाहेंगी। यदि स्वामी ने इस बिन्दु पर मौन धारण कर लिया या कहा—'अब तुम जैसा समझो, करो। मैं क्या कह सकता हूं सुनन्दा ? तुम अपने घर की परिस्थितियों से अनजान हो, ऐसी बात तो है नहीं।' तो

'फिर क्या होगा ? मैं पशोपेश में पड़ा। दिल यही कहने लगा कि जीजी मेरे लिए बहुत कुछ अवश्य कर सकती हैं, लेकिन अपने स्वामी की इच्छा के विरुद्ध कोई कदम नहीं उठा सकतीं। वैसे तो शास्त्री जी पण्डितराज ही हैं, वे ऐसा न होकर यदि सामान्य पुरुष भी होते, तो जीजी उस सामान्य पुरुष की भी अनुगता होतीं। जन्मकुण्डली ने जिस पुरुष के साथ जुड़ने की स्वीकृति दे दी, वही पुरुष उनके लिए महापुरुष है।

जी में आया, सुहास के पास चल दूं। अभी वह घर पर ही होगा। लेकिन हृदय ने इसका निषेध किया। सुहास कई प्रकार की कल्पनाएं कर बैठेगा—सब कुछ होते हुए बड़े साहब ने ऐसा निर्णय आखिर क्यों लिया ? 'पारिवारिक जीवन में अवश्य ही कोई अनुपेक्षणीय विरोध है।

मैं अभी खड़ा ही था कि बायीं ओर से धर्मपाल आता दिखा। मैंने उससे छिप जाना चाहा, किन्तु वह इतना सामने और समीप आ चुका था कि वह उपक्रम एकदम असफल हो जाता। मैं जानबूझ कर उसकी ओर यानी अपने क्वार्टर जाने के रास्ते पर मुड़ा। धर्मपाल से आंखें मिलीं। उसकी आंखें उदास थीं और उसका चेहरा उतरा हुआ था। मैंने पास पहुंचते-पहुंचते पूछा, "क्यों धर्मपाल, कहां चले ?"

वह बोला, "कहीं नहीं, आपको ही देखने आया हूं। घर चलिए न। मेम साहब परेशान हैं। आपने आज खाना भी तो नहीं खाया !"

"मैं तो आ ही रहा था।"

इस प्रकार ताश के बावनों पत्ते बावन ओर बिखर गए। मैं क्वार्टर में आ गया। मेनका विनम्र प्रनीत हुई और दोनों बच्चे मुझसे चिपक गए। मेनका ने कहा, "तुम नाराज होकर चले गए। मुझे बड़ा अफसोस हुआ कि मैंने व्यर्थ ही तुम्हारी जीजी की चर्चा छेड़ दी।"

मैंने कुछ व्यंग्य-सा कसा, "ठीक कहती हो। जीजी और उनके पति-जैसे लोगों की चर्चा करने से अपनी ही जबान का स्वाद बिगड़ता है। चर्चा करनी ही हो, तो किसी अच्छे खाते-पीते आदमी की करनी चाहिए।"

मेनका झांप गई। बोली, "छोड़ो, अपने मन को दुखी न करो।"

मैंने, चाहे जिस प्रकार, अपने को संभाला। लेकिन, मेरा व्यवहार सोने के समय तक कुछ असामान्य अवश्य बना रहा। रात भीगती गई और हम

सनसनाते हुए पंखे के नीचे लगे पलंगों पर सोने चले गए।

लेकिन घण्टे भर बाद, लगभग पौने ग्यारह बज रहे होंगे, जीजी ने मुझे एक कठिन विस्फोट के हवाले कर दिया। बाहर से किसी ने कालिंग वेल का स्विच बार-बार ऑन-ऑफ किया। बन्द कमरे के बाहर से आवाज लगा कर धर्मपाल ने सूचना दी—जीजी आई हैं।

मेनका अपने पलंग से उठ बैठी। उतर कर बत्ती जलायी। मैं अपने पलंग पर पड़ा ही रहा। मेनका ने अलसाये हुए नेत्रों से मेरी ओर देखा, जैसे पूछ रही हो—अब कहो बच्चू ! अब क्या करोगे ?

मुझे तो जैसे कंपकंपी छूटने लगी। उठना चाहता था और उठा नहीं जा रहा था। वाणी को पक्षाघात तो नहीं लगने वाला था ? मैंने बड़ी कठिनाई का अनुभव करते हुए कहा, "खोलो भाई ! देखो, क्या मामला है।"

मुझमें ऐसी हीनता आ गई कि दिल चाहने लगा कि अपने भूले-बिसरे शब्दशस्त्रों को भी खोज-खोज कर मेनका के पांवों के नीचे डाल दूं। मेरी बुद्धि चकरा रही थी। मेरा समस्त पौरुष जैसे टूट-टूटकर उड़ता हुआ हवा के साथ घर से बाहर चला जा रहा था। जीजी पर क्रोध आया—इस वक्त भला कौन-सा पहाड़ उन पर टूट पड़ा कि चली आई ? भला यह भी कोई मिलने-जुलने का वक्त है ? लेकिन, फिर लगा, अवश्य ही वे किसी असाधारण परिस्थितिवश आई हैं। पर, इससे क्या होने वाला था ? मेरे हाथ-पांव की ताकत जवाब देती चली जा रही थी।

तभी जीजी आगे-आगे और मेनका पीछे-पीछे !

पलंग के पास आकर जीजी खड़ी हो रहीं। उनके बाएं हाथ में आज भी वही झोला था, जिसमें एक बार और पहली बार, मेरे क्वार्टर में मिठाई रखकर ले आई थीं। मैं उठ बैठा। मैंने फौरन पूछा, "क्यों, क्या बात हुई जीजी, इतनी रात को और अकेली कैसे आई ?"

जीजी मौन रहीं। उनके नेत्र छलछला आए। दोनों नेत्रों से अश्रु की एक-एक पतली धार बह चली। मेनका अपनी पलंग की ओर मुड़ रही थी। मैंने जीजी से कहा, "आओ जीजी। पहले बैठ जाओ। लगता है, तुम बहुत दुःखी हो।" और अपने पलंग के पायताने को थपथपाया।

जीजी संकोचपूर्वक मेरे पलंग के पायताने पांव सरका कर बैठ रही। झोला उनके बाएं हाथ में ही रहा। मेनका अपने पलंग पर बैठना ही चाहती थी कि मैंने उससे कहा, "जरा देखना, आसपास धर्मपाल न खड़ा हो।"

वह बाहर निकली और आकर बोली, "नहीं, वह अपने सोने के स्थान पर चला गया है और दीवार की टेक लगा कर बैठा है।"

"बस, ठीक है।" कहकर मैंने मेनका की ओर देखा। वह अपने पलंग पर आ बैठी। दोनों बच्चे सो रहे थे।

जीजी का स्वर कुछ भर्राया हुआ था। बोली, "मैं कुछ तय नहीं कर सकी हूं कि इस वक्त कहां जाऊं और क्या करूं। मुझे एक-दो रोज अपने यहां रहने दो। फिर मैं ठीक से सोच-समझ कर जहां दिल चाहेगा, चली जाऊंगी।"

"अरे! ऐसी क्या बात हुई जीजी?"

वे बोली, "हुई है, तभी तो तुमसे शरण मांगने आई हूं। अगर तुम्हारे यहां मेरी समाई हो सके, तो कुछ महीने रख लो। दुलहिन भी खुशी लाने वाली है। खाना बनाऊंगी, तुम्हारे बच्चों को सभालूंगी। फिर जच्चारानी की सेवा करूंगी। मुझ पर तुम्हारा कुछ विशेष खर्च नहीं आएगा। इस झोले में दो धोतियां, एक साया और एक ब्लाउज है। पान-सुपारी तो खाती नहीं कि नकद का खर्च बढ़े···।" और उन्होंने अपना झोला दिखलाया।

मेनका इधर ही मुंह किए जीजी को नीचे से ऊपर तक पैनी दृष्टि से देख रही थी। क्षण-प्रतिक्षण उसकी मुखाकृति के भावों में परिवर्तन हो रहे थे। मेरे मुंह से निकला, "तुम ऐसा क्यों सोचती हो जीजी? क्या मैं तुम्हारे लिए, तुम चाहोगी, तो पान-सुपारी नहीं जुटा सकता? मैं भी जानता हूं कि तुम यहां शरण लेने नहीं आई हो। मेरे ख्याल है कि जीजा जी से किसी बात पर थोड़ी कहा-सुनी हो गई होगी। वे दबने को तैयार न हुए होंगे और तुम चल पड़ी होगी।"

मगर, जीजी ने तो निर्णायक तौर पर कहा, "मैं एक बात पर टिकने वाली हूं हितू! यह नहीं कि आज कुछ कहा और कल कुछ। अब तो मैं

तुम्हारे जीजा जी के पास जाने से रही। मरूंगी भी, तो ऐसी जगह कि वे मेरा शव तक नहीं देख सकेंगे। भई, शरण तुम्हारे यहां नहीं मिलेगी, कहीं और ढूंढ लूंगी। मगर, अब तो उनके पास जाने से रही। और कोई शरण न भी दे, तो गंगा की तेज धार में शरण ले लूंगी। यह शरण मांगनी नहीं पड़ेगी, थोड़ा-सा साहस करने मात्र से मिल जाएगी।"

रोशनी में मैंने देखा, इस मनःस्थिति में भी उनकी आंखों से स्वाभिमान झांक रहा था। लग रहा था कि वे जो कुछ बोल रही हैं, पूरे आत्मविश्वास के साथ बोल रही हैं। उन्होंने जो निर्णय ले लिया है, उससे कदापि टलने वाली नहीं हैं।

मेनका ने थकावट भरी जम्हाई ली। उसकी छाया दीवार पर गतिमान हो उठी। हालांकि अब सोचता हूं कि तब जीजी से ऐसा प्रश्न करके मैंने बड़ी भारी भूल की, मगर सचाई तो यह थी कि मैं इस अप्रिय स्थिति से उबरना चाहता था और इसी चाह ने इस प्रश्न का आकार ग्रहण किया, "अच्छा, यह बतलाओ जीजी, तुम खाना खा चुकी हो या तुम्हारे लिए कुछ बनवाया जाए ?"

जीजी ने शीघ्र ही उत्तर दिया, "ना, कुछ भी बनवाने की जरूरत नहीं। हमारा झगड़ा खाना खा लेने के बाद हुआ।"

"नहीं, नहीं, हलवा-परांठा तो बन ही जा सकता है। कटहल और आम के अचार भी हैं।" मेनका ने छद्म भाव से कहा।

जीजी बोलीं, "नहीं, नहीं, भूख होती, तो मैं हलवा-परांठा क्या, नमक-रोटी भी मजे से खा लेती। बस, इतना करो दुलहिन कि मेरे सोने के लिए कोई जगह बतला दो। मैं सो रहूं।"

जीजी के इतना कहते ही मेनका फौरन उठ पड़ी। मैंने मौन साध लिया। पता नहीं, मेनका उन्हें किधर लिवा ले गई। लौटी, तो अकेली। मैंने पूछा, "हो गया उनके सोने का प्रबन्ध ?" इससे आगे कुछ और मैं पूछना भी नहीं चाहता था। जीजी के इस प्रकार और इस समय आ जाने से मेनका के सामने मेरा मानमर्दन हो गया था। तब शायद मेनका मन-ही-मन खुश भी हुई होगी। उससे यह पूछने का मेरा साहस नहीं हुआ कि जीजी को वह कहां सुला आई ? कहीं फर्श पर लेटने की स्थिति तो नहीं

आई ? वैसे मेरे ड्राइंग रूम का सोफा काफी चौड़ा था। उसमें फोम भरा हुआ था। इस गर्मी में भी पंखा चालू करके उस पर एक आदमी बड़े आराम से सो सकता था।

मेनका ने लौट कर मुझसे कहा, "वे सो रहीं।"

"अच्छा, ठीक है।" कहकर मैंने करवट बदल ली और इस प्रकार चुप हो गया, जैसे गहरी नींद आ गई हो।

मेरी आदत थी कि रात में चाहे जितनी देर से सोऊं, प्रातः साढ़े चार बजे के आसपास अवश्य जग जाता था। आज की रात तो जैसे आंखें झपकती और फिर खुल जाती थीं। आंखें खुल जाने पर मैं मेनका के पलंग की ओर देख लेता। वह बेखबर होकर सो रही थी। इस विषय में तो मनोवैज्ञानिक ही कुछ बतला सकता है कि मैंने इस रात, जब-जब नींद के एक टुकड़े का हक़दार हुआ, क्यों एक विचित्र स्वप्न देखने को मिला। स्वप्न में ऐसा कि उसका क्रम नींद के साथ जुड़ता और नींद टूट जाने के साथ छूटता-टूटता था। जो भी हो, रात आखिर बीत गई और मैं कमरे से निकलकर बाहर आया। बाहर आया, तो देखने की इच्छा हुई कि जीजी कहां हैं ? कहां सो रही हैं, किस चीज पर सो रही हैं ? मगर, अब वे भला सो कहां रही थीं ? वे तो एक गीत गुनगुना रही और आगन वाले बरामदे में झाड़ू लगा रही थीं। उन्हें रोकने से पहले मैं लज्जित हुआ। वे बड़े हौले-हौले झाड़ू चला और गा रही थीं—

चमन की सैर का था नाम फूलों का बहाना था।
न पूछा मालियों से कुछ बस छुप कर चले आए,
खबर थी आपको सरकार ये बागीचा जनाना है।

जहां की रहने वाली जीजी, वहां का रहने वाला मैं। गीत का भाव और प्रसंग समझते देर नहीं लगी। राजर्षि जनक के पुष्पोद्यान में राम चले आए थे—मिथिला की किन्नरियों को निहारने। क्वारी किन्नरियां उनका सौन्दर्य देख कर तो स्वयं बेहोश हो गई थीं, पर ऊपर के मन से राम को अपने कटाक्षपूर्ण शब्दों से लज्जित कर रही थीं। रूपाकर्षण-जनित आसक्ति के प्रति यह कितनी कोमल-छद्म अस्वीकृति थी ! जीजी मगन होकर गा और झाड़ू चला रही थीं।

मैं अन्ततः उनकी पीठ की ओर जाकर खड़ा हो रहा। जीजी की
ष्ट मुझ पर न पड़ी। मैंने टोक दिया, "जीजी, यह क्या कर रही हो ?"

"कुछ तो नहीं।"

"कुछ तो नहीं कैसे ? तुमसे यह सब करने को किसने कहा ?"

"कहा तो किसी ने नहीं।"

"फिर ?" मैंने आगे बढ़कर जीजी के हाथ से झाड़ू को लेकर कहीं
रख देना चाहा। मगर, वे मुस्करा कर बोलीं, "अरे छोड़ो हितू ! बस अब
यह आधा बरामदा ही तो रह गया। बाकी सब जगह बुहार आई हूं। अब
इतना हिस्सा छोड़ दूंगी, तो आधे सिर का दर्द हो आएगा। अधूरी बुहराई
करने से सिरदर्द होने लगता है। हरदोई में मेरे यहां सबसे पहला काम
घर-आंगन बुहारने का ही होता है।"

"लेकिन क्या यह सब करना जरूरी था जीजी ?"

जीजी ने मेरे प्रश्न का उत्तर देते हुए बड़ी सहजता के साथ कहा;
"हां, जरूरी था। मैं बहुत सवेरे जग जाती हूं। तुम्हारे जीजा जी का भी
यही हाल है। अब यहां जगकर बैठी-बैठी मैं क्या करती ? सोचा, घर-
आंगन ही बुहार डालूं।"

"क्या यहां तुम घर-आंगन ही बुहारने आई हो ?"

"पागल तो नहीं हो गए हितेन्द्र ? तुम्हारे रहते मेरे लिए यहां औ
वहां क्या ? यह भी तो मेरा घर ही ठहरा। वहां भी तो सवेरे-सवेरे प
यही काम करती हूं। फिर 'उनको' चाय बनाकर देती हूं, जब वे
पी लेते हैं, तब उनके काम मे सहयोग करने लगती हूं।"

"उनके काम मे ?"

"हां हितू ! तुम्हें शायद पता नहीं। इंगलिश-संस्कृत कोश तैया
दिया उन्होंने और अब वह तेजी से छपने भी लगा है। प्रकाशक
जाकर ये खुद प्रूफ ले आते हैं। प्रूफ पढ़ने के लिए दो आदमियों की
होती है। एक मूल कापी पढ़ता और दूसरा प्रूफ से शोधन करत
है। मूल कापी पढ़ने वाले को 'कापीहोल्डर' कहते हैं। मुझे यह क
में बड़ा ही आनन्द आता है। नित नए-नए शब्दों की जानकारी
—जीजी कहती चलीं, "क्वांरेपन के समय भी भला मेरी

हुई ? इलाहाबाद बोर्ड से इण्टर की परीक्षा ही तो पास की मैंने। इनके साथ रहने लगी, तो कुछ-कुछ यह समझ में आने लगा कि विद्या और ज्ञान का क्षेत्र आकाश की भांति असीम है। हितू, इसीलिए मैं इनमें तरह-तरह के परिधान धारण करने को नहीं कहती। अब तो कहना पड़ता है कि अपने सौंदर्य को छिपाने के लिए मूर्खजन मूल्यवान परिधान पहनते-ओढ़ते हैं। अच्छा, तुम्हीं बतलाओ हितेन्द्र, ज्ञान के आभूषण से भी कोई आभूषण अधिक मूल्यवान् है ?"

मैं मौन हो गया। वे शेष बरामदा बुहार कर झाडू एक कोने में रख आईं। कोना क्या, जहां से उठा लायी थी, वहीं रख भी दिया। मैंने कहा, "जीजी, यह बात तो सही है।"

जीजी बोली, "तुम्हारे जीजा जी अक्सर कत्थई रंग का एक मामूली कुरता पहनते हैं। बोलो न, वे टैरेलिन या पॉलिएस्टर न भी पहनें, तो उनके लिए क्या फर्क पड़ता है ?"

मुझे लगा, मैं जीजी से इस सन्दर्भ में आगे बहस करने योग्य नहीं हूं। शब्दों के साथ प्रसंग कहीं भाषाविज्ञान तक न बढ़ जाए। मैंने पूछा, "जीजी, रात, लगता है तुम्हें भरपूर नींद नहीं आई। कहां सोयी थी ?"

"यहीं। बाथरूम और रसोईघर के बीच वाले 'पैसेज' में।"

"वहां ?" मैंने साश्चर्य पूछा। मन को जैसे कोई वेध गया। पर, जीजी ने आगे बढ़कर फौरन तीर को खींच लिया। कहा, "हां, कुछ तो फर्क नहीं पड़ा। बाथरूम के कारण गर्मी का भी अनुभव नहीं हुआ। रात मजे-मजे कट गई।"

"जीजी, यह तुम क्या कह रही हो ?"

"ठीक कह रही हूं हितू ! शायद तुम सोच रहे हो कि मुझे किसी और कमरे में पंखे के नीचे सोना चाहिए था। यह सब न सोचा करो। 'ये' बारह रुपए मासिक पर एक पुराना टेबिल फैन ले आए हैं। हवा तो उससे बहुत कम मिलती, मगर उसकी घरघराहट कान खाये डालती है। मैं जब इनके साथ काम करते समय बोलती हूं, तो इन्हें बार-बार पूछना पड़ता है कि मैंने क्या कहा ? उस पंखे के मुकाबले तो मैं वहां के ज़्यादा आराम से सो सकी।"

"तुमने अपनी भाभी से क्यों नहीं कहा कि जहां पंखा हो, मुझे वहीं सुलाओ ?"

जीजी बोलीं, "इसमें भला उस बेचारी को कौन-सा एतराज होता ! मगर सोचो न, जिस चीज के बिना काम चल जाए, उसका उपयोग भला क्यों किया जाए ! मैं एक पंखे के नीचे रात भर सो लेती, चलो भई, ठीक है, मगर मीटर में यूनिट की संख्या तो बढ़ती। कमाने वाला पुरुष ही जानता है कि पैसे कितनी मशक्कतों के बाद आते हैं। हम औरतें सुख उठातीं और गृहस्वामी मौन होकर सब कुछ झेलता चलता, पूरा करता चलता है। बोलो, यह कहां का न्याय है ?" विवाहवेदी के पास पवित्र अग्निशिखा के समक्ष लिए गए शपथसूत्रों का अर्थ क्या यही होता है कि नारी केवल लेने के लिए है और पुरुष केवल देने के लिए बना है ?"

मैं आगे न बोल सका। जीजी, हरदोई वाली जीजी नहीं रह गई थीं, जहां वाले सौ में तीस शब्द उर्दू के बोलते हैं। अब तो मैं पटना और बिहार से ब्याही जीजी की परिनिष्ठित हिन्दी की नकल तक नहीं कर सकता था। सवेरा अपने साथ उजाले का उपहार लिए तीव्र गति से फैलता चला आ रहा था। मैं मुड़ा और वहां पहुंचा, जहां धर्मपाल सो रहा था। मैंने दो बार उसका नाम लेकर पुकारा, तो वह फौरन उठ बैठा। उसने मेरी ओर किंचित लज्जित नेत्रों से देखा। वह चुप रहकर भी कह रहा था—साहब, रात नींद नहीं आई। बड़ी उमस थी। हवा नाम को नहीं बही।

मैं धर्मपाल से यह कहना चाहता था कि वह हाथ-मुंह धोकर दो-तीन कप चाय बनाए। एक कप जीजी पीएं, एक कप मैं और एक कप वह स्वयं पी ले। इन कामों में तो वह मेनका के आने से पहले ही से कुशल था। मेनका ने उसे और कुछ सिखला दिया हो, तो मैं नहीं जानता।

तभी पलंग छोड़ कर मेनका इसी ओर आती हुई नजर आई। वह अब बगल वाले कमरे में जाकर अपने बाल वगैरह ठीक करती; क्योंकि ड्रेसिंग टेबिल उस बगल वाले कमरे में ही थी। और, इसी समय किसी ने बाहर से बन्द दरवाजे को खटखटाया। धर्मपाल दरवाजा खोलकर लौटा। मैंने उसकी ओर प्रश्नसूचक दृष्टि डाली। उसने कहा, "कोई

शास्त्री जी आए हैं।"

"शास्त्री जी ?"—मैंने जीजी की ओर देखते हुए कहा, "लो जीजी, आ गए जीजा जी तुम्हें लिवाने।"

जीजी फौरन भागीं और कहती गईं, "तुम्हें मेरी कसम ! कभी मत बतलाना कि मैं यहां रात आई और अभी यहीं हूं।"

मैंने धर्मपाल से कहा, "ड्राइंग रूम का दरवाजा खोलो और उन्हें बिठाओ। मैं अभी आ रहा हूं। और हां, तुम बढ़िया चाय तैयार करो। थोड़ी देर बाद ड्राइंग रूम में ले आना।"

"अच्छा साहब !"

जीजी भागी तो जरूर, मगर कहां जा छिपी, मुझे भी इसका पता न चला। मैंने जल्दी-जल्दी ब्रश किया, चेहरे और हाथ-पांव धोये और सहमे हुए कदमों से ड्राइंग रूम में प्रवेश किया। बन्द गले का कत्थई रंग का हैण्डलूम का कुरता, साधारण माफ-सुथरी धोती, पैरों में फुटपाथ पर बिकने वाली चप्पल, दुर्बल स्वास्थ्य, बाल बड़े-बड़े और पीछे की ओर मुड़े हुए, सांवला रंग जो कुछ और गिर चुका था। सुन्दर नाक, धसी हुई आंखें, पर भीतर से बाहर की ओर उभरते हुए कोये, मोटे लेन्स वाला चश्मा—संक्षेपतः उस वक्त शास्त्री जी की यह हुलिया थी। मुझ पर दृष्टि पड़ते ही उठ खड़े हुए। दोनों हाथ मेरी ओर उठे और जुड़ गए। मैं लज्जित हुआ। वे सम्भवतः दुःख का लम्बा-चौड़ा विवरण देने के पक्ष में नहीं थे। बोले, 'हितू भैया, क्या सुनन्दा यहां आई है ? आई है, तो कह दो कि चलें। मेरी बातों का ज्यादा खयाल न करें। छोटे-मोटे विरोध तो होते ही रहते हैं।"

मैं उनके सामने-सामने बैठ गया। जीजी ने क़सम दे रखी थी, इसलिए मैंने गम्भीरता बरतते हुए कहा, "यह आप क्या कह रहे हैं ? वे तो यहां आईं नहीं।"

"नहीं आईं ?"

"ना। आती तो मैं भला किस कारण इस बात को छिपाता !"

शास्त्री जी खामोश होकर अपने पांवों के नीचे फ़र्श पर एकटक देखने लगे। तभी धर्मपाल चाय लेकर आया। मैंने उनसे अनुरोध किया,

"लीजिए जीजा जी, चाय तो पीजिए। गुस्से में आसपास ही किसी सहेली के घर चली गई होंगी, गुस्सा शान्त होने पर आ जाएंगी।"

शास्त्री जी ने सिर ऊपर उठाया, तो मैंने देखा, उनके बड़े-बड़े नेत्रों के कोटर आंसुओं से भर आए थे। वे बिना मेरी ओर ठीक से देखे बोले, "ना, सुनन्दा को ढूंढ लेने से पहले तो मैं पानी तक नहीं ग्रहण कर सकता। भाई, अन्यथा न लेना। तुम्हारी इस जीजी के बिना मेरी समस्त ख्याति, मेरे सारे यश व्यर्थ हैं। मेरे लिए तो वह अंधेरे पथ की वर्तिका है।" और बड़ी तेजी से सोफे और दरवाजे की दूरी को तयकर क्षण भर में बाहर निकल गए। मैं मुड़ कर उठता और उन्हें रोकता, कि तब तक तो वे अहाते का दरवाजा भी पार कर गए।

मुझे दुःख हुआ। जीजी ने क्यों कसम दे दी ?

जली हुई आधी शक्ल ! झुलसा हुआ दायां हाथ ! ! सफेद हुए अंग-अंश ! ! ! और अब हृदय में भी इतनी कठोरता को स्थान दे दिया।

अब अपने दिल के एक छोटे से चोर को प्रकट कर दूं। मैं दौड़कर शास्त्री जी को वापस ला सकता था। इस कार्य में धर्मपाल का सहयोग ले सकता था। मगर, मैंने यह सब नहीं किया। सोचा, जान बची और लाखों पाये। अड़ोस-पड़ोस वाले जाग चुके थे। मैं भला क्यों जीजा जी की रट लगाता ? क्या लोग मेरी ओर अचरज से न देखते कि इस स्टेशन डायरेक्टर का जीजा भी खूब है। होगा किसी मक्खीमार वकील का मुंशी।

क्या करता मैं अपनी इस मनःस्थिति में ? चाय का एक प्याला उठा लिया और धर्मपाल को पुकार कर कहा, "यह दूसरा वाला कप ले जाओ। वे चले गए।" तभी जीजी आ गईं। बैठीं नहीं। मैंने कहा, "देखो, जीजा जी तुम्हें तलाशते हुए आए और निराश होकर लौट भी गए। जीजी, तुमने तो अनर्थ कर दिया। रुकने को तुम यहां रुक जातीं, मगर सामने तो होतीं उनके।"

"क्या सामने होती उनके जी ! उन्होंने तो साफ-साफ कह दिया कि आज और अभी मेरी नजरों से दूर हो जाओ।"

"क्रोध में कह दिया होगा।"

"कह दिया, कोई बात नहीं। लेकिन मैं बार-बार अपनी भूल को स्वीकारती रही और ये बार-बार मुझे दुत्कारते रहे। बस एक ही रट कि मेरे घर से निकल जाओ, आज ही और अभी।"

"क्यों, आखिर हुआ क्या था?"

"प्रेस से इंगलिश-संस्कृत-कोष का प्रूफ आया था। प्रूफ के साथ मूल कापी भी थी। रात में खाना खाकर दस-बीस मिनट लेट लेने के बाद इन्होंने प्रूफ संशोधन करना चाहा और मुझसे कहा कि प्रूफ और मूल कापी मेज पर ठीक करके रख दो। मैं उठता हूं, तो देखता हूं।"

"फिर?"

जीजी ने आगे बतलाया, "प्रेस का आदमी मुझे प्रूफ दे गया था। ये उस वक्त घर पर नहीं थे। मैंने ही प्रूफ और मूल कापी रख दी थी। ऐसा तो अक्सर होता है कि मैं ये सारी चीजें सभाल कर रखा करती हूं। कल मैं इनके कपड़े धो रही थी। इसी बीच प्रेस का आदमी आया। मैंने उससे प्रूफ और मूल लेकर रख दी। जब इन्होंने उसे मेज पर रखने को कहा, तो मेरी बुद्धि चकरायी। याद ही न पड़े कि मैंने कहां रख दिया। मैं इधर-उधर उसे तलाशने लगी। मगर, उसका पता नहीं चल रहा था। मैं परेशान होकर कभी इधर हाथ डालती, तो कभी उधर। जब मैंने इनसे बतलाया कि वह तो मिल ही नहीं रहा है, तो ये भी उठे और तलाशने लगे। इन्हें भी नहीं मिला। तब इनका क्रोध सुलग आया। मुझे गैर जिम्मेवार, पेट पाल कर जीवन बिता डालने वाली और जाने क्या-क्या कहने लगे। और अन्त में वह सब एक खाली टिन में बन्द मिला। पर, ये जो उखड़े थे, तो उखड़ते चले गए। मैंने कहा कि मैं कपड़े धो रही थी। इसी-वास्ते मैंने खाली टिन में डाल दिया था और सोचा था कि बाद में निकालकर लोहे वाले रैक में रख दूंगी, मगर भूल गई। अब तो शान्त हो जाओ। लेकिन इन्होंने अपने बकने की रफ्तार धीमी नहीं की।"

मैंने यह सब सुनकर कहा, "मगर अब आए तो ये तुम्हारे सामने सहलाने। आंखों में आंसू भर आए थे।"

जीजी को शायद विश्वास न हुआ। प्रश्नबोधक स्वर में कठोर पुरुष की आंखों में आंसू और वह भी मेरे लिए? यह

रहे हो हितू ? तुमने यह बात गढ़ी तो नहीं ?"

मैंने कहा, "नहीं जीजी ! तुम्हारी कसम, सच कह रहा हूं।"

"कुछ और कह रहे थे ?"

मैंने शास्त्री जी के शब्दों को ही उद्धृत किया, "तुम्हारी इस जीजी के बिना मेरी समस्त ख्याति, मेरे सारे यश व्यर्थ हैं। मेरे लिए तो वह अंधेरे पथ की वर्तिका है।"

"सच, ऐसा ?"

"हां जीजी, रत्ती-भर झूठ नहीं बोल रहा हूं।"

"कहते होंगे। मैं तो रात में सोचती रही।"

"क्या ?"

"कि तुमसे रेलभाड़ा लेकर हरदोई चल दूं। मगर विचार बदला कि ना, यह ठीक नहीं होगा।" कहकर जीजी ड्राइंग रूम से निकलकर भीतर चली गईं। मैं चाय पी ही रहा था कि जीजी लौटीं। उनके हाथ में वही झोला था, जिसे लेकर वे रात आई थीं। मैंने पूछा, "यह क्या जीजी ?"

वे बोलीं, "बस भइया, अब चली।"

"अरे कहां ?" मैंने पूछा। मुझे डर लगा कि कहीं वे यों ही भटकने को तो नहीं निकल रही हैं। हरदोई जाने के लिए सबसे आसान ट्रेन पंजाब मेल थी और अब तो वह ट्रेन कल ही आ सकती थी। पटना जंकशन पर वह ट्रेन रोज प्रातः चार बजकर अड़तालिस मिनट पर आती थी।

बोलीं, "फकीरबाड़ा।" यह उस मुहल्ले का नाम था, जहां वे अपने स्वामी के साथ सस्ते, पुराने और दम तोड़ रहे मकान में रह रही थीं। मैंने बार-बार अनुरोध किया, "जीजी, जलपान वगैरह करके जाओ।" मगर वे नहीं मानीं। बोलीं, "ना, अब तो उनके पास जाकर उनसे क्षमायाचना किए बिना मैं पानी तक नहीं पी सकती।" और वे मेरी प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा किए बिना अहाते को पार कर गईं। मैं आज भी उनके साथ बाहर तक नहीं आया।

२९

काल ही मनुष्य को स्थान्तरित करता है या स्वयं मनुष्य ही अपना स्थानान्तरण करता—यह सापेक्ष और विवादास्पद है। कोई अपने अनुभवों से लाभ उठाता और कोई दूसरे के अनुभवों से अपना लक्ष्यपरिवर्तन करता है। कोई अपनी जीवनानुभूति को प्रमाणमण्डित करता है, तो कोई दूसरों द्वारा भणित सूत्रवाक्यों को प्रामाणिकता का नैवेद्य मानता है। अपने विषय में, मुझे कुछ ऐसा ही प्रतीत होता है कि मैंने जब भी अपने व्यक्तित्व की व्याख्या की, तब मैं न तो धार में खड़ा रहा और न तट पर। तो फिर क्या रहा मेरे जीवन का आय-व्यय ? क्या शेष रहा रोकड़ खाते—व्यक्तित्वहीन व्यक्तित्व ?

कई साल बीत गए। अब मैं स्थानान्तरित होकर एक बार फिर अपने राज्य की राजधानी लौट आया था—लखनऊ। असिस्टेण्ट स्टेशन डायरेक्टर दस रोज तक दिल्ली रह कर लौटा था। उसने मुझे बतलाया, "आप डिप्टी डायरेक्टर जेनरल होने वाले हैं।"

"अरे नहीं!"

"हाँ साहब, मैं कोई हवा में नहीं बोल रहा हूं। आप यहां से दिल्ली जाएंगे और बतौर उपमहानिदेशक के ज्वायन करेंगे।" उसने विश्वास दिलाया।

मेरा दिल सचमुच गुदगुदा उठा।

इस बीच के अन्तराल में एक-दो छोटी-मोटी घटनाएं घटी थीं। धर्मपाल हमारा साथ छोड़कर चला गया था। अपनी मुंहबोली बहन के घर जाते समय उसने मेनका से बतलाया था कि इस बार उसका विवाह हो जाने वाला है। जब भी जाता हूं, बहन जिद करती है कि ऐसे कब तक रहोगे ? नौकरी तो करो, मगर अपना घर-संसार तो होना चाहिए।

मेनका ने यह बात मुझसे बतलायी थी। वह जब चला गया, तब मेरे मन में यह बात आई कि इस अवसर पर मुझे अपनी ओर से कुछ देना चाहिए था। मगर कहां दिया ? वेतन के हिसाब में उसका जो बन

निकलता था, बस वही दिया। वह चला गया और फिर लौट कर नहीं आया। लखनऊ में रहते कुछ माह बीत गए थे और मेनका के मायके वाले फिर मेरे सरकारी मकान में रोज नजर आने लगे थे।

पटना में ही जीजी ने एक वार मुझे और पराजित किया। बच्चा होने वाला था। मेनका के लिए सरकारी अस्पताल में मैंने अच्छा-खासा कमरा पेइंग वार्ड में ले लिया था। वह प्रसवकक्ष में अभी-अभी ले जायी गई थी। मैं बरामदे में खड़ा था कि जीजी दिखीं। पास आकर बड़े उल्लास से बोलीं, "हित्तू, तुम यहां हो ? मुझे पता लगा, तो मैं भागी-भागी आई। तुम किसी दाई-नौकरानी की चिन्ता न करो। मेरे रहते तुम्हें कोई परेशानी नहीं होगी। मैं सब कुछ संभाल लूंगी।"

उन्होंने वास्तव में सब कुछ संभाला, मेनका खुशी-खुशी अस्पताल से छुट्टी पाकर बच्चे को लेकर क्वार्टर में आ गई। लेकिन, जीजी ने ऐसा क्यों किया। मेनका को अस्पताल से ले चलने के लिए मैंने स्टेशन की कार मंगवा ली थी। साथ में एक-दो स्टॉफ भी थे। मैं बिना जीजी से आग्रह किए कि वे भी साथ चलें, मेनका की बगल में आ बैठा।

कार के इंजन में गड़गड़ाहट हुई और मेनका की ओर वाले गेट की ओर खड़ी जीजी बोलीं, "अच्छा, अब तुम लोग जाओ। बच्चे को सर्दी-गर्मी से बचाना, अच्छा ?"

अस्पताल के अहाते से स्टॉफ कार सरसराती हुई बाहर निकल आई। इसके बाद जीजी फिर मेरे पास नहीं आई। मैं न तो इसके पहले उनके घर जा सका और न तब, जब मेरा ट्रांसफर लखनऊ के लिए हो गया। मैं तो मात्र कल्पना ही करता रह गया कि जीजी शास्त्री जी के साथ कैसे बेडौल मकान में रह रही होंगी। क्या यह काल की ही परिवर्तनीयता थी कि जीजी मुझसे जुड़ती रहीं और मैं अपने-आपको उनसे काटता रहा ? मगर क्या हुआ ? समय के किस शब्द ने जीजी के घर जाने से मेरा निषेध किया ? अब सोचता हूं कि उनके सन्दर्भ में जो परिवर्तन मुझमें हुए, वे सब मेरी ही सृष्टि थे। इसमें हाल के हस्तक्षेप की बात करना पलायन माना जाना चाहिए।

सिर के बाएं हिस्से में आ आए गुल्ले, हल्का-सा जख्म और आसपास

के बाल खून से सने, गीले । जीजी के हाथों वहां पेनिसिलीन के मरहम का लगना, रात में जीजी का मुझे अपने साथ सुलाना और आंखें खुलने पर यह पाना कि उनका क्वांरा आंचल मेरे चेहरे और सिर पर फैला हुआ है । क्या यह सब करने का आदेश जीजी को काल ने दिया था ?

× × ×

नदी की लहरों को छूने का आनन्द हम ले सकते हैं, उन्हें पकड़ तो नहीं सकते । हरदोई में मेरे-जैसे लोगों का सर्वथा अभाव था । आकाशवाणी का उपमहानिदेशक पद या तो मेरे लिए बहुत छोटा था अथवा बहुत बड़ा । हरदोई वालों ने मुझे ललकारा, "अब यह नौकरी छोड़ो और संसद के लिए खड़े हो जाओ । हरदोई को लोग पिछड़ा हुआ जिला मानते हैं । अब दिल्ली वालों को मालूम हो जाए कि यहा भी गुदड़ी के लाल हैं । तुम सिर्फ नॉमिनेशन फार्म भर दो । बाकी काम हम संभाल लेंगे ।"

मैं जानता था कि संसद का चुनाव हो या विधान सभा का, दोनों में से किसी के लिए नामजदगी का फार्म भरने से पहले सरकारी नौकरी से त्यागपत्र देना होगा । मैं पसोपेश में पड़ा । पिताजी की उम्र ढलती जा रही थी । छोटी मां से हुए दोनों लड़के दुकान पर बैठने लगे थे । मगर विद्या-बुद्धि के मामले में वे कोरे थे । एक बुजुर्ग ने, जो पिताजी के हित-चिन्तक थे, मुझसे कहा, "जरा ध्यान देकर सोचो । तुम्हारा बूढ़ा बाप हर दूसरे-तीसरे दिन कचहरी दौड़ा करता है । कभी इस मामले में सर्टिफिकेट जारी होता है, तो कभी उस मामले में जमानत लेनी पड़ती है । क्या समझते हो, इससे तुम्हारी बदनामी नहीं होती ? पार्लियामेण्ट के लिए चुन लिए जाओगे, तो यह सारा क्लेश तुम्हारे एक इशारे पर मिट जाएगा ।"

ये बुजुर्गवार अर्थोपार्जन की राजनीति के अनुभवी व्यक्तित्व रह चुके थे । अन्तःपुर से बाहर बैठक में किसी से मिलने को भी आते, तो गांधी टोपी से सर ढंक लेते थे । इस टोपी में बड़े-बड़े गुण थे । मारें पार ऊपर-ही-ऊपर फिसल कर इधर-उधर बिखर जाते थे । विधान सभा सदस्य रह चुके थे । किसी कारपोरेशन के अध्यक्ष भी बनाए गए थे । किसी लम्बे गबन के मामले में फंसे थे, तो बात आलाकमान तक पहुंच गई थी और आल—

ने पर प्रधान मन्त्री ने उच्चस्तरीय जांच का आदेश दे दिया था। आयोग की रिपोर्ट मिलने से पहले ही इन्होंने अध्यक्ष-पद से त्यागपत्र ला था। जांच-आयोग ने बाद में, अपनी रिपोर्ट में इन्हें दोषी करार ा। दीवानी या फौजदारी मुकदमा न हुआ, यही गनीमत रही।

अब ये सरकार के अंग नहीं रह गए थे, पर इतना अर्जन कर लिया ा कि मन में कोई मलाल न रहा। इनका नाम था—चिरंजीलाल।

मेरा विवेक अन्धा हो गया। मैं देखता और जानता था कि एक एम० पी० कितना सुविधापूर्ण जीवन जीता है, मैंने आधी रात में जगकर पूरा हिसाब लगाया, तो पता चला कि एम० पी० गवर्नर की अपेक्षा ज्यादा सुविधाओं के अधिकारी होते हैं। बस मैंने त्यागपत्र देकर सही समय पर अपनी उम्मीदवारी का नॉमिनेशन फार्म भर दिया। सत्ताधारी दल की ओर से टिकट का प्रबन्ध उन्होंने ही करा दिया था। यह आम चुनाव नहीं, बल्कि उपचुनाव था। दल और हितचिन्तकों की ओर से चुनाव में विजय पाने वाले सारे हथकण्डे अपनाए गए और मैं सत्ताधारी दल का संसद् सदस्य बन गया। अशोक रोड, दिल्ली में एक अच्छा-खासा बंगला मिल गया।

पता नहीं क्यों, मेनका को हरदोई में रहना कभी अच्छा नहीं लगा। मैंने उससे इस सम्बन्ध में कई बार पूछा, मगर उसने कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दिया। शायद मुझे टालने के इरादे से ही उसने कहा, "बस, ऐसे ही समझो। हरदोई बहुत ही शान्त और सूनी जगह है। मन नहीं लगता। वहां दो-च रोज से ज्यादा नहीं रहा जा सकता। फिर यहां से वहां और वहां से य क्यों ?"

मैं उसकी जिद पर काबू न पा सका। वह फिर लखनऊ अपने म चली गई। आपस में यह तय हुआ कि दिल्ली में अच्छी तरह व्यव हो जाने के बाद मैं उसे बुला लूंगा या स्वयं आकर लिवा ले जाऊंग

बत्तीस दिनों तक पार्लियामेण्ट में सत्ताधारी दल की ओ कुर्सी पर बैठकर जब मैं हरदोई आया, तो छोटी मां से पता सुनन्दा जीजी आई हुई हैं। मैं अपने पर सम्भवतः कभी न आक्रमण से घबड़ाया। मन-ही-मन बुदबुदाया—धत् तेरे की ! से आमना-सामना होगा।

यह कैसा मानसिक द्वन्द्व था कि मैं कहीं अपेक्षा में जीजी को प्रति-ष्ठित किए हुए था और बाह्य जगत में उनसे भागता फिरता था। मैंने इसके पूर्व कई ऐसे चित्र प्रस्तुत किए हैं और स्वीकार भी किया है कि अपने और उनके जीवनस्तर में बहुत भिन्नता होने के कारण ही मैं उनसे अपने को बचाया करता था। किन्तु, क्या यही वास्तविकता है ? मुझे तो कभी-कभी लगता है कि यह वास्तविकता नहीं है। तो फिर क्या है ? यह नहीं, तो वह तो होना ही चाहिए। मेरी समझ से यह सम्भवतः भरे है। गला छुड़ाने के लिए इतना ही कह सकता हूं कि उनसे अलगाव बरतने के जो चित्र मैं अब तक देता आया हूं, ये सारे चित्र सतह के आभास अथवा अनुमान हैं, तल से उनका कोई सम्बन्ध नहीं।

मैंने छोटी मां से पूछा, "आई हैं ? ठीक-ठाक तो हैं ?"

वे बोलीं, "कुछ गड़बड़ है।"

"मतलब ?"

मां ने अपना चेहरा ठीक उसी प्रकार उदास बना लिया, जैसा उदास चेहरा ऐसी बातें कहते समय बनाया जाता है और कहा, "सुना है, उनके आदमी को ऐसा रोग हो गया है, जिसका इलाज अब तक नहीं निकला।"

"कौन-सा रोग है ? तपेदिक रोग तो अब मुन्नार की मालिश ही गया।"

छोटी मां बोलीं, "तपेदिक नहीं, कोई दूसरा रोग है।"

"समझ गया। इस रोग के रोगी को भगवान भी नहीं बचा सकता।"

छोटी मां ने पूछा, "वही तो। कौन-सा रोग है ?"

मैंने कहा, "मेरे ख्याल में कैंसर होगा।"

"हां, हां, कैंसर ही है। किसी ने यही नाम बतलाया था। मुझे याद नहीं रहा।"

'अब बतलाओ छोटी मां ! जन्मकुण्डली मिलाकर यह ब्याह हुआ था। काम आ रही है जन्मकुण्डली ?" बचाव हुआ कायर भाव के दिन यह सब कह और पूछ डाला।

छोटी मां उपदेश के स्वर में बोलीं, "जो भी हो। यह सब कोई—— उनकी दुलहिन या सुनन्दा के सामने मत कह देना। उस पर

भगवान के हाथों फेंका वज्र गिरा है।"

"सो तो है।"

छोटी मां बोलीं, "हम उनके इस दुःख में हिस्सा नहीं बंटा सकते तो फिर उनके घाव को कुरदने का हमें भला क्या अधिकार है ?"

"वही तो।" मैं इस प्रकार निहायत कामचलाऊ शब्द बोलता रहा।

अब इस प्रकार बोलना भले ही न शोभनीय प्रतीत होता हो, तब तो यही शोभनीय प्रतीत हुआ था। कहीं सामान्य शब्द शालीनतामण्डित और कहीं असाधारण शब्द उच्छृङ्खलता-बोझिल प्रमाणित होते हैं।

इसी समय पण्डित कमलाकान्त दीक्षित की आवाज सुनायी पड़ी, "हितू हैं घर में ?"

मैंने चिरपरिचित स्वर को नकारने का प्रयास किया। छोटी मां से पूछने लगा, "यह कौन पुकार रहा है ?"

वे बोलीं, "अरे ! नहीं पहचाना ? सुनन्दा के पिता दीक्षित जी हैं।"

"तो क्या करूं ?" मैंने पूछा, जैसे मैंने कोई घटिये किस्म का जुर्म किया हो और नगर कोतवाल मेरे दरवाजे पर मुझे पकड़ने के लिए आवाज़ दे रहा हो। छोटी मां बड़ी सहजता से बोलीं, "बैठक में बिठा लो। हमारे द्वार पर शायद ही आते हैं।"

मैंने कहा, "अच्छा।"

जब से मैं सत्तारूढ़ दल का एम० पी० हो गया था, बहुत सारे लोग मेरी उपस्थिति की सूचना पाते ही दुःखड़ों की सूची लेकर आने लगे थे और मैं उन्हें टालने लगा था। यों वोट तो सबों ने दिए थे, मगर मैं मात्र उपयोगी व्यक्तियों से ही मिला करता था। शेष को भीतर से ही सूचना दिलवा दिया करता था कि वे घर में नहीं हैं। एम० पी० बनने से पूर्व नौकरशाही के दिनों में इतना क्रूर मजाक करने की आदत नहीं थी, राजनीति ने अब इस क्रूरतापूर्ण क्रीड़ा में मुझे पारंगत कर दिया था। आखिर विशेष परिस्थिति समझकर बाहर निकला। दीक्षित जी उर्फ चाचा जी बाहर वाले बरामदे में खड़े थे। मैंने विनम्रतापूर्वक उनके सामने हाथ जोड़े, हालांकि यह मेरी ओर से एक छलजनित उपक्रम था, किन्तु दीक्षित जी तो मेरी इस विनम्रता पर निहाल हो उठे। तीन-चार क़िस्म के आशीर्वादों

की वर्षा करते हुए बोले, "बेटा, एक मुसीबत आ पड़ी है। तुमसे थोड़ी सहायता लेना चाहता था। मगर, तुम्हें थोड़ा समझा देना पड़ेगा कि स्थिति क्या है। फुर्सत हो, तो दो मिनट बातें कर लो।"

मैं खादी के पायजामे और धोती तक पहनने लगा था। यह मन्त्र चिरंजीलाल ने दिया था। मैंने कुछ और अधिक विनम्र होकर कहा, "आप यह क्या कह रहे हैं चाचाजी, आपके लिए समय के विषय में सोचना पड़ेगा? मेरा सारा समय आपका है।" किन्तु बैठने के लिए नहीं कहा। उन्होंने प्रस्ताव किया, "तो फिर चलो घर। चाची से भी मिल लोगे। सुनन्दा भी तो आई है। वही तुम्हें सही स्थिति बतला सकेगी। वह बहुत घबरायी हुई है।"

मैंने पहले ही उदार स्वर का प्रयोग किया था। न जाने की स्थिति मेरे हाथ से निकल चुकी थी। मैं चुपचाप उनके साथ चल पड़ा। पता नहीं, यह कैसा संयोग था कि जीजी आज फिर फालसे के पेड़ के पास खड़ी मिलीं। वे एकटक रीते नेत्रों से तालाब की ओर देख रही थीं। दीक्षित जी तो घर में जाने लगे, मैं ही कुछ तेजी से मुड़कर जीजी की ओर मुड़ा। बोला, "जीजी, नमस्ते! यहां क्या कर रही हो? आओ, चलो, घर में बातें करें।"

जीजी ने फीकी हंसी के साथ आशीर्वचन निकाले। मेरी ओर आते हुए कहा, "हितू, मैं कल-परसों पटना लौट जाना चाहती हूं। वे अकेले हैं और बीमार हैं। पार्लियामेण्ट का बन्द होना जान कर मैं चली आई। सोचा, तुम हरदोई आ गए होगे। ईश्वर की कृपा देखो कि तुम मिल भी गए।"

हम चलते-चलते आंगन में आए। पूरब ओर वाले हॉलनुमा बरामदे में पुरानी मेज पड़ी थी। कुर्सियां लगी थीं। दीक्षित जी पश्चिम ओर वाले बरामदे में खाट पर जा बैठे थे। जीजी मुझे लेकर हॉलनुमा बरामदे की ओर मुड़ीं। उधर से दीक्षित जी ने दीर्घ स्वर में कहा, "हां हितेन्द्र, सुनन्दा से तुम सब कुछ पूछ-समझ लो। भाई, तुम रूलिंग पार्टी के एम० पी० हो न। चाहोगे, तो बहुत कुछ हो जाएगा।"

चाची रसोईघर में थीं। मेरी आवाज सुनकर बाहर निकलीं। मेरा

हालचाल पूछा और फौरन बोलीं, "बेटा, तुमने बहुत पढ़ा। बहुत नाम किया। अब अपनी इस बहन की सहायता करो।" और बादल हो गईं।

वहीं बैठकर जीजी बहुत सारे पुर्जे ले आईं। उन्होंने पुर्जों की एक अच्छी-खासी फाइल बना रखी थी। उन सबों को देखने से मेरे सामने भी यह बात स्पष्ट हो गई कि शास्त्री जी के पेट में कैंसर हो गया है। जीवन में आज पहली बार जीजी ने मुझसे कहा, "पटना में सब जगह दिखला कर थक गई। आयुर्वेदिक दवाओं का भी सेवन कराया। कोई लाभ नहीं हुआ। ऐसे महत्त्वपूर्ण लोगों की चिकित्सा के लिए सरकार का स्वास्थ्य विभाग आर्थिक सहायता देता है। मैंने रजिस्ट्री से दो पत्र स्वास्थ्य मन्त्री और प्रधानमन्त्री के नाम डाले। तीन माह होने को आए, कोई उत्तर नहीं आया। सुना है, जब तक कोई एम० पी० या मन्त्री रुचि न ले, कुछ भी नहीं हो सकता। तब तुम याद आए। तुम तो जानते ही हो कि मैं विद्वान को ब्याही गई, धनवान को नहीं। पिताजी की नौकरी रही नहीं। दोनों सहोदर भाई अपनी-अपनी दुनिया से मतलब रखते हैं।"

जीजी ने ये सारे शब्द बहुत ही धीमे स्वर में मेरे आगे रखे। स्पष्ट है कि उनके कथन में सचाई थी। सत्तारोही मन्त्रियों की दृष्टि में उनके दल के अन्य मन्त्रियों अथवा सांसदों के अतिरिक्त देश का हर व्यक्ति चोर, बेईमान, झूठा, अनैतिक और अनुपयोगी होता है। रही बात चमचों की, तो वे परस्पर हित के सूत्र से जुड़े होते हैं। लेकिन मैं यहां भी राजनीति का खेल खेल गया। अब वही मेरी जिन्दगी थी। मैंने बचाव का रुख अपनाते हुए कहा, "नहीं जीजी, ऐसी बात नहीं है कि प्रधान मन्त्री या कोई अन्य मन्त्री साधारण आदमी की बात ही नहीं सुनते। लोग-बाग, खास कर विरोधी पार्टी वाले ये सारे शगूफे उड़ाया करते हैं।"

"तो ?" जीजी ने पूछा। यह 'तो' बड़ा ही व्यंग्यगर्भित और प्रार्थना भाव से कम्पित था। मैंने उन्हें आश्वस्त किया, "तो क्या ? मैं चौदह तारीख को दिल्ली जा रहा हूं। आज तीन तारीख है। तुम अपने प्रार्थनापत्रों की प्रतिलिपियां मुझे दे दो। मैं स्वास्थ्य मन्त्री से मिल कर सब करा दूंगा। तुम्हारे यहां चेक पहुंच जाएगा।"

जीजी की उदास आंखों की भूमि पर प्रकाश के फूल फैलते नजर

आए। बोली, "भैया, तुमसे ऐसी ही आशा थी। मैं भोजन और वस्त्र के सुख के लिए तो नही तडपती, मगर यह प्रश्न मेरे सुहाग का है।"

"चिन्ता न करो। हैं तुम्हारे पास प्रार्थनापत्रों की प्रतिलिपियां ?"

जीजी घर मे घुसी। एक मामूली-सा, पुराना ब्रीफ केस उठाकर ले आई। उन्होने उसे मेज पर रख कर खोला। बहुत सारे पत्र थे, बहुत सारी कतरनें थीं, जिन्हें पढ़ने से पता चलता था कि श्री ओंकारनाथ शास्त्री भारत के इने-गिने साहित्यशास्त्री, कोशनिर्माता और भाषा-वैज्ञानिक हैं। जीजी एक-एक कर उन्हें मेरे आगे रखती गईं और मैं पढता गया। उसके बाद उन्होने आवेदनपत्रों की प्रतिलिपियां, डाक्टरों के नुस्खे आदि मेरे आगे रखे। वे सब तिथिक्रम से जेम्सक्लिप में लगे हुए थे। मैंने पढकर कहा, "कोई छोटी-मोटी फाइल्स मे इन्हें लगाकर मुझे अभी दे दो।"

"अभी तो तुम हो न ?"

"होने से क्या होता है जीजी ! मैं भी व्यस्त हू और तुम भी दुखी हो। कही तुमने देना और मैंने लेना···।"

जीजी बोली, "ना, तुम ठीक कहते हो। मैं अभी सब दिए देती हू। वैसे दिल्ली में तुम रहते कहा हो ? मान लो, कभी आना ही पड जाए।"

मैंने 'अशोका रोड' बतला दिया, पर मकान का नम्बर एकदम ग़लत बतलाया। थोडी देर बाद वहा से निकला, तो जीजी मेरे साथ बाहर आईं। मेरे बाएं हाथ मे उनकी दी हुई छोटी-सी फाइल थी। दीक्षित जी भीतर ही रह गए थे। जीजी ने उनसे कहा था, "पिताजी, आप धीरज रखें, हितू दिल्ली जाने वाला है। सब कर-करा देगा।"

उधर खाट पर बैठे दीक्षित जी पचांग देख रहे थे। शायद ओंकारनाथ शास्त्री की ग्रहदशा देख रहे हों। बाहर के चौखट को पार करते ही जीजी ने कहा, "उधर पाच मिनट के लिए फालसे की ओर चलो। थोडी और बातें कर लू।"

मैंने घड़ी की ओर निगाह डालकर यह जतलाना चाहा कि मेरे पास ज्यादा समय नही है और साथ ही फालसे की ओर मुड भी गया। यह बायीं ओर का मैदान, ये उत्तर-पश्चिम के कोने के कई छोटे-बडे वृक्ष, यह सामने का अनगढ तालाब, तालाब की दायी ओर सिढियों वाला विशाल

मकान—सब लगभग ज्यों-के-त्यों थे। मात्र हम में परिवर्तन आया था। जीजी मुझसे बोलीं, "हितू, तुम पर बहुत भरोसा करती हूं। सुना है, नेता लोग दुहरी जबान रखते हैं। मेरा ख़याल है, मेरे लिए तुम जो वचन दोगे, उसे पूरा करोगे। मेरे लिए तो तुम अब भी बचपन वाले भोले और प्यारे हितेन्द्र हो।"

मैंने नाटकीय शैली में कहा, "जीजी, मैं जीजा जी के लिए राष्ट्रपति तक के दरवाज़े पर धरना दे सकता हूं।"

जीजी ने कई क्षण मेरी ओर कृतज्ञतापूरित नेत्रों से देखा और मैं लौट आया।

३०

जीजी पहले पटना गईं, दिल्ली मैं बाद में गया। जिस दिन प्रातः दस बजे अमृतसर-हावड़ा मेल उन्हें पकड़ना था, उसी दिन प्रातः आठ, सवा आठ के करीब वे मेरे घर आई थीं। मैं कहीं जाने के लिए तैयार होकर निकल रहा था। मुख्य द्वार के चौखट पर मिल गईं। मैंने सहानुभूति के स्वर में पूछा, "क्या है जीजी ?"

वे मेरे पास बिल्कुल आमने-सामने खड़ी हो रहीं, बोलीं, "हितू, मैं तो बस दो घण्टे बाद पटना जा रही हूं। सोचा, तुमसे मिल लूं। तुमने जो आश्वासन मुझे दिए हैं, उनसे मेरा टूटता हुआ उत्साह जुड़ा है। जाकर तुम्हारे जीजाजी को सब बतलाऊंगी।"

"हां, ठीक है। बतलाना।"

जीजी ने जैसे मुझसे भिक्षायाचना की। पूछा, "तो फिर मैं तुम्हारा भरोसा लिए जाऊं न ?"

"और नहीं तो क्या !"

"बड़ा पुण्य होगा हितू ! कोई माने या नहीं माने, वे मेरे सर्वस्व होने

के साथ देश के भी सर्वस्व हैं।"

'हां जीजी, ठीक कहती हो।"

"तो फिर मैं चली'''।"

मैंने जीजी को मुड़कर अपने मकान के अहाते में समाते हुए देखा। मुझे चिरंजीलाल के घर जाना था। उसे न तो मैं आसानी से छोड़ सकता था और न वह मुझे। राजनीति के प्रारम्भिक छलछद्म आखिर उसी ने तो मुझे सिखलाए थे। तब थोड़ा फर्क देखा। राज्य-स्तर के राजनीतिक छलछद्म और केन्द्र-स्तर के छलछद्म में हाई स्कूल के पाठ्यक्रम और एम०ए० के पाठ्यक्रम का अन्तर होता है। फिर इतना तो मानना ही होगा कि जिसकी पढाई की जड हाई स्कूल तक काफी मजबूत हो जाती है, वह घिसता-पिटता भी एम० ए० तक पहुच जाता है, तो कम-से-कम परीक्षा-फल मे द्वितीय श्रेणी तो अवश्य ले आता है। इस प्रकार चिरंजीलाल मेरा प्रोफेसर नही, तो मास्टर तो जरूर रहा।

वह पुरानी हरदोई मे रहता था। मेरे घर मे लगभग तीन किलोमीटर दूर। मैं रोड पर आया और रिक्शा करके चल पडा। एक ऐसा काम था, जिसके पूरा हो जाने पर हम दोनो को लाभ-शुभ की प्राप्ति हो जाती। जिसका काम कराने का जिम्मा मैंने लिया था, उसने हमे खुश करने की राशि चिरंजीलाल के पास जमा कर दी थी। यह अच्छी-खासी राशि थी। मैं चाहता, तो जीजी को आज पटना जाने से रोक लेता। चिरंजीलाल के यहां से अपने हिस्से की राशि ले आता और चुपके से फालसे के वृक्ष के पास जीजी को बुलाकर सौंप देता। साथ ही कहता, "इसे रखो, मैं दिल्ली जा रहा हूं। प्रधान मन्त्री और स्वास्थ्य मन्त्री से कह-सुनकर इतनी राशि का चेक भिजवा दूंगा कि तुम जीजाजी का इलाज कैंसर इस्टिट्यूट, बम्बई में करा सकती हो।"

मगर, वह धातु कहां था, जो अग्निज्वाला से तप कर बाहर निकलता और तब मेरा रंग और भी निखरा हुआ होता—कनक, सोना, कुन्दन, स्वर्ण !

मैं दिल्ली चला आया और आनन्दपूर्वक रहने लगा। सात-आठ दिन बाद एक पत्र मेनका का मिला, जिसमे उसने लिखा था कि मैं लखनऊ

आकर उसे बच्चों समेत दिल्ली लिवा आऊं। और एक पत्र जीजी का भी था। हालांकि जीजी को अपना पता देते समय मैंने अशोका रोड तो बतला दिया था, मगर मकान का नम्बर गलत बतलाया था। फिर भी एम० पी० के नाम पत्र ठहरा। पत्र मुझे सही समय पर मिला। सरकार की ओर से एक निर्देशिका छपी होती है, जिसमें संसद सदस्यों और मंत्रियों के स्थायी और दिल्ली के पते के साथ फोन नम्बर भी छपे होते हैं। दिल्ली के प्रायः प्रत्येक डिलीवरी डाकखाने में इस निर्देशिका की एक प्रति होती है, ताकि इन 'महत्त्वपूर्ण' व्यक्तियों के पत्र सही समय पर पहुंचाए जा सकें। अतः, जीजी का पत्र मुझे मिल ही गया। जीजी ने लिखा था कि वे बड़ी बेसब्री से मेरे द्वारा किए गए प्रयत्नों के फल की प्रतीक्षा कर रही हैं। उनके शब्दों में—"यहां चार-पांच डाक्टर ऐसे हैं, जो अपनी-अपनी प्राइवेट क्लिनिक के साईनबोर्ड में अपने नाम और डिग्री के बाद 'कैंसर विशेषज्ञ' शब्द जोड़े हुए हैं, किन्तु इनमें से कोई भी कैंसर रोग से पीड़ित मरीज को कैंसरमुक्त करने की स्थिति में नहीं हैं। एक-दो सज्जन तो इन्हें लेकर विदेश जाने की सलाह देते हैं, अमेरिका, रूस और जर्मनी का नाम लेते हैं। लेकिन मैं सोचती हूं कि सरकार इतने पैसे नहीं दे सकती। मेरे मुहल्ले में एक आदमी ऐसा है, जो कुछ नेतागीरी करता है। मगर, वह किसी दल का आदमी नहीं जान पड़ता। उसका कहना है कि मेरे आवेदनपत्रों पर दिल्ली में कोई सुनवायी नहीं होगी। शास्त्री जी को अधीति विद्वान की जगह एम० पी० या मन्त्री होना चाहिए था। इन दोनों में से एक भी होते, तो दुनिया के किसी भी देश में उनके इलाज की व्यवस्था सरकार कर देती। जो भी हो, मेरे मन में तो तुम्हारा दिया हुआ विश्वास बैठा हुआ है। वह मेरे घर आता है, शास्त्री जी को धैर्य बंधाता है। डाक्टरों के यहां आने-जाने में हमारी सहायता करता है। कोई दवा का दुकानदार उसकी जान-पहचान का है। वहां से कम्पनी की रेट पर आई हुई दवाएं ला देता है। खैर, वह जो भी सहारा दे रहा है, उसके लिए मेरे हृदय में कृतज्ञता की भावनाएं तो हैं ही। उसी से एक तथाकथित कैंसर-विशेषज्ञ ने बतलाया कि रोगी का हाल खराब होता जा रहा है। पटना के भरोसे रहना ठीक नहीं। इसीलिए तुम्हें लिख रही हूं कि तुम, चाहे जिनसे तुम्हें मिलना-कहना पड़े, जल्दी मिल

और कह कर जो करा सकते हो, कराओ। मैं सरकार से भोजन और वस्त्र नहीं मांगती, सिर्फ इलाज कराने के लिए आर्थिक सहायता मांगती हूं। तुम शीघ्र ही मुझे सूचित करो कि अब तक तुमने इस दिशा में क्या किया है। अब तुम्हारे जीजा जी को पीड़ा होने लगी है। वे छटपटाया करते हैं। कहते हैं—सुनन्दा, अब साथ छूटने ही वाला है। बोलो, यह सुनकर मुझे कैसा लगता होगा!"

और एक और महत्वपूर्ण वाक्य—'इन दिनों इनका पेट सूजकर कुछ ऊपर की ओर उठ आया है।'

मैंने पूरे पत्र को एक से अधिक बार पढ़ा और यह इरादा बनाकर रख दिया कि इसका उत्तर नहीं देना है। मेनका के पत्र का उत्तर मैंने दूसरे ही दिन दे दिया। उसके विचारों से सहमति जाहिर करते हुए मैंने लिखा कि ठीक कह रही हो। अब मेरा मन भी तुम्हारे और बच्चों के बिना नहीं लगता है। इतनी बड़ी सजी-संवरी दिल्ली तुम लोगों के बिना बड़ी सूनी लगती है।

मैंने वास्तव में जीजी के पत्र के अनुसार, जो करना चाहिए था, कुछ भी नहीं किया। इस मामले में मैं एकदम अलिप्त बना बैठा रहा। मुझे लगा, यह रोग मैंने व्यर्थ ही बैठे-बिठाए पाल लिया और मैंने यह भी सोचा कि भला यहां कौन अमर होकर रहने आया है? मैंने अपने-आप से जैसे प्रश्न किया—क्या यह दुनिया की पहली घटना होगी, जिसकी तहत सुनन्दा शास्त्री के मांग का सिन्दूर मिटा दिया जाएगा? और उत्तर मिलने में देर नहीं हुई—नहीं, कभी नहीं। विधवाएं भला संसार के किस देश, किस नगर, किस कस्बे और गांव में नहीं पायी जातीं? यह तो मात्र एक जीवन-चक्र है।

मैंने कई बार ऐसा अनुभव किया है कि मनुष्य जिस अतीत से भागने का बार-बार प्रयास करता, उसका मन उसी अतीत से बार-बार बंधने का प्रयास करता है। कभी उसे छूकर हट जाता है, कभी उससे लिपट कर ढीला पड़ जाता है और कभी लगातार बंधता-खुलता चलता है। ऐसा अतीत वर्तमान को पूर्णतः मुक्त नहीं करता। और दूसरा अनुभव यह कि भावावेश कल्याणकारी और विनाशकारी दोनों होता है। इसके वश होकर

प्रेमवश उसने एक कमरा दे रखा है। मगर उसका भी भाड़ा चुकाता हूं। वह नहीं मांगता, मगर मेरा फ़र्ज क्या है?"

उसका कहना अक्षरशः सही था। उसने आगे कहा, "हम जनता को जनतन्त्र के मुग़ालते में रखकर बांसुरी बजा रहे हैं। जिस आदमी के कुरते को जनता का पसीना कभी छू नहीं सकता, वह संगीनधारियों से घिरे रंग-मंच से बोलता है कि वह जनता का प्रतिनिधि है।"

मैंने उससे बहस नहीं की। मुझे मालूम था कि वह मुझे देखते-देखते पराजय की धूल चटा देगा। वह बड़ा ही अकाट्य व्यंग्य कसता था। उसे सत्ताधारी नेताओं के परस्परविरोधी बयान तिथिक्रम से याद थे। पार्लियामेण्ट में वह एक तरह से सरकारी बेंचों पर बैठे हुए चेहरों को रुला-रुला डालता था। उसकी ली हुई हर चुटकी लाजवाब होती थी।

मैं दो-चार दिनों में लखनऊ जाकर मेनका और बच्चों को ले आने वाला था। अब मेरे पास निजी कार हो गई थी। उसके सहारे मुझे कहीं आने-जाने में परेशानी नहीं होती थी। जहां और जब जी में आता, किसी अच्छे होटल में चला जाता और खाना खा लेता था। पार्लियामेण्ट चलते रहने के दिनों में तो वहीं बढ़िया भोजन मिल जाता था। चाय पीने के लिए मैंने डिब्बे वाला दूध और हीटर रख छोड़ा था। मिनटों में चाय बन जाती थी।

सुबह के साढ़े पांच से कम नहीं बजे होंगे। मटमैले मेघखण्ड अभी भी सामने के आकाश में नजर आ रहे थे। बाहर आरामकुर्सी पर बैठा मैं वर्षा के शीघ्र बाद उभरी प्रकृति की शोभा निहार रहा था। पीछे के वृक्षों के पत्तों और सामने लगे फूलों के पौधों ने खूब स्नान कर लिया था। बिजली के तार भींग गए थे और उनसे रह-रह कर अभी भी बूंदें टपक रही थीं। सड़क धुली-पुंछी साफ-सुथरी देख रही थी। पूरी ऋतु सुहानी हो गई थी। मैंने दुबारे चाय बनायी और कप लेकर बाहर लगी आराम-कुर्सी पर आ बैठा। छोटी-सी मेज के तीन ओर धोबी का लड़का चार-पांच कुर्सियां क़ायदे से रख गया था। और सड़कों की तरह अशोका रोड पर भी कारें सरसराती हुई आने-जाने लगी थीं। मेरी आरामकुर्सी इस प्रकार लगी थी कि उस पर बैठा-बैठा मैं सामने के सारे दृश्य सुविधापूर्वक देख

रहा था।

आध घण्टा और बीत चुका। मैं प्याला उठाकर भीतर रख आया। थोड़ी देर में धोबी का लड़का आता और उसे धो-धाकर रख देता। मैं पुन: आरामकुर्सी पर आ बैठा और सोचने लगा कि मेनका के आने पर किस कमरे में क्या रहेगा, कौन-सा सामान किधर सजाया जाएगा, गॉदरेज कम्पनी की बनी स्टील की दो और दो छोटी-बड़ी, चारों आलमारियां कहां-कहां रखी जाएंगी। फिर फ्रीज'''। फोन'''दो रूम हीटर'''।

टेलीवीजन खरीद कर दुकानदार के यहां ही रखा हुआ था। मेनका के आने पर उसका आदमी उसे लाकर 'फिट' कर जाएगा, यही दुकानदार से तय था।

तभी एकाएक मेरी समस्त आनन्दानुभूति पर जैसे तुषारापात हो गया। अहाते के गेट पर दृष्टि गई। मैंने देखा, जीजी हैं। उनके साथ लगा, शास्त्री जी हैं—ओंकारनाथ शास्त्री। कैंसर से व्यर्थ ही संघर्ष कर रहा एक पुरुषदेहधारी जीव। जीजी ने वहीं से मुझे देख लिया था। ठिठकी थीं। शास्त्री जी से कुछ कहा था। शायद यही कहा हो—अब परेशान होने की जरूरत नहीं। वह क्या बैठा है अपना हितू। चलो, हम उसके पास पहुंच गए।

मेरे मन का स्वाद बिगड़ गया, किन्तु, यह स्थिति ऐसी थी कि अपनी घृणा को छिपाने के सिवा कोई और विकल्प नहीं रह गया था। झूठा प्रेम, झूठी विनम्रता प्रकट करना और झूठे आंसू बहाना गांधी जी तो नहीं जानते थे, मगर उनके नाम पर वोट बटोरने वाला मैं और मेरी ही तरह बापू के आदर्शों को जिन्दा रखे रहने के अनेको पुरोधा इस कला मे पारंगत थे। मैं अपनी कुर्सी छोड़कर उठा और इस प्रकार आगे बढ़ा, जैसे जीजी और शास्त्री जी की अगवानी करने के लिए उठा होऊं। दो-चार-दस कदम ही गेट की ओर बढा होऊंगा कि जीजी वेग से मेरी ओर बढ़ीं। शास्त्री जी उनके पीछे थे। जीजी के दाएं हाथ मे एक सूटकेस था, कन्धे पर एक एयरबैग। शास्त्री जी भी हाथ मे कुछ लटकाए हुए थे। हरदोई की लड़कियां और महिलाएं आनन्द एव शोक दोनो व्यक्त करने वाले वाक्य बोलने से पहले 'हाय' शब्द अवश्य बोलती हैं। जीजी ने मेरी ओर बढ़ते

हुए बड़े उल्लास से कहा, "हाय हितू ! तुम मिल गए ! हम तो समझो, पूरा अशोका रोड छान मारे।"

मैं झूठ बोला, "क्यों, तुम्हें सही नम्बर पर चला आना था।" झूठ इसलिए कि मैंने सही नम्बर उन्हें बतलाया कहां था ? शायद नम्बर न बतला कर सिर्फ अशोका रोड कह दिया हो या नम्बर बतलाया भी हो, तो ग़लत। मैं तो जीजी के प्रति असत्य के भाव से इतना भरा रहता था कि भूल जाता था कि उनसे किस अवसर मैंने क्या कहा। स्मरणशक्ति की भी सीमाएं हैं। एक झूठ बोला होता, तो वह याद भी रहता। मैंने तो असत्य भाषण की शृङ्खलाएं बना रखी थीं।

जीजी ने इस क्षण भी मेरे साथ सहयोग ही किया। खड़ी हो गई और बोलीं, "ओह, तुम ठीक कहते हो। मगर तुम्हारा बतलाया हुआ नम्बर तो मैं भूल गई थी। सिर्फ अशोका रोड याद रहा।"

"चलो, कोई बात नहीं। आ तो गई।"

मैंने बड़ी देर से शास्त्री जी का अभिवादन किया। वह आदमी इस अवस्था में भी ऐसा हठी कि उसने पहले मेरा अभिवादन लेना ही स्वीकार किया। उसे अपनी उम्र की लम्बाई और यश का गुमान अब भी था। मैंने जीजी के हाथ से सूटकेस पकड़ना चाहा। मगर, जीजी ने मुझे ऐसा नहीं करने दिया। बोलीं, "अरे ना ! अब तो अपने घर में आ गई। चलो, चलो।"

'अपने घर में,' यह विश्वास और यह अपनत्व जीजी को कितनी गहराई से दंशित कर रहा था, जीजी की समझ में अब तक नहीं आया था। मैं विनम्रता का अभिनय करता रहा। अब याद आया। शास्त्री जी के हाथ में प्लास्टिक की एक डोलची थी। अपनी भाभी 'दुलहिन' की अनुपस्थिति जीजी को खटकी। थोड़ी ही देर बाद उन्होंने डोलची से बहुत सारी पूड़ियां और अचार निकाले। कागज के थैले में मेरे लिए लगभग आध किलो फालसा भी ले आई थीं। बड़े प्यार से वह थैला मुझे पकड़ाया।

३२

मेरी दिल्ली वाली गृहस्थी में [illegible] थी ? [illegible], वह भी ऊबड़-खाबड़। एक [illegible] के कोने में [illegible]। [illegible] वह दरी बिछा दी और शास्त्री जी से कहा, "[illegible]। [illegible] क्या करें !" दुल्हिन तो है नहीं। वह होती, [illegible]।"

शास्त्री जी [illegible] अलग बुलाकर कहा था, "[illegible] जमीन तो आखिर जमीन ही है न, [illegible]।"

[illegible] ने [illegible] बात [illegible]। कोई बात नहीं। [illegible]।"

[illegible]

हुए बड़े उल्लास से कहा, "हाय हितू ! तुम मिल गए ! हम तो समझो, पूरा अशोका रोड छान मारे।"

मैं झूठ बोला, "क्यों, तुम्हें सही नम्बर पर चला आना था।" झूठ इसलिए कि मैंने सही नम्बर उन्हें बतलाया कहां था? शायद नम्बर न बतला कर सिर्फ अशोका रोड कह दिया हो या नम्बर बतलाया भी हो, तो ग़लत। मैं तो जीजी के प्रति असत्य के भाव से इतना भरा रहता था कि भूल जाता था कि उनसे किस अवसर मैंने क्या कहा। स्मरणशक्ति की भी सीमाएं हैं। एक झूठ बोला होता, तो वह याद भी रहता। मैंने तो असत्य भाषण की शृङ्खलाएं बना रखी थीं।

जीजी ने इस क्षण भी मेरे साथ सहयोग ही किया। खड़ी हो गईं और बोलीं, "ओह, तुम ठीक कहते हो। मगर तुम्हारा बतलाया हुआ नम्बर तो मैं भूल गई थी। सिर्फ अशोका रोड याद रहा।"

"चलो, कोई बात नहीं। आ तो गईं।"

मैंने बड़ी देर से शास्त्री जी का अभिवादन किया। वह आदमी इस अवस्था में भी ऐसा हठी कि उसने पहले मेरा अभिवादन लेना ही स्वीकार किया। उसे अपनी उम्र की लम्बाई और यश का गुमान अब भी था। मैंने जीजी के हाथ से सूटकेस पकड़ना चाहा। मगर, जीजी ने मुझे ऐसा नहीं करने दिया। बोलीं, "अरे ना! अब तो अपने घर में आ गई। चलो, चलो।"

'अपने घर में,' यह विश्वास और यह अपनत्व जीजी को कितनी गहराई से दंशित कर रहा था, जीजी की समझ में अब तक नहीं आया था। मैं विनम्रता का अभिनय करता रहा। अब याद आया। शास्त्री जी के हाथ में प्लास्टिक की एक डोलची थी। अपनी भाभी 'दुलहिन' की अनुपस्थिति जीजी को खटकी। थोड़ी ही देर बाद उन्होंने डोलची से बहुत सारी पुड़ियां और अचार निकाले। कागज के थैले में मेरे लिए लगभग आध किलो फालसा भी ले आई थीं। बड़े प्यार से वह थैला मुझे पकड़ाया।

३२

मेरी दिल्ली वाली गृहस्थी में मही व्यवस्था कहां थी ? जो कुछ थी, वह भी ऊबड़-खाबड़। एक दरी हॉल के कोने में रखी हुई थी। जीजी ने वह दरी बिछा ली और शास्त्री जी से कहा, "इसी पर लेट रहो। हितू भी क्या करे !" दुलहिन तो है नहीं। वह होती, तो सब कुछ ठीक रहता।"

शास्त्री जी हल्की-सी कराह के साथ लेट रहे थे। मैंने जीजी को जरा अलग बुलाकर कहा था, "जीजा जी को मेरे पलंग पर लेटने के लिए कहो। जमीन तो आखिर जमीन ही है न, तकलीफ होगी।"

जीजी ने मेरी बात अस्वीकार कर दी। कहा, "नहीं, वे ठीक से लेटेंगे। कोई बात नहीं। मैं तो इन्हें लेकर आती भी नहीं।"

मैंने जीजी की ओर यों देखा, जैसे पूछ रहा होऊं कि तो फिर लेकर आ ही क्यों गई ? वे अपने-आप आगे बोलीं, "मैंने कई पत्र तुम्हारे नाम डाले, मगर जब तुम्हारी ओर से···।"

मैंने टोका, "अरे जीजी, तुम यह क्या कह रही हो ?"

"सच कह रही हूं।"

"भाई, तुम भी गजब करती हो।"

"हां रे हितू, तू मेरा कहा सही मान।"

मैंने अप्रत्यक्षः उनके दावे को खण्डित करने के इरादे से कहा, "रोड और मकान नम्बर की बात छोड़ो। यहां तो सिर्फ नाम के बाद एम० पी० लिख दो, पत्र मिल जाएगा। ठीक याद करो, पत्र डाले थे ?"

जीजी ने पुनः मेरी प्रतिष्ठा पर अपना आंचल डाल दिया। कहा, "तुम्हारा कहना सही है हितेन्द्र ! ऐसा भी तो हो सकता है कि मैंने तुम्हें पत्र डालने का इरादा बना लिया हो और वास्तव में डाला न हो। फिर ऐसा आभास हो रहा हो कि मैंने पत्र डाल दिया। किसी विशेष मानसिक परिवेश में मनोविज्ञान इस स्थिति को एक तथ्य मानता है, इसकी तात्त्विकता पर सन्देह नहीं किया जा सकता। चलो छोड़ो, अब तो आ ही गई हूं।"

जीजी ने मेरे व्यक्तित्व को, जो अनावृत हो चुका था, आवृत कर दिया। उदात्तता की कैसी अतल गहरायी से बोली थीं वे ! मुझमें तो अब इतनी नैतिकता भी शेष नहीं रह गई कि उनकी इस शालीनता के प्रति उनके सामने नतमस्तक हो सकूं।

मेरा मस्तिष्क अब इस दिशा में कार्य करने लगा कि क्या कहकर इन दोनों से मुक्ति पायी जाए ? मैंने बगल के एम० पी० के नौकर को बुलवाया और जीजी के सामने ही पूछने लगा कि क्या वह अपने स्वामी के घर से हमें पांच-सात दिनों के लिए कुछ बर्तन दे सकता है। मैंने उसे बतलाया कि दैनिक उपयोग वाले बर्तन चाहिए। जैसे—जैसे पतीली, भगोना, चमचा, कड़ाही, कटोरे, थाल आदि-आदि। उसने जब विवशता दिखलायी, तो मैंने पूछा, "तुम हमारे लिए आसपास के किसी होटल से खाना ला दे सकते हो ?"

नौकर ने मुंह बनाते हुए कहा, "फ़ुर्सत तो एक मिनट को नहीं मिलती। अच्छा, मेम साहब से पूछूंगा।"

"अच्छा जाओ, हम कोई दूसरा उपाय कर लेंगे।" मैंने कहा और तब वह नौकर जैसे गला छुड़ाकर भागा।

दर्द कम करने वाली कोई दवा खाकर शास्त्री जी ने दरी पर ही बैठे-बैठे हमारे साथ चाय पी। मैं बचपन वाला ही हितेन्द्र हूं, यह प्रदर्शित करने के इरादे से दरी पर ही उनके पास बैठ गया था। नहीं भी बैठता, किन्तु मुझे इस बात की पक्की जानकारी थी कि कैंसर संक्रामक रोग नहीं है। खैर, तभी जीजी ने शास्त्री जी से कहा, "जरा कुरता हटा कर हितू भैया को अपना पेट दिखला दो।"

शास्त्री जी ने यन्त्रवत् अपने पेट पर का कुरते का भाग ऊपर उठाकर अपना पेट मुझे दिखला दिया। पेट काफी सूज आया था और देखने में भी कुछ वीभत्स ही लगता था। मैंने कहा, "देखना क्या है जीजी ! सच यह है कि हमें पूरे एहतियात से इलाज कराना है।"

"ठीक हो जाएगा न ?" जीजी ने पूछ दिया।

मैंने कहा, "क्यों, कोई असम्भव बात है क्या ! डाक्टर अमर नहीं बना सकते, पन्द्रह-बीस साल तक जीवन को बढ़ा तो सकते ही हैं। एक-से-एक

दवाएं निकल गई हैं।"

वीस साल !

जीजी का चेहरा खिल उठा। बोली, "ओह हितू, तब तो मजा आ जाएगा भाई ! मैं क्या बीस साल चलने वाली हूं। मेरे लिए तो पांच-सात साल के भीतर ही तुम्हें बांस का उड़नखटोला बनवाना पड़ेगा। मैं सुहागिन रहते मरूंगी..." फिर उन्होंने शास्त्री जी की ओर सिर उठाकर कहा, "और सुन लो अक्षरब्रह्म के साधक श्री शास्त्री महोदय, कहीं हाथ छोड़कर चल मत देना। तुम पुरुष नहीं, महापुरुष होकर जनमे हो। महापुरुष जिस अभागन के हाथ थाम लेते हैं, उसे कभी नहीं छोड़ते।"

शास्त्री जी ने तब मेरी ओर देखते हुए कहा, "सुन रहे हो हितेन्द्र बाबू। यह ऐसे ही पागलों की भांति बोलती रहती हैं। मृत्यु इस प्राणि-जगत का अनिवार्य और अपरिहार्य सत्य है। जब जीवन धारण किया है, तो मरण का वरण भी करना ही होगा। मैं तो यहां तक आने के लिए तैयार नहीं था। मगर यही मुझे यहां तक खींच लायी।"

जो भी हो, मैं इन लोगों को तरह-तरह के बहाने से टालता रहा और पुनः मेरे द्वारा दिए गए झूठे आश्वासनों का बोझ लेकर जीजी दूसरे दिन रात्रि आठ बजे के लगभग काशी-दिल्ली एक्सप्रेस से अपने पति के साथ हरदोई वापस चली गईं। न मैंने उन्हें कुछ दिया और न उन्होंने मुझसे कुछ मांगा। मेरा जी हल्का हुआ।

३३

मेरे प्रयत्नों से पिताजी कानून के सारे व्यूहों से सुनाम के साथ वापस आ चुके थे। उनके दोस्तों ने मुझसे मिल कर मेरी सुपात्रता की प्रशंसा की। एक ने कहा, "भइया, तुम तो भगीरथ निकले।" मैं चुप रहा। मैंने तो अनुभव कर लिया था कि कानून शक्तिहीनों और साधनहीनों के लिए ही

र पर। इसी दौरान किसी बड़े नगर के सर्किट हाऊस में स्वास्थ्य
फ़ नेताजी ने सिद्धावस्था में मुझसे पूछा, "मन्त्रिमण्डल में आना
?"

श्न सुनते ही मैं गद्‌गद हो उठा। लगा, कोई मुझे पकड़ कर वाणिज्य
लय में लिए जा रहा है। ऐसा लगने का कारण था। मुझे इस बात
सूचना थी कि इस विभाग के एक उपमन्त्री को भी अपने कुरते में
री जेब लगवानी पड़ती है। मगर, मैंने बनावटी अनिच्छा प्रकट करते
ए कहा, "आना तो चाहता था अवश्य, मगर सुनता हूं, फाइलों के बोझ
दब जाना पड़ता है। मिलने-जुलने वालों की पंक्ति लम्बी हो जाती है
और उसके बाद बदनामी मिलती है अलग से।"

मन्त्री जी ने कहा, "सौभाग्यफल का बंटवारा करते चलोगे, तो एक-से-एक बदनामी आएगी और प्रधान मन्त्री एक ही बार में उन्हें अपने दामन में समेट लेंगे। चिन्ता न करो। मन्त्रिमण्डल का पुनर्गठन होने वाला है। मैं प्रधान मन्त्री जी से तुम्हारे लिए सिफारिश करूंगा।"

मेरे लिए तो जैसे कोई दैवी चमत्कार हो गया। मैं नेताजी के प्रति कृतज्ञता से भर उठा। प्रतापगढ़ से उनके साथ जो वायुयान से उड़ा, तो सीधे दिल्ली आ गया। अकारण, मगर कोई-न-कोई कारण बनाकर नेताजी के बंगले पर दिन में एक बार ज़रूर जाने लगा। उन्होंने सही कहा था। यहां आने के बाईसवें रोज बाद सचमुच सुना गया कि दो-एक दिनों में मन्त्रिमण्डल में हेरफेर होने वाला है। कई नए चेहरे सामने वाले द्वार से आएंगे और कई पुराने चेहरे पिछले द्वार से खदेड़ दिए जाएंगे। राजधानी
में राजनीतिक सरगर्मी बढ़ गई और मैं इस कल्पना का जाल बुनने ल
कि मैं मन्त्रिस्तर के बंगले में रहने लगा हूं। कई निजी सहायकों और उ
सचिवों का हुजूम मेरे सामने खड़ा है। दर्शनों के प्रार्थी सेठ-साहू
मिलने के लिए बाहर बैठे हुए हैं। मुख्य द्वार के बायीं ओर सुरक्षा
हैं। उनका तम्बू लगा हुआ है। कोई वर्दी के बटन चमका रहा है, तो
रिवाल्वर की नली साफ कर रहा है। दो-चार सी० आई० डी०
दर्शनार्थियों के रूप में अन्दर-बाहर आ-जा रहे हैं। हरदोई से चिरं
आ गया है और मेरा 'चाचा' कहा जा रहा है। सेठ-साहूकार पह

से मिलकर लाभ-शुभ की बातें तय कर सकते हैं। सुना है, लगभग हर मन्त्री अपने साथ एक ऐसा महासहायक रखता है।

× × ×

प्रकृति ने अनवरत् वर्षा के माध्यम से अपनी विनाशलीला का प्रदर्शन किया। हजारों वृक्ष उखड़ गए। सैकड़ों मकान ध्वस्त हो गए। बिजली के पचासों खम्भे गिर कर धराशायी हो गए। हरदोई का कोना-कोना मेरा चुनावक्षेत्र था। स्थिति का जायजा लेने और लोगों को राहत दिलाने के इरादे से मैं हरदोई आया। अब मैं केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में राज्य मन्त्री बन चुका था। आया, तो मेरे साथ कई अधिकारी आए। राज्य शासन की ओर से मेरे सुरक्षार्थ दर्जनों संगीनधारी भी नियुक्त कर दिए गए थे। मेरे घर के चारों ओर जैसे चहल-पहल नाच रही थी। मैं बेघर हुए लोगों को यह विश्वास दिलाने आया था कि उनके लिए कुछ राज्य सरकार करेगी और कुछ दिल्ली की सरकार।

मगर जिस शाम यहां आया, उसी शाम छोटे भाई ने बतलाया कि दीक्षित चाचा के दामाद शास्त्री जी नहीं रहे। मैंने उससे पूछा, "और सुनन्दा जीजी ?"

उसने कहा, "वह यहीं हैं। वे भला अब कहां आएंगी ?"

"क्यों, पटना…।"

छोटी मां बोलीं, "वहां भला क्या है ? तेरही के बाद दीक्षित जी सुनन्दा को लेकर पटना जरूर गए थे।"

"क्या करने ?" मैंने पूछा।

छोटी मां ने प्राप्त सूचना के आधार पर कहा, "शास्त्री जी की बहुत सारी किताबें वहीं तो थी। उन्हें लाने गई थी।"

"हरि इच्छा बलवान !" कह कर मैंने जम्हाई ली और चुटकी बजायी। फिर मैंने छोटी मां से पूछा, "उन ढेर सारी किताबों से क्या कुछ होने वाला है ?"

छोटी मां बोलीं, "अब जो होने वाला हो। इसमें हमारा भला क्या चला जाता है ?"

"अब जीजी करती क्या हैं ?" मैंने फिर एक प्रश्न किया।

छोटी मां जैसे भीतर से झुंझला आई। प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा, "क्या करती हूं और क्या नहीं करती हूं, इसका लेखा-जोखा लेने भला कौन जाए ! सुनन्दा जैसी लड़की के लिए वैधव्य ही इतना क्लेश-दायक दंश है कि जिसकी सीमा नहीं।"

"हां छोटी मां, यह तो है।" मैंने कहा और बाहर चला आया। बहुत सारे लोग थे। कोई खड़ा था, तो कोई बैठा हुआ था। कोई चला ही आ रहा था। मैं आकर आरामकुर्सी पर बैठ रहा। मेरा अंगरक्षक मेरी पीठ के ठीक पीछे खड़ा हो रहा है। कमर में खुंसे रिवाल्वर के हत्थे का पिछला भाग साफ दिखलायी दे रहा था। तभी मेरे ठीक सामने से जीजी गुजरीं। उन्होंने मेरी ओर एक दृष्टि डाली। उस दृष्टि की वेधकता में कितनी शक्ति थी, वह एक प्रकार से मेरे लिए वर्णनातीत है। वे निमेष मात्र को रुकीं। उनके अधर कांप कर रह गए और फिर वे बड़ी तेजी से अपनी राह चली गईं।

३४

मैंने सरकारी स्तर पर सचमुच हरदोई में बेघर हो गए लोगों के लिए कुछ किया-कराया था। फलतः मेरी लोकप्रियता बढ़ गई थी। दुबारा लगभग पौने दो माह बाद पुनः हरदोई आया, तो चिरंजीलाल ने यहां की जनरुचि का गुप्त सर्वेक्षण कर मुझे बतलाया कि लोग बड़े खुश हैं। अगले चुनाव में आपके सिवा कोई भी उम्मीदवार विजयी नहीं घोषित होगा।

लेकिन, दूसरी ओर से मैं परेशान था। इस बार परिवार में पूछताछ करने पर पता चला कि दीक्षित जी के यहां से मेरे विषय में किसी प्रकार की जिज्ञासा नहीं प्रकट की जाती।

घर से बाजार या कहीं और जाने का रास्ता मेरे मकान के सामने से ही था। भाई ने बतलाया कि दीक्षित जी, उनकी पत्नी या सुनन्दा जीजी

का सामने से आना-जाना तो लगा रहता है, पर कोई कुछ पूछता नहीं है। चुपचाप वे अपनी राह चले जाते हैं।

"इधर-उधर शिकायत तो नहीं करते?" मैंने पूछा।

भाई ने बतलाया, "ना, कोई शिकायत नहीं, भाईसाहब, बस ऐसा ही लगता है कि वे इस मुहल्ले में रहने के लिए अभी नए-नए आए हैं और पहले से जान-पहचान नहीं रहने के कारण बोलने में संकोच करते हैं।"

"तुम लोगों की ओर घृणा-भरी दृष्टि तो नहीं डालते?"

"ना, ऐसा कभी नहीं किया।"

"खास कर सुनन्दा जीजी का रुख···?"

भाई ने बतलाया, न रुख करती हैं, "न रूबरू हो जाने पर रुख फेरती हैं। बोलने में खुद पहल नहीं करतीं। बोलने पर बड़े प्यार से बोलती हैं। फ़र्क़ उनमें सिर्फ़ यह आया है कि न रुक कर बोलती हैं, न रोककर बोलती हैं। भाईसाहब, मुझे ऐसा लगता है, जैसे वे अपने-आप में लीन रहती हैं।"

मैं रात-भर एक प्रकार से जागता ही रहा। बहुत सवेरे, मुंह अंधेरे उठा और जीजी के घर की ओर चला। लकड़ी वाला फाटक भिड़काया हुआ था। खोल कर भीतर गया। जीजी के मकान का प्रवेश द्वार भीतर से बन्द था। मुड़ा, तो देखा, फालसे का एक भी पेड़ नहीं रह गया है। सामने वाले तालाब में पानी लबालब भरा हुआ था। मेंढकों और झींगुरों का समवेत स्वर मौन वातावरण को बेध रहा था। फूलों के पौधे शायद पिछली भीषण बरसात में गल चुके थे। पश्चिम और उत्तर के कोने वाले बगीचे के पेड़ों की डालियां प्रातःकालीन हवा में हौले-हौले डोल रहीं थीं। मैं खड़ा-खड़ा सब कुछ देखता रहा। साहस न हुआ कि जीजी या चाचाजी को आवाज ऊंची कर दरवाज़ा खुलवाऊं। पार्लियामेण्ट में दहाड़ने वाला यह हितेन्द्र गूंगा क्यों हो गया था? यह हितेन्द्र यहां खड़ा होकर व्यक्तित्वहीन क्यों हो गया था?

तभी एक बदसूरतों में भी बदसूरत एक कुत्ता, जिसके शरीर के अनेकों स्थानों पर छोटे-मोटे घाव थे और जिनमें पीब-सा निकल रहा था, आया और एकदम ज़ोर-ज़ोर से मेरी ओर गर्दन ऊंची करके भौंकने लगा। कभी-कभी तो ऐसा लगता कि वह उछलकर मेरे पेट को ही नोच

डालेगा। मेरी स्थिति यह थी कि मैं न तो खड़ा रह सकता था और न भाग सकता था। कुत्ते के शरीर से असह्य दुर्गन्ध आ रही थी।

तभी एक झटके के साथ दीक्षित जी के मकान का प्रवेशद्वार खुला।

"हट, भाग। पहचानता नहीं, यह मेरा हितू भइया है?"

"जीजी, नमस्ते।"

"खुश रहो भइया! प्रधान मन्त्री बन जाओ, राष्ट्रपति बन जाओ।"

जीजी द्वारा व्यक्त ये शुभकामना-सूचक शब्द मेरे चारों ओर चिनगारी बन कर छिटकने लगे। जीजी मेरे क़रीब आ गईं। बोलीं, "हाय, तुम तो एकदम मुंह अंधेरे आए हो। चलो, भीतर चलो। तुम्हें गरम-गरम चाय पिलाऊं।"

मैंने कहा, "जीजी, इस बीच तुम्हारे पर जो कुछ बीती, सुनकर मैं बहुत दुखी हूं। ईश्वर कितना निर्दय है!"

"नहीं, न तो ईश्वर निर्दय है और न मनुष्य।" जीजी ने दृढ़ता के साथ कहा। मैंने बहुत धीमे स्वर में पूछा, "यह सब कब हुआ?"

वे बोलीं, "उसी दिन, जिस दिन तुमने मन्त्रिपद का शपथ ग्रहण किया।"

मैं जड़वत् खड़ा रहा। जीजी जैसे अपने पूरे अस्तित्व के साथ मुझे देख रही थीं और मैं नतनेत्र गलता जा रहा था। एकाएक आगे बढ़कर उन्होंने मेरे दोनों हाथ पकड़ कर अपनी अंजुली में कस लिए। कुत्ता मेरे पीछे खड़ा रहा।



१९८०-८१ के हमारे प्रकाशन

दूसरा सूरज	रामकुमार भ्रमर	12-00
महाबानो	डा० राजेन्द्र मोहन भटनागर	25-00
वज्राघात	हरिनारायण आप्टे	24-00
उषाकाल	हरिनारायण आप्टे	15-00
मानरक्षा	शकर वाम	30-00
एक अन्तहीन युद्ध	डा० राजेन्द्र मोहन भटनागर	30-00
कोकिला	रमणलाल बसन्तलाल देसाई	15-00
दुर्ग	विष्णु कुमार जोशीला	20-00
प्रात: की प्रतीक्षा	राम प्रकाश अनुरागी	16-00
विश्व विजय	राजकुमार 'अनिल'	22-00
छंटते बादल	सुरेन्द्र सलूजा	15-00
अभागिनी ममता	सुरेन्द्र सिंह जौहर	13-00
गोमती मंगल	ब्रजभूषण	18-00
सोना माटी	ब्रजभूषण	18-00
देसी और परदेसी	सूरजदेव प्रसाद श्रीवास्तव	18-00
मौलसिरी	सूरजदेव प्रसाद श्रीवास्तव	22-00
गहरी चोट	नरवीर साम्बा हिमवनी	12-00
तपन	विनोद त्यागी 'इन्द्र'	12-00
पहाड़ की रानी	नरवीर साम्बा हिमवनी	18-00
मंगलोदय	ब्रजभूषण	25-00
अनोखा सौदा	सूरजदेव प्रसाद श्रीवास्तव	20-00
भूल का शूल	ब्रजभूषण	18-00
अभिशाप	सूरजदेव प्रसाद श्रीवास्तव	16-00
देवलौना	राजेन्द्र [illegible]	16-00

फान के वाद	जगन्नाथ प्रभाकर	12-00
रे श्रेष्ठ रंगमंचीय हास्य एकांकी	स्वरूप कुमारी वक्शी	15-00
क और आवाज	सावित्री रांका	14-00
ालीदास के नाटक	डा० भगवतशरण उपाध्याय	25-00
नदेखे चेहरे	व्रजभूषण	10-00
वखरे फूल	सूरजदेव प्रसाद श्रीवास्तव	16-00
ुद्धि के विकास की कहानियां	धर्मपाल शास्त्री	20-00
ुद्धि चमत्कार की सत्य कथायें	धर्मपाल शास्त्री	15-00
ुद्धि चमत्कार की सत्य घटनाएं	धर्मपाल शास्त्री	15-00
चरित्र निर्माण क्या ? क्यों ? कैसे ?	धर्मपाल शास्त्री	16-00
चरित्र वल	धर्मपाल शास्त्री	10-00
एकता-निर्भयता और सदाचार	देवदत्त द्विवेदी	10-00
विद्यार्थी जीवन में उन्नति के उपाय	कृष्ण विकल	10-00
आदर्श विद्यार्थी वनो	सत्यव्रत शर्मा	10-00
सच्चे वच्चे कितने अच्छे	देवदत्त द्विवेदी	10-00
सच्चाई की करामात	आचार्य सत्यार्थी	10-00
पढ़ाई की करामात	धर्मपाल शास्त्री	8-00
हमारी राष्ट्रीय एकता	प्रो० ज्ञानचन्द	9-00
भारत की वीर विदुषी महिलाएं	आचार्या पद्मावती	24-00
मर्द मराठा	शंकर वाम	16-00
गढ़ आया सिंह गया	शंकर वाम	10-00
देशभक्त शहीदों की गाथाएं	श्री व्यथित हृदय	15-00
धर्मवीर शहीदों की गाथाएं	श्री व्यथित हृदय	12-00
देशभक्त वनें	सत्यव्रत शर्मा	10-00
वीर वालक वनें	ओमदत्त शर्मा	10-00
हमारे राष्ट्रीय गान	ओमदत्त शर्मा	8-00
भारतीय वीरांगनायें	राजकुमार 'अनिल'	10-00
राजस्थान की ऐतिहासिक गाथाएं	मदन सिंह देवड़ा	8-00
स्वामी विवेकानन्द	राजकुमार 'अनिल'	15-00